

॥ नमोऽत्युणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

मोक्ख-पुरिसत्थो

(मोक्ष-पुरुषार्थ)

भाग ३

लेखक एवं रचयिता

प्रवर्तक पं. रत्न कविद्यर्थ श्री सूर्यमुनिजी महाराज

के सुशिष्य

प्रवर्तक पं. रत्न गुरुदेव

श्री उमेशमुनिजी म. सा. 'अणु'

□ बोधि-ग्रन्थमाला-चतुर्थ मणि □

॥ वंदे आयरियं धम्मदासं मुणिदं ॥

मोक्ख-पुरिसत्थो

(मोक्ष-पुरुषार्थ)

भाग ३

लेखक एवं रचयिता

प्रवर्तक पूज्य गुरुदेव कविवर्य श्री सूर्यमुनिजी महाराज

के सुशिष्य

प्रवर्तक पं. रत्न श्री उमेशमुनिजी म. 'अणु'

प्रकाशक

पूज्य श्री नन्दाचार्य साहित्य समिति

मेघनगर, जिला झाबुआ (म. प्र.) पिन ४५७७७९

पुस्तक का नाम : मोक्ष-पुरिसत्थो माग ३

आशीर्वाद प्रदाता : गुरुभ्राता पं. पूज्य श्री रूपेन्द्रमुनिजी म. सा.

लेखक एवं रचयिता : प्रवर्तक पूज्य गुरुदेव श्री उमेशमुनिजी म. सा.

प्रेरक : श्री चैतन्यमुनिजी म. सा.

सेवा-सहयोगी : श्री प्रमोदमुनिजी म.,
श्री जिनेन्द्रमुनिजी म.

संस्करण : प्रथम— १००० प्रति
वीर नि. सं. २५१६, वि. सं. २०४७, सन् १९९०

स्मृति : परम पूज्य गुरुदेव प्रवर्तक श्री सूर्यमुनिजी म. सा.
की ८९ जन्म जयन्ति, ७९ दीक्षा जयन्ति

स्वल्प मूल्य : छः रुपये केवल

मुद्रक : नईदुनिया प्रिन्टरी,
बाबू लाभचंद छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९
फोन नं. ६१४००

प्रकाशकीय

मोक्षाभिलाषी भव्य आत्माओं को मोक्ष-मार्ग में स्थापित करने के लिये तत्त्ववेत्ता गुरुदेव पूज्य प्रवर्तक श्री उमेशमुनिजी महाराज सा., श्रुत-निधि की जो अमृत-रसधारा प्रवाहित कर रहे हैं, उसे मोक्ष-पुरिसत्थो (मोक्ष-पुरुषार्थ) के तृतीय भाग (बोधि-ग्रन्थमाला चतुर्थ मणि) के रूप में प्रबुद्ध पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम प्रमुदित हैं।

‘वेगा-वेगा मोक्ष में जाने के तेईस बोलों’ में से आठवें, नवें और दसवें बोल का विवेचन पुस्तक के भाग २ में किया जा चुका है। इस भाग में केवल ग्यारहवें बोल ‘कषाय’ के ही विषय में चिन्तनशील विशद् विवेचन, सम्यक्त्व की ओर यात्रा में बढ़ते हुए साधक के चरण, प्रमाद के एक घटक कषाय पर विजय दिलाते हुए, आगे बढ़ाने में सहायक होगा।

आत्मोन्नति के इच्छुक धर्मप्रेमी बन्धुओं के साथ हम भी, चातक पक्षी की भाँति, प्रवर्तकश्री की लेखनी से स्वाति नक्षत्र के मेघ की जलधारा के रूप में ज्ञान-रसधारा मोक्ष-पुरुषार्थ के चतुर्थ भाग के रूप में प्रवाहित होने की प्रतीक्षा में हैं।

श्रुतसेवा में संलग्न हमारे चरणों को बल प्रदान करनेवाले पूज्य गुरुदेव श्री रूपेन्द्रमुनिजी महाराज सा., पूज्य प्रवर्तकश्रीजी, श्रम के नायक पं. श्री चैतन्यमुनिजी म. तथा प्रमोद को उल्लसित करनेवाले पं. श्री प्रमोद-मुनिजी म. एवं पं. श्री जिनेन्द्रमुनिजी म. द्वारा हम उपकृत हैं।

समिति के सदस्यगण का अमूल्य सहयोग हमारा सम्बल है। प्रकाशन में द्रव्य-सहायता प्रदान करनेवाले धर्मप्रेमी महानुभावों के प्रति हम आभारी हैं।

प्रकाशन में रुचि एवं तत्परता के लिये नईदुनिया प्रिन्टरी के व्यवस्थापक श्री हीरालालजी झांझरी एवं उनके सहायक श्री महेन्द्रकुमारजी डांगी धन्यवाद के पात्र हैं।

आर. एम. रूनवाल

जी/९९, एम.आय.जी. कॉलोनी,

रविशंकर शुक्ल नगर

इन्दौर (म. प्र.)

१९ मई, १९९०

अध्यक्ष,

पूज्य श्री नन्दाचार्य साहित्य समिति

मेघनगर, जिला झाबुआ (म. प्र.)

अपनी बात

कर्मवाद एक सत्य है, तथ्य है, अध्यात्म-जगत् का। निरीश्वरवादी आस्तिक दर्शनों का तो प्रमुख आधार ही कर्मवाद है। किन्तु ईश्वरवादी दर्शनों ने भी किसी न किसी रूप में—परमेश्वर को पक्षपात से रहित दरसाने के लिये या नैतिकता के आधार के लिये—कर्मवाद को स्थान दिया है। निरीश्वरवादी जैनधर्म ने जगत् के वैविध्य को कर्मवाद के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। एक प्रश्न खड़ा होता है कि कर्म में विविधता क्यों है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा गया है कि जीव के कर्मबन्ध में हेतुओं की विविधता रहती है और हेतु की विविधता में भावों की विविधता-तरतमता कार्यरत रहती है।

जीवों में परस्पर तो भाव-वैभिन्न्य रहता ही है। किन्तु एक ही जीव में काल-भेद से भाव-भेद हो जाता है। इस भाव-वैभिन्न्य में कारण है—कषाय का उदय। आत्मा की कषाय से युक्त भाव-परिणति पूर्व-बद्ध कषाय-मोहनीय कर्म के उदय से होती है। वह उदय आत्मा में क्रोध आदि भाव प्रकट करता है। अतः कषाय अध्यात्मदोष कहा गया है और आत्मगत उस कषाय से शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। अतः उसे अध्यात्म-हेतु भी कहा गया है। इस कषाय-परिणति से ही भव-परम्परा चलती है।

कषाय के चारों भेद अति प्रसिद्ध हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। **मोक्ष-पुरिसत्थो** का तीसरा भाग इन्हीं के विषय में आलेखित है। ग्यारहवाँ बोल है—कषाय को पतली करके निर्मूल करे तो... इसी के विस्तार रूप में यह **कसायजओ** नामक बारहवाँ अध्ययन है, जिसमें चार परिच्छेद हैं; यथा—कषाय-स्वरूप, कषाय-कृशीकरण, कषाय-वशीकरण और कषाय-क्षयकरण। बोल के आधार से ही इन प्रकरणों का विभाजन हुआ है।

प्रथम परिच्छेद में मंगलाचरण के पश्चात् बोल के औचित्य का चिन्तन किया गया है। इसके पश्चात् कषाय की परिभाषा, उसके भेद, उसकी बन्ध-

हेतुता, उनकी राग-द्वेष में परिणति, उससे बन्ध-वैविध्य, कषायों के प्रभेद और उनके फल का वर्णन करते हुए, उनकी भ्रम-उत्पादकता के विषय में संकेत किया है। अन्त में उनसे सावधान रहने के विधान के साथ परिच्छेद पूर्ण हुआ है।

दूसरे परिच्छेद में साधक के कषाय में पराधीन हो जाने के कारण उन्हें वश में करने में हतोत्साह का और गुरु के द्वारा उत्साह और धैर्य के प्रदान करने के वर्णन के पश्चात् कषायों को दुर्बल करने के आठ उपायों के विषय में चिन्तन किया है। यथा—१. कषाय-स्वरूप का चिन्तन २. अपने आपमें उनके अस्तित्व का निरीक्षण, ३. कषाय के द्वारा होनेवाली हानि का, ४. उनकी हेयता का, ५. अनुपादेयता का, ६. अनात्मता का चिन्तन करके तथारूप भावना का निर्माण करना, ७. कषायों में हादिक और बौद्धिक पकड़ का अन्वेषण करके उनका निवारण करना और ८. उनमें निरानन्दता का अनुभव करना। यह परिच्छेद काफी विस्तृत हो गया है।

तीसरे परिच्छेद में कषायों के वशीकरण के नव उपाय वर्णित हैं। यथा—१. कषाय के परिणामों को—भावों को देखना, २. कषायों के निमित्तों में रहते हुए या दूर टलकर उन्हें उदय में नहीं आने देना और उदय को विफल कर देना, ३. इच्छाओं का त्याग करना, ४. अदीन रहना, ५. जिन-आज्ञा को याद रखना, ६. कषाय की हानि, जय आदि से संबन्धित उदाहरण, प्रसंग, कथा आदि याद रखना, ७. क्षमा आदि विरोधी भावों का अभ्यास करना, ८. गुरु-आज्ञा में हर्ष धारण करना और ९. कषायों के दुष्फल का चिन्तन करना।

चौथे परिच्छेद में कषाय-क्षय के सात उपाय वर्णित हैं। यथा—१. शम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. धर्मश्रद्धा, ५. प्रलोकना, ६. निंदा और ७. गर्हा। इसके बाद इनके जय की भावना उल्लिखित है।

क्षय के उपायों के अतिरिक्त अन्य विषय ज्यों का त्यों कहीं उपलब्ध होना संभव नहीं है। वस्तुतः यह सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं है। किन्तु सिद्धान्त को समझने और साधना को आत्मस्थ करने के लिये प्रस्तुत चिन्तन है, जिसमें जिन-प्रवचन का पारायण और अन्य ग्रन्थों का वाचन सहायक हुआ है—यह

(छः)

असंदिग्ध बात है। किन्तु चिन्तन के उद्गम-स्रोतों का उल्लेख करना संभव नहीं है क्योंकि पठन करने के पश्चात् जो संस्कार, स्मृति और अनुप्रेक्षा हुई उसी से ये विचार उद्भूत हैं। साथ ही अनुप्रेक्षा में प्राप्त स्वतंत्रता का भी कई स्थानों में उपयोग किया है। यह एक छद्मस्थ आत्मा का चिन्तन है। इसलिये इसमें अपूर्णता, स्खलना, भ्रान्ति आदि होना संभव है। अतः मेरा वह दुष्कृत निष्फल हो यह भावना करता हूँ। मेरे गुरुभ्राता पं. श्री रूपेन्द्रमुनिजी म. सा. की कृपा का ही यह सुफल है गुरुभ्राता का मैं बहुत ही आभारी हूँ। साथ ही उपकारियों के प्रति धन्यवादपूर्वक यह सत्कामना करता हूँ कि यह चिन्तन साधकों के लिये जिन-वचन से अविरुद्ध परिणत होकर साधना में अंगुलि-निर्देश का कार्य करे।

इस तृतीय भाग में ३१३ गाथाओं (पद्यों) का विवेचन हुआ है।

श्री धर्मदास कृष्ण-स्मृति जैन भवन,

३७, साउथ राजमोहल्ला, इन्दौर

२३-५-१९९०

उमेशमुनि 'अणु'

सुक्ति-सुधा

- (१) मोह, जीव का ही विकारी भाव है। अतः वह जीव में ही व्याप्त है।
- (२) भ्रम का कारण अज्ञान है और संसार में अज्ञान की कमी नहीं है। मोह के समान अज्ञान की कमी नहीं है। मोह के समान अज्ञान को भी अन्धकार के तुल्य बतलाया गया है।
- (३) अपने हृदय में उठी हुई शंका को तत्त्वज्ञानों के समक्ष न रखकर अपने मन में ही जमा रखना अनुचित है।

प्रवर्तक श्री उमेशमुनिजी म. 'अणु'

पूज्य श्री नन्दाचार्य साहित्य समिति, मेघनगर
जिला झाबुआ (म. प्र.)

सदस्यता सूची

प्रमुख संरक्षक

१. स्व. विद्वद्भर्य श्रीमान् नानालालजी रून्वाल, झाबुआ (म. प्र.)
द्वारा—श्रीमान् नरेन्द्रसिंहजी रून्वाल
२. श्रीमान् बाबुलालजी अमीचन्दजी करणावट, लीमड़ी,
जिला पंचमहाल (गुजरात) ३८९१८०
३. श्रीमान् धूलचन्दजी भागीरथजी भण्डारी, पेटलावद
जिला झाबुआ (म. प्र.) ४५७७७३
४. 'उद्योग विभूषण' श्रीमान् नेमनाथजी जैन,
३२-सेकण्ड 'सी', न्यू पलासिया, इन्दौर-४५२००१
५. श्रीमती सुगनदेवी गुलाबचन्दजी भण्डारी, एफ/१,
एच. आय. जी., रविशंकर शुक्ल नगर, इन्दौर-४५२००८

सम्माननीय संरक्षक

१. स्व. श्रीमान् खूबचन्दजी चम्पालालजी बुपक्या,
खाचरौद, जिला उज्जैन (म. प्र.)—श्री सोभागमलजी खूबचन्दजी
बुपक्या ४५६२२४
२. श्रीमान् शान्तिलालजी वेणीचन्दजी रून्वाल,
९, रून्वाल बाजार, झाबुआ (म. प्र.) ४५७६६१
३. श्रीमान् शान्तिलालजी बूरड़ की पुण्यस्मृति में उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई द्वारा, हस्ते—श्री कन्हैयालालजी जयन्तिलालजी
बूरड़, हनुमान बाजार, दाहोद, जि. पंचमहाल (गुज.)
४. श्रीमान् सुजानमलजी चम्पालालजी बुपक्या,
खाचरौद, जि. उज्जैन (म. प्र.) ४५६२२४
५. श्रीमान् ज्ञानचन्दजी खूबचन्दजी बुपक्या
खाचरौद, जि. उज्जैन (म. प्र.) ४५६२२४

(आठ)

६. श्रीमान् केशरीमलजी नेमीचन्दजी डाकोल्या,
बड़वाह, जिला खरगौन (म. प्र.) ४५१११५
७. श्रीमान् सौभाग्यमलजी सुरेन्द्रकुमारजी गादियाँ,
चाँदनी चौक, रतलाम (म. प्र.) ४५७००१

संरक्षक

१. श्रीमान् मिश्रीमलजी गुलाबचन्दजी बागरेचा, मेघनगर, जि.
झाबुआ (म. प्र.) ४५७७७९
२. श्रीमान् रतनलालजी माणकचन्दजी रूनवाल, इन्दौर-४५२००८
३. श्रीमान् रूपचन्दजी माणकचन्दजी रूनवाल, ६, रूनवाल बाजार,
झाबुआ (म. प्र.) ४५७६६१
४. श्रीमान् इन्दरमलजी राजमलजी मूणत, झाबुआ ४५७६६१
५. जैनभूषण श्रीमान् शिरोमणिचन्द्रजी जैन "सुविज्ञान", ९/१,
न्यू पलासिया, इन्दौर (म. प्र.)
६. श्रीमान् सोभागमलजी रखबचन्दजी बोकड़िया, छाथन, जिला धार
(म. प्र.) ४५४६६०
७. श्रीमान् कन्हैयालालजी मोतीचन्दजी बोकड़िया, छाथन, जिला धार
(म. प्र.) ४५४६६०
८. श्रीमान् जयन्तिलालजी फौजमलजी दूगड़, लीमड़ी, जिला पंचमहाल
(गुजरात)
९. स्व. श्रीमान् बाबुलालजी ऊँकारलालजी रूनवाल, रम्भापुर, जिला
झाबुआ—श्री नगीनलालजी रूनवाल
१०. श्रीमान् मास्टर छगनलालजी गेन्दालालजी मूणत, ट्रांसपोर्टर्स,
मेघनगर, जिला झाबुआ (म. प्र.)
११. स्व. श्रीमान् बाबुलालजी गुलाबचन्दजी सुराना, मेघनगर, जिला
झाबुआ (म. प्र.) —श्री प्रवीणचन्द्रजी सुराना
१२. श्रीमान् मोतीलालजी नानूरामजी नायटा, लीमड़ी, जि. पंचमहाल
(गुजरात)

(नौ)

१३. श्रीमान् शैलेन्द्रकुमारजी माणकचन्दजी रूनवाल, १३, धानमण्डी, धार (म. प्र.) ४५४००१
१४. श्रीमती कमलाबाई बाबुलालजी बरवेटा, झाबुआ
१५. श्री कृष्ण जैन सुकृत ट्रस्ट, द्वारा श्रीमान् राजमलजी छोगमलजी बाफना, गौतमपुरा, जिला इन्दौर-४५३२२०
१६. श्रीमान् शैतानमलजी मांगीलालजी चोपड़ा, खवासा, जिला झाबुआ-४५७७७०
१७. श्रीमान् नानालालजी राजमलजी बूरड़ (कतवारावाले), १३७ ए, शहर सराय, रतलाम (म. प्र.) ४५७००१
१८. श्रीमान् हीरालालजी लालचन्दजी श्रीमाल, लीमड़ी, जिला पंचमहाल (गुजरात)
१९. श्री बाबुलालजी चुन्नीलालजी बांटिया, लीमड़ी
२०. श्रीमान् समरथमलजी संघवी, संघवी बूक स्टाल, खजुरी बाजार, इन्दौर
२१. श्रीमान् सुजानमलजी सागरमलजी भण्डारी, १३/४, नार्थ राज-मोहल्ला, इन्दौर-४५२००२
२२. श्रीमान् सागरमलजी लूणचन्दजी वागरेचा, संजेली, जिला पंचमहाल (गुजरात) ३८९१७५
२३. श्रीमान् मिश्रीमलजी चंपालालजी गादिया, कुशलगढ़, जिला बांसवाड़ा (राजस्थान) ३२७८०१
२४. श्रीमान् गजराजसिंह बापूलालजी झामड़, ई/७, एच. आय. जी., रविशंकर शुक्ल नगर, इन्दौर-४५२००८
२५. श्रीमान् प्रेमचन्दजी दलीचन्दजी वागरेचा, संजेली, जिला पंचमहाल (गुजरात)
२६. श्रीमान् कान्तिलालजी उदेचन्दजी वागरेचा, संजेली (गुजरात)
२७. श्रीमान् बाबुलालजी गट्टूलालजी बाफना, द्वारा-मेसर्स अशोककुमार सुभाशचन्द्र जैन, ५६, पट्टाचौपाटी, धार (म. प्र.) ४५४००१

२८. श्रीमान् सरदारमलजी नवलखा १९, एरोडूम रोड, ४४, महावीर बाग, अग्रसेन नगर के पास, इन्दौर, दूरभाष ५३७१
२९. श्रीमान् माणकलालजी सोभागमलजी जैन (गोलेछा), सनावद, जिला खरगौन (म. प्र.) ४५११११
३०. श्री जुहारमलजी गुलाबचन्दजी स्मारक ट्रस्ट, मण्डलेश्वर, द्वारा— श्रीमान् सोभागमलजी जैन, मण्डलेश्वर, जिला खरगौन (म. प्र.)
३१. श्रीमान् यशवन्तरावजी जीवराजजी बोथरा, थांदला, जिला झाबुआ (म. प्र.) ४५७७७७
३२. श्रीमान् जोरावरमलजी नगीनलालजी नाहर, लीमखेड़ा, जिला पंचमहाल (गुजरात) ३८९१४०
३३. श्रीमान् श्रीमलजी खूबचन्दजी बुपक्या, खाचरौद, जिला उज्जैन (म. प्र.)
३४. श्रीमान् सागरमलजी दीपचन्दजी सियाल. नागदा, जिला धार (म. प्र.) ४५४००१
३५. श्रीमान् शान्तिलालजी अमीचन्दजी करणावट, लीमड़ी, जिला पंचमहाल (गुजरात)
३६. श्रीमान् रखबचन्दजी प्यारचन्दजी सोनी, मेघनगर, जिला झाबुआ (म. प्र.)
३७. श्रीमान् मांगीलालजी मोतीलालजी सोलंकी, पेटलावद, जिला झाबुआ (म. प्र.) ४५७७७३
३८. श्रीमान् मगनलालजी हीरालालजी रूनवाल, रूनवाल प्रिंटिंग प्रेस, चौमुखीपुल, रतलाम (म. प्र.)
३९. श्रीमान् कनकमलजी देवचन्दजी गादिथा, थांदला, जिला झाबुआ (म. प्र.) ४५७७७७
४०. श्रीमान् सुरेशचन्द्रजी मांगीलालजी सोलंकी (जामलीवाले) पेटलावद, जिला झाबुआ (म. प्र.)

(ग्यारह)

स्तम्भ

१. श्रीमान् कनकमलजी संघवी, संघवी प्रकाशन, गोरकुण्ड चौराहा, इन्दौर

आजीवन सदस्य

१. श्रीमान् बाबुलालजी मोतीलालजी भण्डारी, रायपुरिया, जिला झाबुआ (म. प्र.)
२. श्रीमान् राजमलजी मोतीलालजी भण्डारी, रायपुरिया
३. श्रीमान् प्रदीपकुमारजी रणजीतसिंहजी बाफना, मेघनगर, जिला झाबुआ
४. श्रीमान् धीरजमलजी किसनलालजी डोसी, कटारिया बिल्डिंग, लोकेन्द्र टांकीज के सामने, रतलाम
५. श्रीमान् नगीनलालजी म्याचन्दजी झामर, स्टेशन रोड, मेघनगर
६. श्रीमान् सुजानमलजी मिश्रीमलजी मूणत, जैन ब्रदर्स, १८५ चौमुखी पुल, रतलाम
७. श्रीमान् शान्तिलालजी नाथुलालजी मेहता, मेघनगर
८. श्रीमान् मिश्रीलालजी छगनलालजी खेमसरा, मेघनगर
९. श्रीमान् महेन्द्रकुमारजी सूरजमलजी पींचा, मेघनगर
१०. श्रीमती कमलामाताजी, ५, त्रिवेणी कॉलोनी, माणकबाग रोड, इन्दौर
११. श्रीमान् उमेशचन्द्रजी सौभाग्यमलजी पोरवाल, शुजालपुर, जिला शाजापुर (म. प्र.) ४६५३३१
१२. श्रीमान् राजमलजी केसरीमलजी कटकानी, झाबुआ
१३. श्रीमान् भेरूलालजी लूणाजी तलेसरा, कुशलगढ़ (राजस्थान)
१४. श्रीमान् धर्मचन्दजी चुन्नीलालजी मेहता, झाबुआ
१५. श्रीमान् सुरेशकुमारजी रतनलालजी धोका, मेघनगर
१६. श्रीमान् मगनलालजी गणपतसिंहजी पोरवाल, मेघनगर
१७. श्रीमती कंचनबाई झब्बालालजी दुगड़, लीमड़ी

(बारह)

१८. श्रीमान् मिश्रीलालजी अमोलकचन्दजी सिंगी, कोपरगांव, जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र) ४२३६०१
१९. श्रीमान् शान्तिलालजी किशनलालजी सिंगी, कोपरगांव (महा.)
२०. श्रीमती सूरजबाई मोतीलालजी चोरडिया, भड़गांव, जिला जलगांव (महाराष्ट्र)
२१. श्रीमान् शान्तिलालजी शिवलालजी बोरा, कोपरगांव (महाराष्ट्र)
२२. श्रीमान् भंवरलालजी राजमलजी मेहता, झाबुआ
२३. श्रीमान् अशोककुमारजी बाबुलालजी बरवेटा, झाबुआ
२४. श्रीमान् मदनलालजी वीरचन्दजी करणावट, लीमड़ी
२५. श्रीमान् बाबुलालजी बालचन्दजी श्रीमार, लीमड़ी
२६. श्रीमान् तेजकरनजी प्रेमचन्दजी छाजेड़, लीमड़ी
२७. स्व. श्रीमती सूरजबेन की पुण्यस्मृति में, द्वारा— श्रीमान् समरथ-मलजी नायटा, लीमड़ी
२८. श्रीमान् चांदमलजी पन्नालालजी करणावट, लीमड़ी
२९. श्रीमती वरदबेन मणीलालजी दुग्गड़, लीमड़ी
३०. स्व. श्रीमान् हीरालालजी गम्भीरचन्दजी गादिया की पुण्यस्मृति में द्वारा—श्रीमान् मनोहरलालजी, जयन्तिलालजी गादिया, कुशलगढ़ (राजस्थान) ३२७८०१
३१. श्रीमती चतरबाई केशरीमलजी नायटा, द्वारा—श्रीमान् माणक-लालजी नायटा, कुशलगढ़
३२. श्रीमान् राजेन्द्रकुमारजी गणेशलालजी चोपड़ा, कुशलगढ़
३३. श्रीमान् चांदमलजी चाणोदिया, पेटलावद (म. प्र.)
३४. श्रीमान् बाबुलालजी भंवरलालजी मेहता, (संजेलीवाले) कुशलगढ़
३५. श्रीमान् सागरमलजी तखतमलजी कटारिया, पेटलावद
३६. श्रीमान् सुशीलकुमारजी रामलालजी पोखरना, कोद, जिला धार (म. प्र.) ४५४६६९
३७. श्रीमान् शान्तिलालजी मोतीलालजी जवेरी, १३ महात्मा गांधी मार्ग, कृष्णपुरा (मेनरोड़), इन्दौर

(तेरह)

३८. श्रीमान् शान्तिबालजी केशरीमलजी बांठिया, ३/५, नार्थ राजमोहल्ला
इन्दौर
३९. श्रीमती मंजुलाबहन अनिलकुमारजी बोटादरा, १७/४, स्नेहलतागंज,
इन्दौर
४०. श्रीमान् कुसुमकान्तजी जैन, ७९, वल्लभनगर, इन्दौर
४१. श्रीमान् हस्तीमलजी ऊँकारलालजी झेलावत, रूपराज ड्रेसेस,
३७/११, मूलचंद मार्केट, राजबाड़ा, इन्दौर-४५२ ००४
४२. स्व. श्रीमान् चंपालालजी टाटिया की पुण्यस्मृति में टाटिया परिवार
द्वारा, हस्ते-श्रीमान् गौतमचन्दजी टाटिया, राजमोहल्ला, इन्दौर
४३. लीमड़ी निवासी एक धर्मप्रेमी भाई द्वारा गुप्त दान
४४. श्रीमान् घेवरचन्दजी राकेशकुमारजी जैन, १२२, गणेशगंज, खण्डवा
(म. प्र.)
४५. श्रीमान् दुलीचन्दजी जवेरीलालजी जैन, रामकृष्णगंज, खण्डवा,
जिला पूर्व निमाड़ (म. प्र.)
४६. श्रीमान् सागरमलजी ललितकुमारजी जैन, द्वारा—श्रीमान्
उमरावमलजी, ७५, जवाहर मार्ग, धार (म. प्र.)
४७. श्रीमान् अमरचन्दजी जोरावरसिंहजी झामर, झामर निवास, ८६,
राजस्व कॉलोनी, रतलाम ४५७००१
४८. श्रीमान् सुमितकुमारजी विनोदकुमारजी जैन, द्वारा—श्रीमान्
कंचनसिंहजी दीपचन्दजी सराफ, शुजालपुर, जिला शाजापुर (म. प्र.)
४९. श्रीमद् राजचन्द्र भक्त मण्डल, कोटा (राज.) द्वारा—श्रीमान्
चांदमलजी हुकमचन्दजी लोढ़ा, कोटा
५०. श्रीमान् सोभागमलजी संघवी की पुण्यस्मृति में उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती तेजकुंवरबाई संघवी, बदनावर, जिला धार (म. प्र.)
५१. श्रीमान् पारसमलजी प्रकाशचन्द्रजी कोठारी, ७३, बड़ा सराफा,
इन्दौर
५२. श्रीमान् सांवतमलजी देवेन्द्रकुमारजी धाकड़, ११, पलासिया,
आगरा-बम्बई, राजमार्ग, इन्दौर-४५२००१

(चौदह)

५३. श्रीमान् सौभाग्यमलजी संतोषकुमारजी जैन, ५३, भगवान् महावीर मार्ग, इन्दौर
५४. श्रीमान् जी. नेमीचन्दजी पोखरना, गौतम एजन्सीज, ७-१-८३५ बुरुगुचेटी बाजार, सुभाष रोड़, सिकन्दराबाद-५००००३
५५. श्रीमान् प्रसन्नचन्द्रजी धरमचन्दजी जैन, मण्डलेश्वर, जिला खरगौन (म. प्र.) ४५१२२१
५६. श्रीमान् अमोलकचन्दजी छाजेड़, करही, जिला खरगौन (म. प्र.) ४५१२२०
५७. श्रीमान् राजमलजी तिलोकचन्दजी छाजेड़, करही, जिला खरगौन (म. प्र.)
५८. श्रीमान् मिश्रीलालजी मांगीलालजी सुराना, करही, जिला खरगौन (म. प्र.)
५९. श्रीमान् जवाहरलालजी जैन, गली नं. १, मकान नम्बर १८, महेशनगर, इन्दौर
६०. श्रीमान् नन्दलालजी डोसी की पुण्यस्मृति में उनकी पत्नी श्रीमती कान्ताबहन द्वारा, हस्ते श्री शरदकुमारजी, कीर्तिकुमारजी, भरत-कुमारजी, हर्षकुमारजी डोसी, ८१, वल्लभनगर, इन्दौर
६१. श्रीमान् गेन्दालालजी जोरावरसिंहजी शामर, लीमड़ी, जिला पंचमहाल (गजरात)
६२. श्रीमती बसंताबाई धनराजजी मुणत, घोटी, जिला नासिक (महा.) ४२२४०२
६३. श्रीमान् भंवरलालजी मोतीलालजी भण्डारी, पेटलावद, जिला झाबुआ (म. प्र.)
६४. श्रीमती दाखाबाई सुजानमलजी कटकानी, पेटलावद, जि. झाबुआ (म. प्र.)
६५. श्री बाह्मी जैन बहु मण्डल, द्वारा—श्री वर्धमान श्वे. स्थानक-वासी जैन संघ, शुजालपुर (म. प्र.) ४६५३३१

(पन्द्रह)

६६. स्वर्गीय श्रीमती जयाबहन प्राणलालजी रूपाणी की पुण्यस्मृति में उनके पुत्रगण श्रीमान् हर्षदभाई, जितेन्द्रभाई, १६, ग्रीन पार्क कॉलोनी, इन्दौर
६७. श्रीमती रतनबाई मिश्रीलालजी सिंगी, कोपरगांव, जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र)
६८. कु. भारतीबहन मोहनलालजी डोशी, शान्ताक्रुज (प.) बम्बई-५४
६९. श्रीमान् लक्ष्मीचन्दजी किशनलालजी, बड़वाह, जिला खरगौन (म. प्र.)
७०. श्रीमान् डूंगरसिंहजी सेठिया, बड़वाह (म. प्र.) ४५१११५
७१. श्रीमान् शान्तिलालजी पंवार (मूथा) की धर्मपत्नी श्रीमती बालीबाई शान्तिलालजी, बड़वाह
७२. श्रीमती लीलाबाई कोठारी, बड़वाह, जिला खरगौन (म. प्र.)
७३. डॉ. श्रीमान् एस. सी. बाफना, बड़वाह (म. प्र.)
७४. श्रीमती जवरबाई जैन ट्रस्ट थांदला, द्वारा श्रीमान् कनकमलजी गादिया, थांदला, जिला झाबुआ (म. प्र.)

द्रव्य-सहायक उदार महानुभावों की सूची

- १०००) सुश्रावक, तत्त्वपिपासु श्री मिश्रीलालजी सिंगी की धर्मपत्नी कृष्णाशीला अ. सौ. रतनबाई, कोपरगांव (महाराष्ट्र)
- ५०१) धर्मप्रेमी श्री सुरेशचन्द्रजी नाहर की धर्मपत्नी अ. सौ. मनोरमाबहन, इन्दौर
- ३००) श्रीमती मिसरीबाई राजमलजी मेहता, कुशलगढ़ (राजस्थान)
- २५१) धर्मशीला कु. भारतीबहन मोहनलालजी डोशी, शान्ताक्रुज (पश्चिम), बम्बई-४०००५४

पहले सुधारें, फिर पढ़ें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
९	८	मात्र	मात्रा
९	१२	कर्म	अशुभकर्म
१०	१९	बन्ध	बन्ध-हेतु
११	२०	और भी	और है भी
२३	२	ही	है
२७	२	स्वतव	स्वत्व
३२	१९	मोहमार्ग	मोक्षमार्ग
५३	७	महत्वा शक्ति	महत्वासक्ति
७३	१८	उत्स सूत्र	उत्सूत्र
७७	८	शब्द के	शब्द के बाद के
७७	२०	मिथ्या सत्य	मिथ्या को सत्य
९४	३	सद्	सद्ध
९७	१०	भेद	प्रदेश
९९	१	परजन्म	पर-जन्य
११२	९	त्मक	त्मक-बोध
१४२	११	वैसे ही	वैसे ही माया के
१४१	८	माना	माया
१७२	२३	तेस्सि	तेसि
१७२	२	मल	मूल
१७८	२०	दुब्बल	दुब्बलो
२३०	१८	कसायस्य	कसायरस
२३६	५	धारण	धारण किया

॥ अहम् ॥

मोक्ष - पुरिसत्थो

बारसमं अज्झयणं-कसायजओ

११. (कषाय-जय)

कषाय को पतली करके निर्मूल करे—
तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ।

पढमो परिच्छेओ — कसाय सरूवं
(कषाय-स्वरूप)

मंगलाचरण और प्रार्थना

जय देव ! अकसाइ ! णच्चा सए पयंबुजे ।

कसायाण खयं वोच्छं, दिज्ज मे मइमं ! मइं ॥१॥

हे कषायों से मुक्त देव ! आप जीतो ! (मेरे द्वारा) स्मरण
किये गये (आपके) चरण-कमलों को नमस्कार करके, (मैं) कषायों
का क्षय (करने की जिन वचनों के अनुसार विधि) कहता हूँ । हे
मतिमान् ! मुझे (इसका वर्णन करने की) बुद्धि दीजिये ।

टिप्पण—१. कषाय का क्षय ही प्रमुख साधना है । अधिकांश
गुण-स्थानों का आविर्भाव कषाय-क्षय के तारतम्य से निष्पन्न होते हैं ।
अतः इससे सम्बन्धित बोल महत्त्वपूर्ण है । इसीलिये इस अध्ययन का

प्रारंभ करने से पूर्व पुनः मंगलाचरण किया है । २. कषाय-प्रवृत्ति मोक्षमार्ग से विपरीत प्रवृत्ति है । असत्य का प्रधान हेतु कषाय ही है । अतः उसके जय के लिये उससे मुक्त आत्मा का स्मरण ही बल-प्रदान कर सकता है । ३. जिसने कषायों को जीत लिया है, उसने जय पा ही ली है । तदपि यह अकषायी देव को 'आप जीतो' यह कहा गया है, इसका आशय यह है कि 'आपको स्मरण करनेवाले साधक के हृदय में ध्येय रूप से आप अवतीर्ण हों अर्थात् अकषायी आत्म-स्वरूप की छवि पूर्ण रूप से अंकित हो जाये' अथवा 'साधक का उपयोग अकषायभाव में ही रहे—फिसले नहीं ।' ४. मेरे स्मृति-पटल पर आप उभरें तो आपके चरण भी मेरी स्मृति में आयें ही । कषाय से मुक्त आत्मा कुछ ही क्षणों में सर्वज्ञ हो जाते हैं । अकषायी के चरण अर्थात् सर्वज्ञ के चरण को कमल की उपमा दी है । जैसे कमल की कर्णिका से अक्ष=कमलगट्टे उपलब्ध होते हैं, वैसे ही सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव के चरण-कमल की श्रद्धा से अक्ष=परमात्मतत्त्व उपलब्ध होता है । ५. सर्वज्ञ-चरण-कमल का दूसरा आशय यह हो सकता है कि प्रभु ने जिन उपायों को व्यवहार में उतारकर कषायों को जीता और सर्वज्ञता पायी उन उपायों का मृदु कोमल रूप । इसप्रकार चरण को कमल की उपमा देकर साध्यसाधन में कथञ्चित् अभेद दरसाया है । ६. 'स्मरण किये गये चरण-कमलों को नमस्कार' अर्थात् साध्य-साधन में उपयोग जमाकर आत्मवृत्ति को उस ओर ढालना । ७. आत्मवृत्ति को सर्वज्ञ चरण-कमलों में केन्द्रित करने से कषायों को क्षय करने की विधि का यथार्थ रूप से ज्ञान हो सकता है । परन्तु उसका वर्णन करने का बुद्धि-कौशल चाहिये । ऐसे बुद्धि-कौशल को देने की प्रार्थना की गयी है । ८. मतिमान का अर्थ 'मतिज्ञान के स्वामी' नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ हैं । शास्त्रों में भगवान महावीरदेव के लिये 'आसुपण्णे' 'माहणेण मईमया' आदि पदों का प्रयोग हुआ है । दूसरा आशय-मेरी स्मृति में—मति में पधारे हुए प्रभो ! ९. मतिमान् का अपने हृदय में स्मरण करने पर ही शुद्ध

मति की प्राप्ति होती है । १०. कषायों के क्षय का प्रकरण, मेरी स्मृति में प्रकट होकर आप ही कहें । मैं तो मात्र माध्यम हूँ ।

बोल के क्रम का हेतु—

मुमुक्षो वि तवस्सी वि, वैयावच्ची सुयागरो ।

न चएइ कसायं जो, न सो मोक्षपहे ठिओ ॥२॥

(जीव) मुमुक्षु भी है, तपस्वी भी है, श्रुताकर—श्रुत का निधि भी है और वैयावृत्य भी है । किन्तु जो कषाय का त्याग नहीं करता है, वह मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है ।

टिप्पण—१. इस गाथा में कषाय-त्याग का महत्त्व बतलाया गया है । २. जो मुमुक्षु अर्थात् मोक्षार्थी है, उग्र तपश्चरण भी करता है, श्रुत की वाचना भी लेता-देता है, वैयावृत्य आदि भी करता है; किन्तु कषाय को त्यागने की भावना नहीं रखता है, तो उसकी समस्त क्रियाएँ संवर-निर्जरा की हेतु न बनकर, बंध की ही हेतु बनती हैं । अतः वे क्रियाएँ मोक्षमार्ग नहीं हो पाती हैं । ३. शास्त्रों में कथन है कि जीवों ने अनन्त बार चरित्र की उत्कट क्रियाएँ कीं । परन्तु कषाय कभी विभाव रूप लगे ही नहीं । उन्हें त्यागने की श्रद्धा जागी ही नहीं । 'कोई निर्विकार शुद्ध चैतन्य हो सकता है'—ये भाव अन्तरङ्ग की गहराई में पड़े ही नहीं, तो फिर कषायों के त्यागने के भाव कैसे हो ? ४. कषायों और उनकी प्रवृत्ति को त्यागने के अभाव में—उन कषायों से छुटने की प्रवृत्ति और श्रद्धा के अभाव में मुमुक्षु आदि भाव निरर्थक ही हो जाते हैं । ५. यहाँ 'कषाय को न त्यागने' का आशय 'कषाय के भाव और प्रवृत्ति को न छोड़ना-छोड़ने का प्रयत्न ही नहीं करना' है । ६. श्रुत-अभ्यास आदि का क्रमभंग छंद की दृष्टि से हुआ है । ७. मुमुक्षा-मोक्ष की इच्छा आदि के साथ क्रमशः अन्य बोलों को भी समझ लेना चाहिये ।

वेयावच्चं कसाएणं, होई खलु निरत्थयं ।

तम्हा कसाय-चाओ उ, तप्पच्छा भद् ! ठाविओ ॥३॥

हे भद्र ! कषाय के द्वारा वैयावृत्य निश्चय ही निरर्थक हो जाती है । इसलिए ही तो उसके बाद 'कषाय-त्याग' (नामक इस बोल) का स्थापन किया गया है ।

टिप्पण—१. कोई साधक वैयावृत्य परम-उल्लास भाव से करते हैं । परन्तु सेव्य जनों पर जरा-जरा-सी बात पर क्रोध करते हैं । सेवा पर अभिमान करते हैं । ईर्ष्या, द्वेष आदि से परे नहीं हो पाते हैं । वक्र बोलते हैं । छल-लोभ भी बात-बत में आ जाता है । अतः उनकी वैयावृत्य निष्प्रभाव हो जाती है । २. वैयावृत्य में तो कषाय-त्याग की परम आवश्यकता है । लौकिक सेवाभावी चिकित्सक आदि रुग्णों की गालियाँ आदि हँसते हुए सहन करते हैं । फिर आत्म-कल्याण के इच्छुक को तो कितनी क्षमा, विनम्रता आदि रखनी चाहिये । ३. वैयावृत्य में कषाय त्याग या कषाय की मन्दता से 'सोने में सुगन्ध' की उक्ति चरितार्थ होती है । ४. 'भद्र' संबोधन कषाय की मन्दता और उसके क्षय का प्रेरक और सूचक है ।

कषाय की परिभाषा—

जेण संसरए जीवो, लोए भवे गुणे दुहे ।

संसार-भाव-लाहत्तो, सो कसाओत्ति वुच्चइ ॥४॥

जिस (भाव) से जीव लोक, भव, कामगुण और दुःख में संसरण-गमन करता है, संसारभाव का लाभ प्रदान करने के कारण उस भाव को कषाय कहते हैं ।

टिप्पण—१. लोक आदि में संसरण करना-यह 'संसार' शब्द का आशय है । परन्तु जिस भाव से संसार में परिभ्रमण होता है,

उस भाव को भी उसके पीछे समझना चाहिये । २. कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् लाभ । 'जिन भावों से संसार में परिभ्रमण रूप कर्मों का लाभ होता है'—उन भावों को कषाय कहते हैं । ३. लोक—जिस आकाश प्रदेश में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व है, वह आकाश-प्रदेश । एकेन्द्रिय रूप में जीव सारे लोक में जन्म-मरण करता है । एक प्रदेश भी जीव के द्वारा अस्पृष्ट नहीं रहता है । ४. भव = एक गति से दूसरी गति में जाना-एक जन्म से दूसरे जन्म को ग्रहण करना । जीव अनादिकाल से भव-भ्रमण कर रहा है । ५. गुण=शब्द आदि पाँच विषय । इन्द्रियाँ अनादि से इन विषयों को ग्रहण करती आ रही है । ६. दुःख=अशांता का वेदन । अनन्तकाल से जीव दुःख का वेदन कर रहा है । अशुभ कर्मों के उदय मात्र से होने वाली जीव की वेदना=अनुभूति दुःख है । ७. इन चारों के मूल में कषाय रहता है । क्योंकि लोक और भव में परिभ्रमण और दुःखों का वेदन पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से होता है और विषय-प्रवृत्ति तो साक्षात् मोह के कारण ही होती है । कर्मबन्ध का हेतु और मोह का मूल कषाय ही तो है । ८. 'कस' शब्द के अनेक अर्थ हैं । कुछ अर्थों का इस गाथा में संग्रह है ।

कषाय के भेद—

चेयण्ण-घायगाजे, कसाय-भावा जिणेहि णिद्धि ।

चत्तारि ते वि कोहो, माणो माया तहा लोहो ॥५॥

जिनेश्वरदेवों ने जिन कषायों को चैतन्य-घातक कहा है, वे (कषाय) चार हैं; यथा-क्रोध, मान, माया और लोभ ।

टिप्पण—१. मूलतः कषाय की समस्त अवस्थाएँ आवेशात्मक होती हैं । अतः वे चेतना की घात करते हैं । २. 'जिणेहि' इस बहुवचन शब्द से तीनों काल के तीर्थंकरों का संग्रह होता है अर्थात् कषाय

‘चैतन्य-घातक है’—यह त्रैकालिक सत्य है । क्योंकि तीनों काल में ‘जिन’ कषायों के क्षय करने से ही होते हैं अर्थात् विशुद्ध चैतन्य कषायों के अभाव से ही होता है । अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि तीनों काल में सचमुच ही कषाय चेतना को मूर्छित करनेवाला है—चैतन्य भावों का घातक है । ३. कषाय की दो अवस्थाएँ—बद्ध और उदय रूप । कषाय बद्धकर्म के रूप में आत्म-प्रदेशों से जुड़े रहते हैं । तब उनका जोर चेतना पर नहीं होता है । परन्तु जब वे बद्धकर्म उदय में आते हैं, तब चेतना उनसे अनुरंजित हो जाती है । वे ही कषाय-भाव हैं । ४. जीव कषायभाव का मात्र भोक्ता ही नहीं होता है, कर्ता भी होता है । अतः वह पुनः कर्म-बंध का हेतु बनता है । क्योंकि उससे आत्मा में विकृति होती है और आत्मभान विलीन हो जाता है । ५. वह कषायभाव चार प्रकार का होता है—(अ) क्रोध=आक्रोश, उफान, विक्षोभ, असहिष्णुता आदि रूप भाव, (आ) मान=तनाव, उच्चता, नीचता, हीनता, दीनता आदि रूपभाव, (इ) माया=दुराव-छिपाव, दिखावट-बनावट, छल-कपट, वक्रता आदि रूप भाव और (ई) लोभ=लालसा, लिप्सा, इच्छा, चाह, कामना, अभिलाषा आदि रूपभाव । ६. ‘ते वि’ में वि शब्द से यह सूचित होता है कि भाव रूप (उदय) में भी कर्म रूप (बंध) में भी कषाय चार-चार प्रकार का है । कषाय बन्ध का हेतु है—

बंधस्स पंच हेऊति, मिच्छत्ताविरई तहा ।

पमाओ य कसाओ य, जोगा दो पच्छिमा मुहा ॥६॥

(कर्म-)बन्ध के पाँच हेतु हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । (इन पाँचों में) पिछले दो अर्थात् कषाय और योग—मुख्य (बंध-हेतु) हैं ।

टिप्पण—१. मिथ्यात्व=मिथ्या श्रद्धा । अविरति=पाप-प्रवाह को नहीं रोकना । प्रमाद=विषय आदि में प्रवृत्ति, असावधानी,

उपयोग-शून्यता । कषाय=आवेशात्मक भाव और योग=मन आदि की क्रिया । २. 'तहा' शब्द का अर्थ है 'उसी प्रकार' अर्थात् प्रमाद और कषाय विरति=अविरति के नियंत्रण को तोड़ देते हैं अथवा योग को अशुभ बना देते हैं । ३. मिथ्यात्व कषाय में और अविरति और प्रमाद योग में गभित हो जाते हैं । इसप्रकार प्रमुख बन्ध हेतु ये दो ही शेष रहते हैं—कषाय और योग ।

वीयकसाय-जोगीणं, बंधो अबंधगो हि य ।

तम्हा कम्माण बंधस्स, कसाओ मेत्त हेउ ति ॥७॥

और कषाय से रहित योग-प्रवृत्तिवालों का बन्ध निश्चय ही अबन्धक=बन्ध नहीं करनेवाला है । इस कारण कर्मों के बन्ध का हेतु एक मात्र कषाय ही है ।

टिप्पण—१. केवल योगों से कर्मों का मात्र ग्रहण ही होता है अर्थात् जब जीव के कषाय से रहित परिणाम (वीतरागत्व) होते हैं, तब द्विसमय की स्थितिवाले एक मात्र शातावेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है और वह बन्ध आत्मा पर किञ्चित मात्र भी प्रभाव नहीं दिखाता है । इसलिये वह अबंधरूप ही है । २. 'जोगीणं' बहुवचन से त्रैकालिक वीतरागों को ग्रहण कर लेना चाहिये अर्थात् तीनों काल में किसी भी वीतराग के दो समय से अधिक स्थितिवाले कर्म का बन्ध नहीं होता, चाहे वे उपशान्त कषायी हो, चाहे क्षीणकषायी । ३. 'कम्माणं' के बहुवचन से यह आशय है कि अधिकांश कर्म-प्रकृतियों का बन्ध कषायोदय में ही होता है । सकषायी जीव के तीन बन्ध स्थान हैं—छह कर्मों (=आयुष्य और मोहनीय के सिवाय) का बन्ध, सात कर्मों का (आयुष्य को छोड़कर) बंध और आठों कर्मों का बंध ।

कसाया जाव बंधो उ, तावेव संपराइओ ।

तावेव विडंबणाचेव, अप्पा भमेइ अप्पणा ॥८॥

जब तक कषाय हैं, तभी तक साम्परायिक बन्ध है और तभी तक विडम्बना है । (इसप्रकार) आत्मा अपने (भावों) से ही भ्रमण कर रहा है ।

टिप्पण—१. आठ आत्मा में दो आत्माओं-योग और कषाय से जीव संसार में गोते खा रहा है । यों वीर्य-आत्मा भी इनमें सहायक बन जाता है । परन्तु जब आत्मा योग-परिणति से युक्त होता है, तब वह कर्मों को ग्रहण करता है और कषाय से कर्मों का विशेष बन्ध होता है । २. योग से प्रकृतिबन्ध = कर्मों के स्वभाव का विभाजन और प्रदेशबन्ध = कर्मों के दिलों का आत्मा के साथ जोड़ होता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध = कर्मों का आत्मा के साथ लगे रहने का काल-निर्धारण और अनुभागबन्ध = फल प्रदान करने की शक्ति का संचय होता है । ३. कषायों के अस्तित्व में ही साम्परायिकबन्ध = आत्मा पर असर दिखानेवाले कर्मदलिकों का सञ्चय होता है अर्थात् योग के कषाय से अनुरञ्जित होने पर ही विविध स्वभाववाले कर्मों का बन्ध (= प्रकृतिबन्ध) समुदाय रूप से प्रभाव दिखाने की शक्ति से युक्त (= साम्परायिकबन्ध) होता है । किन्तु एक मात्र योग से ऐर्यापथिकबन्ध (= असर नहीं दिखानेवाले कर्मों का मात्र स्पर्श) ही होता है । ४. साम्परायिक बन्ध के कारण ही जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है । कभी आत्मा की विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न अहमिन्द्रादि बन जाता है तो कभी स्वतंत्र शरीर से भी रहित अनन्त-काय बन जाता है । इसप्रकार जीव विडंबित होता है । ५. कषाय के मलिन भाव चेतना के मलिन अंश है । अतः आत्मा अपने भावों से ही भवभ्रमण करता है ।

कषाय की द्विरूपता—

सुहो मंदो कसाओत्ति, तिब्बो य असुहो सया ।

उभओ चेव जोएन्ति, जीवम्मि कम्म-पोगले ॥९॥

मंद कषाय सदा शुभ (भाव) है और तीव्र कषाय अशुभ (भाव) दोनों ही (कषाय) जीव में कर्म-पुद्गलों को जोड़ते हैं अर्थात् शुभ और अशुभ कर्म का बन्ध करते हैं ।

टिप्पण—१. शुभभाव और अशुभभाव लहर रूप में आते-जाते रहते हैं । कषाय मात्र की दृष्टि से दो भागों में विभाजित हो जाता है—मंद और तीव्र । मंद कषाय शुभ भाव रूप और तीव्र कषाय अशुभ भाव रूप होता है । २. साम्प्रायिक बन्ध में दोनों प्रकार के भाव हेतु रूप बनते हैं । शुभ भाव शुभकर्म का और अशुभ भाव कर्म का हेतु होता है । इसप्रकार कषाय की ये दोनों ही अवस्थाएँ जीव के लिये कर्म-बन्ध के हेतु रूप ही बनती हैं । ३. कषाय परिणति आत्मा में ही होती है । अतः उसके निमित्त से तथा रूप कर्म आत्म-प्रदेशों में संलग्न हो जाते हैं । ४. 'सया' शब्द से यह सूचित किया है कि तीव्र कषाय कभी भी शुभ भाव और मंद कषाय कभी भी अशुभ भाव नहीं होता । फिर भी कषाय अपने आप में अशुभ ही होता है । अतः सकषायदशा में कभी भी एकान्त शुभ रूप से कर्म-बन्ध नहीं होता । ५. कषाय तीव्र हो या मंद, कषाय ही है । अतः वह बन्ध का हेतु है ही । ६. इस गाथा में मंद कषाय को शुभ कर्म का बन्ध हेतु बताकर बन्ध हेतु की एक रूपता का पक्ष दृढ़ किया है । कषाय की तरतमता से बन्ध में वैचित्र्य आता है । ७. 'शुभ कर्म का बन्ध हेतु कषाय कैसे हो सकता है?'—इस शंका का समाधान यह है कि कषाय शुभ कर्म का बन्ध हेतु नहीं है, किन्तु उसका मन्दत्व शुभ है । इसलिये योग की शुभता का हनन नहीं कर पाता है, प्रत्युत उससे होनेवाले बन्ध को कुछ स्थायी बना देता है । जैसे दीपक में लौ की ग्राहिका तो वर्तिका ही होती है । किन्तु तैल

की स्निग्धता उससे जुड़कर लौ (ज्योति) को स्थायित्व प्रदान करती है । वैसे ही शुभ कर्म का ग्राहक तो योग ही होता है, किन्तु उसे विशेष स्थिति प्रदान करनेवाली कषाय की मन्दता होती है । जैसे तैल से दीपक जलता है—यह कहना सत्य है, वैसे ही मन्द कषाय से शुभ कर्म का बन्ध होता है—यह कथन भी सत्य है ।

कषाय की राग-द्वेष रूप परिणति और कर्म-प्रकृतियों का बन्ध—

कोहो माणो य दोसुत्ति, रागुत्ति नूम-लोहओ ।

तेहिं दोहिं तु बंधो हि, अट्ठहा ते वि णेगहा ॥१०॥

क्रोध और मान (मिलकर) द्वेष (रूप में परिणत होते) हैं और माया और लोभ से उत्पन्न हुआ राग है । उन दोनों बन्ध-हेतुओं से ही तो आठ प्रकार (के कर्मों) का बन्ध होता है और (प्रत्येक) कर्म भी अनेक प्रकार के होते हैं ।

टिप्पण—१. आगमों में क्रोध और मान को द्वेष रूप तथा माया और लोभ को राग रूप माना है । द्वेष में दोनों ही भाव प्रतीत होते हैं—किञ्चित् जलन रूप क्रोध और द्वेष किये जानेवाले के प्रति तुच्छता के बोध रूप मान । राग में भी दिखावा-प्रदर्शन रूप माया और चाह रूप लोभ मिश्रित लगते हैं । २. रोचक भाव रूप राग और अरोचक भाव रूप द्वेष होता है । श्री जिनेश्वरदेव ने राग और द्वेष को आठों कर्मों का बन्ध कहा है । आठों कर्मों के भेद-प्रभेद अनेक हैं ।

आठ मूल प्रकृतियों का बन्ध—

णाण-दंसण-छायण-वेय-मोहाउ-हेउणं ।

नाम-गोया विग्घस्स, बंधोऽट्ठ-पयडोण इ ॥११॥

ज्ञान-दर्शन के आच्छादक=आवरण करनेवाले, वेदन=सुख-दुःख के अनुभव, मोह और आयु के हेतु रूप, नाम, गोत्र और

अन्तराय के हेतु रूप (कर्मों का) बन्ध-यह आठ (मूल) प्रकृतियों का बन्ध है ।

टिप्पण—१. जीव के विशेष बोध को ज्ञान और सामान्य बोध को दर्शन कहते हैं । इन गुणों के आवरण करनेवाले कर्म को क्रमशः ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं । २. वेदना=सुख-दुःख की अनुभूति, मोह=विकृति में रमणता और आयु=भव के अनुभव में हेतु रूप कर्मों को क्रमशः वेदनीय, मोहनीय और आयुष्य कर्म कहा गया है । ३. नाम=जीव की गति, जाति, आकृति आदि में हेतु रूप, गोत्र : पूजनीयता-अपूजनीयता में हेतु रूप और विघ्न-अन्तराय=शक्ति आदि में बाधक रूप कर्मों को क्रमशः नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म कहते हैं । ४. इन आठ कर्मों को मूल प्रकृति और इनके प्रभेदों को उत्तर प्रकृति कहते हैं । ५. आठ प्रकृतियों के प्रमुख रूप से दो विभाग हैं—घाती और अघाती । घाती प्रकृतियाँ जीव के मूल गुणों की घात करती हैं । वे हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय । अघाती प्रकृतियाँ जीव के गुणों की घात नहीं करती हैं; किन्तु उसे भव में रोककर रखती हैं । इसलिये उन्हें भवोपग्राही कर्म भी कहते हैं । वे हैं—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र । ६. इस गाथा में इन कर्म-प्रकृतियों के दो, तीन, दो और एक ऐसे दलों में विभाजित किया है । क्या इसके पीछे कुछ हेतु हैं ? —नहीं भी है और भी । केवल वर्णन सुविधा की दृष्टि से ये विभाग हैं—इस दृष्टि से कोई हेतु नहीं है । किन्तु वर्णन की सुविधा की दृष्टि से नाम गोयंतरायाणं—यह पद भी रखा जा सकता था, यह पद न रखकर 'नामगोयाण विग्घस्स' यह पद रखा है, इसलिये इस विभाजीकरण में कुछ हेतु हैं । यथा—पहले के दो कर्म आवरण रूप हैं, जिसका उदय होने पर ज्ञानगुण और दर्शनगुण आच्छादित हो जाते हैं, जो कि जीव के असाधारण गुण हैं । दूसरे दल के तीन कर्म अनुभव रूप में उदय में आते हैं । वेदनीय कर्म के उदय

से सुख-दुःख का अनुभव होता है । मोहनीय कर्म के उदय से जीव विकारों का अनुभव करता है और आयुष्य कर्म के उदय से जीवन का अनुभव करता है । तीसरे दल के दो कर्म जीव के पौद्गलिक-व्यवहार में प्रायः हेतु रूप बनते हैं । नाम कर्म के उदय से गति, जाति, तद्-योग्य शरीर, यश-अपयश, सुरूप-कुरूपता आदि प्राप्ति होती है और गोत्र कर्म के उदय से पूजनीयता-अपूजनीयता की स्थिति बनती है । चौथे दल में मात्र अन्तराय कर्म ही है । यह ऐसा कर्म है कि जो सभी कर्मों में अंश रूप से व्याप्त हो सकता है । क्योंकि इसके उदय से दान आदि पाँच लब्धियों की घात होती है । उनमें 'वीर्य' पाँचवीं लब्धि है । वीर्य की तरतमता कर्मों की अल्पाधिकता में हेतु रूप बनती है । सामान्य रूप से सभी कर्म अन्तराय रूप में ही हैं । ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध सुख, सम्यक्त्व, अमरत्व, अमूर्तत्व और अगुरुलघुत्व के बाधक क्रमशः सात कर्म हैं ही । अतः अन्तराय कर्म क्षय होने के पहले सर्व कर्मव्यापी-सा है ।

उत्तर प्रकृतियाँ—

पंच-णव-दु-छब्बीस-चउ-सड्डि-भेयओ ।

दु-पंच इइ एएंसि, उत्तराणं च बंधओ ॥१२॥

और इन (आठ कर्म प्रकृति) का क्रमशः पाँच, नव, दो छब्बीस, चार, सड़सठ, दो और पाँच भेद से उत्तर प्रकृतियों का बंध होता है ।

टिप्पण—१. इस गाथा में आठ कर्मों के प्रभेदों का क्रमशः उल्लेख किया है । ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है यथा—

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्याय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद । यथा—

चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण, (पाँच-निद्रा—) निद्रा निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि ।

वेदनीय कर्म के दो भेद । यथा—

शातावेदनीय और अशातावेदनीय ।

मोहनीयकर्म के छब्बीस भेद । यथा—

(दर्शन की एक) मिथ्यात्व मोहनीय, (सोलहकषाय—) अनन्तानु-बन्धी क्रोधादि चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चतुष्क, प्रत्याख्याना-वरणक्रोधादि चतुष्क, संज्वलनचतुष्क (नोकषाय) हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।

आयुष्य कर्म के चार भेद—

नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ।

नाम कर्म की सड़सठ प्रकृतियाँ—

(गतिनाम—) नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ।

(जाति नाम—) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

(शरीर नाम—) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण,

(अंगोपाङ्ग नाम—) अंगनाम, उपाङ्गनाम, अङ्गोपाङ्गनाम ।

(संहतन नाम—) वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलक और सेवार्त ।

(संस्थाननाम—) समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडक ।

(वर्ण चतुष्क—) वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम और स्पर्शनाम ।

(आनुपूर्वी नाम—) नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

(विहायोगति नाम—) शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति ।

(प्रत्येक अष्टक—) पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु,

तीर्थकर, निर्माण और उपघात ॥

(त्रस दशक—) त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशोनाम ।

(स्थावर दशक—) स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, अस्थिरनाम, अशुभनाम, दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम, अयशोनाम ।

गोत्र कर्म के दो भेद । यथा—उच्चगोत्र और नीचगोत्र अन्तरायकर्म के पाँच भेद । यथा—

१. दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय । २. ये बन्ध के योग्य १२० उत्तर प्रकृतियाँ हैं । उदय में ये १२२ हो जाती हैं । क्योंकि परिणाम विशेष से मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति तीन भागों में विभक्त हो जाती हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय । सत्ता में १४८ या १५८ हो जाती हैं । क्योंकि नाम कर्म की प्रकृतियों में वृद्धि हो जाती है । वर्णादि की सोलह और बन्धन-संघातन की पाँच-पाँच बढ़ने पर १४८ और बन्धन की ५ के स्थान पर पन्दरह गिनने पर १५८ प्रकृतियाँ हो जाती हैं । इन विषय में प्रथम कर्मग्रन्थ आदि दृष्टव्य हैं । ३. इन मल-उत्तर कर्म प्रकृतियों के उल्लेख का यह आशय है कि कषाय के बन्ध हेतु के रूप में विविध प्रकार के स्वरूप का चिन्तन किया जा सके । एक ही कषाय तरतमता कितने विविधि फलों का उत्पादक बन जाता है । इसी बात को अगली गाथा में इस प्रकार कहा है—

एवंविहो कसाओ हि, नाणा-भावेसुवट्टए ।

अकसाओ अबन्धो व, तम्मुत्तो चेव मुक्तओ ॥१३॥

इसप्रकार (बहुरूपिया) होकर कषाय ही नाना प्रकार भावों में प्रवर्तमान होता है । अकषायी (कर्म का) अबन्धक सदृश ही होता है । इसलिये कषायों से मुक्त ही मुक्त है ।

टिप्पण—१. जीवों के असंख्य प्रकार हैं और जीवों की स्थितियाँ भी असंख्य प्रकार की हैं। उन सबका कारण है कषाय। अतः कषाय बहुरूपी होगा ही। २. जैसा बीज वैसा फल होता है। असंख्य प्रकार के फलों को उत्पन्न करनेवाले असंख्य प्रकार के बीज होते हैं। वैसे ही संसारी जीवों की समस्त अवस्थाएँ कर्म के अनुसार घटित होती हैं। और कर्मों का संग्रह कषाय के निमित्त से होता है। तथा रूप कर्मों को आकर्षित करनेवाला तथारूप कषाय ही होता है। अतः कषाय के असंख्य स्तर बन जाते हैं। ३. कषाय से चेतना विकारी होती है और विकारी चेतना के विविध रूप ही संसार हैं। कषाय का अभाव होते ही चेतना निर्विकार हो जाती है। अतः संसार का भी अभाव हो जाता है। मात्र अवशिष्ट आयुष्य के अनुरूप वेदनीयादि तीन कर्मों का भोग शेष रहता है। अतः अकषायी जीव मुक्तवत् ही हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—**कषायमुक्तिः क्लिप्तमुक्तिरेव** ४. कषाय के असंख्य स्तरों को गिनाना संभव नहीं है। वे मात्र अनुमान से जाने जाते हैं।

कषायों के प्रकार—प्रभेद

कसाओ खलु इक्किक्को, चउविहो य होइ ता ।

चउ-चउक्कयाइंति, सो सोलसविहो तहा ॥१४॥

एक-एक कषाय चार प्रकार का हो जाता है। इस कारण (समान स्तर की अपेक्षा से) चार चतुष्क हो जाते हैं और वह इस प्रकार सोलह प्रकार का हो जाता है। (उसी प्रकार—इनके साथ ही नोकषाय के नव भेद भी समझ लेने चाहिये।)

टिप्पण—१. कषायों के विभिन्न स्तरों को चार प्रकारों में विभाजित कर दिया है अर्थात् प्रत्येक कषाय के चार प्रकार होते हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानवरण और संज्वलन।

इन्हें क्रमशः तीव्र, मंद, मन्दतर मन्दतम और व्युत्क्रम से मन्द, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम कहा जा सकता है। २. चारों कषायों के समान स्तर का चतुष्क बन जाता है। जैसे अनन्तानुबन्धीचतुष्क अर्थात् अनन्तानुबन्धीक्रोध, अनन्तानुबन्धीमान, अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ। इसी प्रकार शेष तीन चतुष्कों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। ३. अनन्तानुबन्धी अर्थात् कर्मबन्ध की परम्परा को अनन्त तक पहुँचाने की योग्यतावाले कषाय। अप्रत्याख्यान अर्थात् कर्म-बन्ध या सावद्ययोग के अनवरोधक कषाय। प्रत्याख्यानवरण अर्थात् निरवद्ययोग को पूर्णतः घटित न होने देनेवाले कषाय और संज्वलन अर्थात् चिनगारी जैसा कषाय, जो कि आत्म-सामर्थ्य से अल्प समय में क्षीण हो सकता है, किन्तु आत्मनियन्त्रण के अभाव में अनन्तानुबन्धी रूप महाज्वाला को प्रकट कर सकता है। ४. कषाय के ये चार प्रकार आत्म-विकास के तारतम्य दरसाने के लिये, किये गये हैं, मात्र संसार-अवस्था का विश्लेषण करने के लिये नहीं। किन्तु इनके माध्यम से संसार की अन्तरङ्ग परिणति को काफी अंशों में समझा जा सकता है। ५. इस प्रकार चार चतुष्कों के हिसाब से कषाय के सोलह प्रकार हो जाते हैं। चतुष्क के चारों कषायों का एक साथ उदय नहीं होता है। क्रोध मानादि में से किसी एक का उदय रहता है। अतः कषाय के सोलह प्रभेद सिद्ध हो जाते हैं। ६. नोकषाय भी किञ्चित् कषाय रूप ही है और कषाय के अस्तित्व में ही फलता है—फूलता है। इसलिये प्रसंगवशात् 'तहा' शब्द से उसे भी समझने की दृष्टि से ग्रहण कर लेना चाहिये। इसके दो विभाग हैं—हास्यादि और वेद। प्रथम विभाग के छह प्रकार—हास्य, रति = असंयम में आनन्द, अरति = संयम में उकताहट, भय, शोक और जुगुप्सा = घृणा। द्वितीय विभाग के तीन भेद—स्त्रीवेद = स्त्रीत्व सम्बन्धी विकार, पुरुषवेद = पुरुषत्व सम्बन्धी विकार और नपुंसकवेद = नपुंसकत्व संबन्धी विकार। ७. वस्तुतः इनका विषय कषायों से किञ्चित् भिन्न ही हैं। इसलिये इस

अध्ययन में मात्र कषायों से संबन्धित वर्णन है, नोकषायों का नहीं ।

कषाय-चतुष्कों के सामान्य-विशेष कार्य—

मिच्छत्तस्स घरो अज्जं, बीआ विरइ-कारगं ।

तईअं संजमोरोहो, चउथं विरई-मलो ॥१५॥

आद्य चतुष्क—अनन्तानुबन्धीचतुष्क मिथ्यात्व का घर है । द्वितीय चतुष्क—अप्रत्याख्यानीचतुष्क अविरति का कर्ता है । तृतीय चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण चतुष्क संयम का अवरोधक है और चतुर्थ चतुष्क—संज्वलन चतुष्क विरति का मल अर्थात् चरित्र को मलिन करने वाला है ।

टिप्पण—१. जब तक अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय होता है, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है । यदि सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद उसका उदय हो जाता है तो छह आवलिक जितने समय से अधिक सम्यक्त्व का अस्तित्व नहीं रहता है (एक आवलिका एक सेकेण्ड के कई हजारवें भाग से कुछ न्यून होती है ।) अतः वह मिथ्यात्व का घर है । २. जैसे घर में रहनेवाला गिरे हुए घर को बाँध सकता है । वैसे ही मिथ्यात्व विसंयोजित अनुबन्धी चतुष्क पुनः बाँध सकता है । ३. दूसरा अप्रत्याख्यानी जबतक उदय में रहता है, तबतक अविरति—पाप की निरन्तरता का—सावद्ययोग का तार नहीं टूटता है । जीव के परिणामों में जिनत्व लक्ष्य की सिद्धि के लिये अंश मात्रभी व्रत का आविर्भाव नहीं होता । ४. तृतीय चतुष्क प्रत्याख्यानावरण अर्थात् निरवद्ययोग अथवा सावद्ययोग के त्याग रूप महाव्रतों का अवरोधक है । उसके उदय से महाव्रतों की क्रिया करते हुए भी लक्ष्य-सिद्धि रूप विरति के परिणाम नहीं आते । ५. चतुर्थ चतुष्क संज्वलन विरति के परिणाम को दूषित करता है । क्योंकि चरित्र के अतिचारों का उद्भव-हेतु संज्वलन है और इससे यथाख्यात चरित्र का भी अवरोध होता है ।

पढमस्स फलं तत्तं, तण्णं च अरोयए य गणइ लहुं ।

वक्कं वट्टइ न करइ, समप्पणं किंचि पावमई ॥१६॥

अनन्तानुबन्धी—प्रथम चतुष्क का यह फल है कि तत्त्व और तत्त्वज्ञ के प्रति अरुचि रहती है । उन्हें लघु-तुच्छ मानता है । उनके प्रति वक्र व्यवहार करता है और किंचिन्मात्र समर्पण नहीं करता है ।

टिप्पण—१. इस गाथा में अनन्तानुबन्धी चतुष्क के चारों कषायों के कार्य अलग-अलग बताये हैं । २. तत्त्व अर्थात् मोक्ष-मार्ग में उपयोगी ज्ञान—सारभूत हितकारी कथन—जिन प्रज्ञप्त आगम । तज्ज्ञ = उन तत्त्वों के विशेषज्ञ, तदनुसार आचरण करनेवाले ज्ञानी, ध्यानी, मुनि । उपलक्षण से तत्त्व के प्रतिपादक आप्त पुरुष जिनदेव गृहीत होते हैं । ३. तत्त्व, तत्त्व-प्रणेता और तत्त्वज्ञानियों के प्रति अरुचि होना, उनके प्रति उल्लास-भाव—पूर्वक प्रीति नहीं होना, उनके प्रति शत्रुवत् दृष्टि रखना अनन्तानुबन्धी क्रोध का कार्य प्रतीत होता है । ४. तत्त्व आदि को तुच्छ मानना, भोग, भोगी, अज्ञानी आदि को विशिष्ट मानना—उनके प्रति विनत होना और तत्त्वादि के प्रति विनत नहीं होना, अनन्तानुबन्धी मान के कार्य लगते हैं । ५. तत्त्व समझने में झूठे बहाने बनाना, उन्हें सिरपच्ची मानना, तत्त्वज्ञों से दुराव-छिपाव करना—टेढ़ा-टेढ़ा व्यवहार करना—उनके संसर्ग में आने की भावना ही नहीं रखना आदि अनन्तानुबन्धी माया के कार्य अनुमानित हैं । ६. तत्त्व आदि के प्रति तन, मन, धन, जन आदि के समर्पण के भाव नहीं होना—केवल मात्र परिग्रह के जोड़ने में ही सुख का अनुभव होना—बुराइयों में मानसिक पकड़ गहरी होना आदि अनन्तानुबन्धी लोभ के कार्य समझे जा सकते हैं । ७. अनन्तानुबन्धी के उदय से जीव पापमति = पापी बुद्धिवाला ही हो जाता है । ८. भव-भव तक वैर-परम्परा, विकारों की गाढ़ी पकड़, पापों में गौरव मानना, अत्यधिक वक्र-व्यवहार-धर्म के बदले विषय-भोगों को पाने की वृत्ति, अत्यधिक भोग-लालसा, सुकृत की पूंजी को डकार जाना, अति-परिग्रह और आरंभ की

वृत्ति अर्थात् महारंभ-महापरिग्रह आदि अनन्तानुबन्धी कषाय या उसके समकक्ष तथारूप में परिणत होने योग्य कषाय के कार्य माने गये हैं। ग्रन्थों में ऐसे अन्य कई कार्यों के उल्लेख हैं। ९. कमठ, अभीचकुमार, महाबल-मुनि (भ. मल्लिनाथ का पूर्वभव) और सूर्यकान्ता ये क्रमशः अनन्तानु-बन्धी चतुष्क के उदाहरण हैं।

अफल का पुतला

नयनसुखजी विज्ञ दृढ़ श्रद्धालु श्रावक थे। उन्हें अपने लघु पुत्र मदन की काफी चिन्ता थी। वे उसके विचित्र व्यवहार से त्रस्त थे। मदन बुद्धिमान था। उसकी तार्किक शक्ति प्रबल थी और घर के अधिकांश जन उसकी बुद्धि का लोहा मानते थे। उसके भाई और भौजाइयाँ उसकी बुद्धि की खूब प्रशंसा करती थीं। मदन में भी कुछ नया करने की धुन थी। वह विज्ञान का विद्यार्थी था।

नयनसुखजी की यह भावना थी कि 'मैंने सभी पुत्रों को गृह-संसार में फँसा दिया है। किन्तु यह मदन मेधावी है। यह जिनशासन की सेवा करे तो जिनशासन की महिमा बढ़ा सकता है और उज्ज्वल यश का वरण करके, अमर बन सकता है।' किन्तु उनकी यह भावना सफल हो—यह संभव नहीं था। मदन के विचार आधुनिक नेताओं के विचार से प्रभावित थे। एक दिन किसी विषय पर चर्चा करते हुए नयनसुखजी को इस बात का पता लग गया।

नयनसुखजी किसी प्रसंग पर कह रहे थे—“भगवान् सर्वज्ञ थे। उनकी बात झूठी नहीं हो सकती है।” इसका प्रतिवाद करते हुए मदन बोला—“पिताजी! आपके सर्वज्ञ भगवान् को वैज्ञानिकों ने झूठा कर दिया है। आपके भगवान् ने कहा—‘परमाणु अविभाज्य है’। परन्तु वैज्ञानिकों ने एटम-परमाणु का विभाजन करके शक्ति का स्रोत खोल दिया है।”

नयनसुखजी आधुनिक विज्ञान से अधिक परिचित नहीं थे। उन्हें यह पता नहीं था कि अणु में न्यूट्रान, इलेक्ट्रान, प्रोट्रान आदि होते हैं।

परन्तु वे इस बात के दृढ़ श्रद्धानी थे कि जो आत्मा जिन होते हैं, वे ही सर्वज्ञ होते हैं । और सर्वज्ञ के लिये मृषा प्रतिपादन का कोई कारण नहीं रहता है । इसलिये उन्होंने पुत्र की बात का प्रतिवाद करते हुए कहा—“अरे ! जिसे वैज्ञानिकों ने भेदन किया है, वह परमाणु हो ही नहीं सकता है । एक परमाणु की क्या बात है, द्विप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और सूक्ष्म परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्धों को भी वैज्ञानिक पकड़ सके—यह संभव नहीं है । तो फिर उसके भेदन की बात ही कहाँ रही ? जिनदेव कभी मृषा कथन नहीं कर सकते हैं ।”

मदन तिरस्कार से युक्त हँसता हुआ बोला—“आपका अंधविश्वास आप जानें । वैज्ञानिक तो प्रत्यक्ष प्रयोग किये बिना किसी बात को प्रचारित नहीं करते हैं । कहाँ थी भगवान् के समय में प्रयोगशालाएँ ? सिवाय कल्पना की उड़ानों के उनके पास क्या था ?”

नयनसुखजी हक्के-बक्के से पुत्र की ओर देखते ही रह गये । उनकी आशा उसी समय भग्न हो गयी । एक दिन किसी प्रसंग पर मदन ने कहा—“आज के तीर्थंकर तो महात्मा गांधी हैं और गणधर है—विनोबाभावे ।”

पिता ने अपने मेधावी पुत्र का मुँह ताकते हुए कहा—“क्या कहा ? तीर्थंकर हैं महात्मा गाँधी और विनोबाभावे गणधर हैं ? इससे हम मना नहीं कर सकते कि इस युग के वे विशिष्ट महापुरुष हैं । किन्तु वे तीर्थंकर हैं ? गणधर हैं ?—यह बात कदापि सत्य नहीं है । इस पंचम आरे में न तीर्थंकर का जन्म हो सकता है और न गणधर का ।”

“अच्छे उल्लू बना गये हैं आपको—वे शास्त्रकार । बस उन्होंने ज्ञान-चरित्र के विकास का एकाधिपत्य अमुक आत्मा को ही सौंप दिया है । यह सब मताभिनिवेश हैं”—मदन अट्टहास करता हुआ गरजता हुआ-सा बोल रहा था—“बस, इसीसे तो आप दिन जैसी उजेली बात को नहीं देख सकते हो । नवयुग का प्रकाश आप जैसों की आँखों के लिये नहीं है ।”

नयनसुखजी ठगे हुए—से मदन की ओर देख रहे थे । वे सोच रहे थे कि क्या यह वही मदन है जो बचपन में सामायिक करने के लिये मचला

करता था । जिसकी धर्मवृत्ति को देखकर मैंने इसके जिनशासन के सेवक बनने का सपना देखा था । वे विषाद के स्वर में बोले—“देखो तो मदन ! ऐसा नहीं बोला करते । तुमने अभी धर्मशास्त्र का अध्ययन कितना किया है ? गाँधीजी को अगर कोई कहे कि ये कम्युनिस्ट पार्टी के जन्मदाता नेता हैं तो क्या कोई कम्युनिस्ट इस बात को स्वीकार करेगा ? अरे ! वह उन्हें अपनी पार्टी का साधारण सदस्य भी नहीं मानेगा और स्वयं गाँधीजी भी इस बात को सत्य मान सकेंगे ?”

मदन पहले तो पिता की बात से कुछ हतप्रभ-सा रह गया । किन्तु यों सहज में ही हार मान ले तो वह बुद्धिमान ही कैसा ? उसने उल्टा तीर चलाते हुए कहा—“यहाँ पार्टीबाजी कैसी ? आपके धर्म को तो आप निष्पक्ष मानते हैं । फिर यह पक्षपात क्यों ? इसका आशय यह समझूँ कि आप उन्हें सामान्य कोटि के श्रावक से भी नीचे दर्जे का मानते हैं ! अरे वाह रे दंभ !” —फिर वह तिरस्कारपूर्वक हँसने लगा ।

नयनसुखजी धैर्य के साथ बोले—“भाई ! उन्होंने कोई व्रत ही ग्रहण नहीं किये हैं तो हम उन्हें श्रावक कैसे मानेंगे ?”

“वाह ! वाह ! धन्य है आपको ?”—व्यंग्यपूर्वक मदन बोला—“दंभ की भी कोई पराकाष्ठा है ? जरा देखो, अपनी और अपने श्रावकों की प्रामाणिकता ? क्या खाकर खड़े रह सकते हो, आप—उन महापुरुषों के सामने ? आप व्यापारी लोगों ने अपने धर्म को ही बदनाम कर रखा है !”

नयनसुखजी ने चुप रहने में ही कल्याण समझा । वे वहाँ से अलग हट गये । उन्होंने पीठ फेरते ही पुत्र की विद्रूप हँसी सुनी । वह हँसी मानो उनकी पीठ में सुइयों जैसी चुभ गयी ।

अब मदन जान-बूझकर घर में पाले जानेवाले धर्म-नियमों को भंग करने लगा । आखिर पिता नहीं चाहते हुए उसे कुछ-न-कुछ कहने के लिये विवश हो जाते । वे उसे प्रेम से ही कहते थे । परन्तु वह विद्रोही स्वर में कहता—“देखो, पिताजी ! हमसे यह नहीं हो सकेगा कि हृदय में कुछ

और, होठ पर कुछ और तथा व्यवहार में कुछ और । मैं जो कुछ करना चाहता हूँ, वह प्रामाणिकता से ही करना चाहता हूँ ।”

पिता सहजता से कह देते—“अच्छा तो प्रामाणिकता से ही करो ।”
“मुझे ये नियम, धर्म की बातें अच्छी ही नहीं लगती हैं । तुच्छ हैं—निःसार हैं ये बातें ।” नयनसुखजी हार जाते थे ।

यों मदन आधुनिक तड़क-भड़क का विश्वासी नहीं था । उसका रहन-सहन सादा ही था । ऐसा लगता था कि वह मात्र पिता को दुखी करने के लिये ही विपरीत चलता है ।

उसे पिता की धार्मिकता धार्मिकता लगती ही नहीं थी । अधिकांश श्रावक भी उसे पिता जैसे ही लगते थे । पिता उसे किसी धंधे में लगाना चाहते थे । उस प्रसंग के वार्तालाप में उसने नैनसुखजी को आड़े हाथों लिया—“आप धंधे की कहते हैं ! आप लोगों के व्यापार मुझे फूटी आँखों नहीं सुहते । मात्र लाभ कमाने की ही आप लोगों की वृत्ति है । व्याज खाऊ आपके धंधे हैं । धर्म तो आप लोगों ने ऊपर से ओढ़ रखा है । आपमें प्रामाणिकता का कुछ अंश है भी क्या ? कभी ईमानदारी से टटोला है अपनी व्यापार-पद्धति को ?” नयनसुखजी इन वचनों से मर्माहत हो उठे । वे अपने व्रतों में दोष नहीं लगे इस प्रकार व्यापार करते थे । उनकी समझ के अनुसार तो वे प्रामाणिकता से ही व्यवहार करते थे । वे दुखियों पर यथा-योग्य अनुकम्पा करते थे । कई स्वत्वविहीनों को ऋण-मुक्त भी कर देते थे । परन्तु जो जानबूझकर ऋण नहीं चुकाते थे—ऋण हड़पने की फिराक में रहते थे, उनके प्रति अति कठोर हो जाते थे और उससे ऋण लेकर ही छोड़ते थे । उसमें कुछ आड़े-टेंडे मार्ग अपनाते पड़ते तो बेहिचक अपनाते । क्योंकि वे मानवीय दुर्बलता से एकदम मुक्त तो नहीं थे । वे दुखी हृदय से बोल पड़े—“इतने बड़े हो गये हो ! लिख-पढ़ गये ! फिर तुम्हारी बोलने की तमीज़ कहाँ गायब हो गयी ? यह तो हमारी तुम्हारी दृष्टि का अन्तर है । श्रावक कभी भी पापको करणीय नहीं समझता । वह समस्त पापों को छोड़ने का अभिलाषी होता और जितनी शक्यता होती है, उतना छोड़ता है । जो

हो रहे हैं, उसका उसके मन में खेद रहता है। हम भी जी-जान से प्रामाणिक रहने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु तुम्हारा क्रीता कुछ और ही।”

“अच्छी बातें गढ़ रखी हैं—आप लोगों ने ! दंभ को पालते भी जाना और खेद करना ! कथनी और करनी का कितना बड़ा अन्तर ! आप कैसे मुखौटे लगाकर चलते हो ? भीतर में राक्षसीवृत्ति और बाहर दैवी मुखौटा ! आपके कोश में मुलायम शब्द खूब हैं—लोगों को ठगने के लिये”—मदन इसप्रकार बोल रहा था कि मानों इन तथार्कथित श्रावकों की इज्जत के अभी तार-तार करके रख देगा।

नयनसुखजी बहुत-कुछ शान्ति रखते हुए भी तिलमिला गये। वे जरा झल्लाते हुए—से बोले—“इन अप्रासंगिक बातों को छोड़ो। मैं तो तुम्हें धंधे पर” मदन उनकी बात बाटकर बोला—“लगाकर अपना कर्तव्य पूरा करना चाहते हैं, यही न ! तो मैं कहता हूँ कि अब मैं छोटा बच्चा नहीं हूँ। आप मेरी चिन्ता छोड़िये।” पिता ने अब आगे एक शब्द भी बोलना ठीक नहीं समझा। मात्र निःश्वास छोड़कर मदन की ओर नजर भर डाली। उनकी आँखें थीं बड़ी-बड़ी। कुछ रोष भी उनमें था ही। अतः मदन को वह आग्नेय दृष्टि लगी। उसने चिढ़कर तीर सा चलाया, वचन का—“आँखें किसे दिखाते हैं आप ? अब दबने के दिन गये ! बंदा यों दबने वाला नहीं है। जो सत्य है वही कहूँगा।”

मदन का अध्ययन चल ही रहा था। उसकी मेधा की तीक्ष्णता के कारण प्राध्यापक आदि उसे शोध के लिये प्रेरित कर रहे थे, जिससे उसे डॉक्टर की उपाधि उपलब्ध हो सके। यद्यपि वह अहिंसक कुल में जन्मा था। गाँधीजी और विनोबाजी की विचारधारा से प्रभावित ही नहीं—उसके अनुसार चलने को तत्पर भी होता था। फिर भी मनुष्य में कई अन्त-विरोध चलते और पलते रहते हैं। हो सकता है कि उसके अचेतन मन में अहिंसा के विरोध में कोई बात घर कर गयी हो। उससे या और किसी कारण से प्रेरित होकर अति संहारक तीव्र विष के विषय में शोध की और

उसकी शोध मंजूर हुई । उसे 'डॉक्टर' की उपाधि प्राप्त हो गयी । पिता को इस बात का कुछ पता नहीं था ।

डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त होने से पूर्व ही मदन का सदृश कुल की कन्या से विवाह हो गया था । उसे विवाह भी अब बोझ लग रहा था । उसकी जीवन-दृष्टि से कुछ भी बातें मेल नहीं खा रही थीं । उसे समाज से, संघ से, धर्म से, घर से और अपने आपसे भी घृणा हो रही थी । परन्तु उसे पत्नी से प्रेम था । पत्नी ने भी उसकी हाँ में हाँ करने में ही कुशलता देखी । वह कभी भी पति से तर्क-वितर्क नहीं करती थी ।

पड़ौसी समाज के प्रतिष्ठित सज्जन की कन्या से किसी निमित्त से उसका संपर्क हुआ । वह कन्या युवा थी । अति संगति से उनका समाज में अति अपयश होने लगा । पिता को उसके चरित्र पर तो शंका नहीं थी । किन्तु अपयश से वे डरते थे । अतः विवश होकर उन्हें इस विषय में मदन को कुछ हितशिक्षा के वचन कहने पड़े ।

मदन एकदम उबल पड़ा—“मैं लीक-लीक चलनेवाला सपूत नहीं हूँ पिताजी ! मैं बराबर समुचित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ । इतने निषेधों के बीच में रहकर क्या ब्रह्मचर्य पाला जाता है ? ऐसा ब्रह्मचर्य कोई ब्रह्मचर्य है क्या ? एक शय्या पर सोकर भी विकार न जागे—वह सच्चा ब्रह्मचर्य है । छुई-मुईसा ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य है ही नहीं । इसीका प्रयोग किया है मैंने ?”

नयनसुखजी को इस बात में उसकी निर्लज्जता झाँकती हुई प्रतीत हुई । परन्तु वे दबे स्वर से बोले—“बेटा ! नववाड़ों का विधान भगवान् ने ही तो किया है ।” उसने खट से उत्तर दिया—“किया होगा किन्हीं ने ! मैं नहीं मानता उन्हें भगवान् ! ऐसे बुज्जदिलों को भगवान् कहना भगवान् शब्द की महिमा घटाना है ।” पिता का वात्सल्य हृदय भगवान् की इस आशातना से काँप उठा । परन्तु अपने पुत्र की प्रकृति वे जानते थे । इसलिये इस विषय में कुछ न कहकर वे इतना ही बोले—“समाज में रहना है तो समाज के ढँग से रहना चाहिये ।”

मदन घर से निकलने का निर्णय कर चुका था । वह किसी निमित्त की राह देख ही रहा था और आज वह निमित्त मिल गया । वह अपना निर्णय सुनाता हुआ अपने पिता से बोला—“रखिये अपना समाज अपने पास । मुझे न इस समाज में रहना और न मुझे इस समाज के लाड़ले इस घर में रहना है । मैं जा रहा हूँ । मैंने अपना रास्ता चुन लिया है ।” नयनसुखजी उसकी बात को कुछ समझे-कुछ नहीं समझे ।

उन्होंने पूछा—“कहाँ जा रहे हो ? कौन-सा रास्ता चुन लिया ?” अब मदन आवेश से नहीं, शान्ति से बोला—“मुझे आपके इस अपवित्र धन में से हराम का एक भी पैसा नहीं चाहिये । मैं अपने कर्म क्षेत्र में जा रहा हूँ । श्रम करूँगा और उससे आजीविका चलाऊँगा ।”

पिता ने अनुभव किया कि शान्त ज्वालामुखी के तले में लावा धधक रहा है । उनसे अधिक कुछ बोला ही नहीं गया । उनके मुँह से मात्र इतना ही निकला—“अच्छा !” मदन उसी दिन अपनी पत्नी को लेकर घर से निकल गया और समीप के लघु ग्राम में चला गया । वहाँ वह धूप में मजदूरों के समान काम करता था । शरीर से पसीना बहता था । श्रम से थककर शरीर चूर-चूर हो जाता । मजदूरी में जो पैसे मिलते उससे आजीविका चलाता था । परन्तु उससे क्या होता ? जोश ठंडा पड़ रहा था । दुश्चिन्ताएँ घेरने लगीं ।

उधर नयनसुखजी ने अपनी संपत्ति का पुत्रों में विभाजन कर दिया । यद्यपि वे मदन से प्रसन्न तो नहीं थे, फिर भी पिता के कर्तव्य के नाते सम्पत्ति का एक हिस्सा उसके नाम से भी कर दिया । उन्हें मदन की चर्या का पता लग ही रहा था । कुछ परिजन माध्यम बने । मदन ने कहा—“मैं पिताजी का एक पैसा भी हाथ में नहीं लेने का निर्णय कर चुका हूँ ।” किसी ने समझाया—“अच्छा मत लो पैसा ! श्रम ही करना है तो खेती करो ।” “ठीक है । परन्तु खेती के लिये जमीन कहाँ है ? हाँ, पिताजी मुझे जमीन देंगे तो ले लूँगा ।”

नयनसुखजी ने उसके हिस्से की संपत्ति से जमीन खरीद कर उसे दे दी ।

अब मदन खेती करने लगा । लोभ भी उभरा ही । वह अभक्ष्य पदार्थों का उत्पादन करके विक्रय करने लगा ।

स्पष्टीकरण—इस दृष्टान्त में अनन्तानुबन्धी के विपाक को स्थूल रूप से दरसाया है । जिनेश्वरदेव, तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञों के प्रति अप्रीति, वक्र व्यवहार, तीव्र अहंकार-वृत्ति आदि के स्वर इसमें उभरे हैं । यह उदाहरण व्यवहारबुद्धि के अनुसार है । निश्चय तो विशिष्ट ज्ञानी ही जान सकते हैं ।

बीयस्स फलं चायं, देसं पि न करइ, वहइ दुब्बल्लं ।

दोसा बीहइ, न हरइ, देइ धणं, न य सुहं चयइ ॥१७॥

दूसरे (अप्रत्याख्यान चतुष्क) का फल (यह है कि—) (त्याग की रुचि होते हुए भी) वह अंश मात्र भी त्याग नहीं करता है । दुर्बलता का वहन करता है । दोषों से डरता है, किन्तु (उनको) दूर नहीं करता है और धन (दान में) देता है, किन्तु सुख का त्याग नहीं करता है ।

टिप्पण—१. अप्रत्याख्यानी कषाय के कुछ उदाहरण यहाँ दिये गये हैं । वे देशविरति से संबन्धित हैं । २. अनन्तानुबन्धी के क्रोध के जाने से त्याग में प्रीति तो पैदा हो जाती है; किन्तु इस चतुष्क के क्रोध के अस्तित्व के कारण प्रीति का इतना उत्कर्ष नहीं होता कि आत्म-कल्याण के लिये स्वयं अंश मात्र विरति भी ग्रहण कर सके । ३. अनन्तानुबन्धी के अभाव के कारण उसे त्याग के सम्बन्ध में अपनी दुर्बलता का अनुभव होता है, किन्तु विनय का इतना उत्कर्ष (अप्रत्याख्यान के मान के कारण) नहीं होता कि अंश मात्र भी त्याग का वहन कर सके । बस, अपनी दुर्बलता बताकर या मानकर अपने आत्मगौरव की रक्षा कर लेता है । ४. अनन्तानुबन्धी माया के अभाव से इतनी सरलता आ जाती है कि अपने दोष-दोष रूप में प्रतीत होते हैं, दूसरे दोषों को त्यागते हैं तो अच्छा भी लगता है और दोषों से भय भी लगता है; किन्तु ऋजुता के विशेष उत्कर्ष के अभाव में दोषों का अंश मात्र भी त्याग

नहीं हो पाता है। ५. अनन्तानुबन्धी लोभ के अभाव के कारण सद्धर्म; गुण के पोषण आदि में अपने धन का-स्वतन्त्र का समर्पण करता है, परन्तु अप्रत्याख्यान लोभ के कारण देशविरति के लिये भी दैहिक सौख्य का त्याग नहीं कर पाता है। ६. अप्रत्याख्यानचतुष्क के ये कार्य धर्म से संबन्धित हैं। किन्तु उसके लोक-व्यवहार से सम्बन्धित अन्य कार्य भी प्रकट होते ही हैं। ७. इस विषय में श्रीकृष्ण वासुदेव और मगधेश श्री श्रेणिक के दो उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। आज भी ऐसे कई उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु इसका निर्णय कौन कर सकता है कि वे अविरत सम्यक् दृष्टि हैं या दोगी-प्राखण्डी ?

तीयस्स फलं विरइं, न करइ, बलमप्पणो न जुंजइ सो ।

मग्गे जोगा न वहइ, धम्मं पावे य देइ बलं ॥१८॥

तीसरे (प्रत्याख्यानावरण चतुष्क) का फल (यह है कि—) सर्व विरति स्वीकार नहीं करता है। (उसमें) वह अपने बल को नहीं जोड़ता है। (मोक्ष-) मार्ग में योगों का वहन नहीं करता है। (प्रसंगानुसार) धर्म में और पाप में अपना (तन, धनादि का) बल प्रदान करता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में भी प्रत्याख्यानावरणचतुष्क के कार्यों के विशेष रूप से प्रायः धर्म से संबन्धित उदाहरण दिये हैं। क्योंकि साधक को साधना से ही प्रयोजन है। अतः साधना के अवरोधक कार्यों को जानना साधक की प्रधान आवश्यकता है। २. पूर्व के क्रोध का अभाव होने के कारण सर्वविरति की रुचि और प्रीति के साथ ही अंशतः विरति का प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु प्रत्याख्यानावरण के क्रोध के कारण सर्वविरति के ग्रहण में अनेक आशंकाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। ३. तत्सम्बन्धी विनय के प्रकट न होने के कारण (सर्वविरतियों का बहुमान करते हुए भी) अपनी शक्ति का उपयोग-संयोजन सर्वविरति में नहीं कर पाता है। ४. भोग रुचि के सद्भाव के कारण भोगों में पक्षपात रहता है। अतः भोगों से अपने योगों

का व्यापार पूर्णतः नहीं हट पाता है और मोक्ष में उन्हें जोड़ नहीं पाता है । यों अपने आप से ही लुका-छिपी और वक्रता चलती रहती है । ५. धर्म-प्रसंग होने पर धन आदि का व्यय उत्साह से करता है । परन्तु भोगेच्छा बनी रहती है । क्योंकि प्रत्याख्यानवरण का लोभ विद्यमान होता रहता है । ६. जिस समय में चार में से जिस प्रकृति का उदय रहता है, उस समय उस प्रकृति का कार्य प्रधान रूप से अनुभव में आता है । ७. इस चतुष्क के फल-स्वरूप अन्तिम समय में श्रावकों के द्वारा मारणान्तिक, संलेखना के समय सावद्ययोग के तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान कर लेने पर भी सर्वविरति रूप परिणाम प्रकट नहीं होते हैं ।

किञ्चि अरइमइयारं-चरइ, पमायं करेइ, अप्पम्मि—

तल्लीणयं च खंडइ, फलं चउत्थस्स चोक्कस्स ॥१९॥

चतुर्थ (संज्वलन-) चतुष्क का फल (यह है कि) (संयम में) किञ्चित् अरति होती है । अतिचार का आचरण होता है । प्रमाद को (उत्पन्न) करता है और आत्मा में (जमती हुई) तल्लीनता को खण्डित करता है ।

टिप्पण—१. चतुर्थ संज्वलन चतुष्क अति मंद कषाय है । फिर भी उसका जातीय प्रभाव तो होता ही है । २. संज्वलन का क्रोध जोर पकड़ता है तो संयम में किञ्चित् अरुचि-उकताहट पैदा हो जाती है । संयम में प्रीति है । सर्वविरति के परिणाम भी तद्रूप विकृति के अभाव में उत्पन्न हो जाते हैं । किन्तु साधक जरा-सा असावधान हो जाता है तो यह कर्म प्रकृति अपना प्रभाव दिखा ही देती है । यद्यपि संयम में अरति तो अरति मोह के उदय से होती है, फिर भी संज्वलन का क्रोध संयम में अप्रीति उत्पन्न कर सकता है । अतः उससे अरतिमोह का उदय भी हो सकता है और कुछ तीव्र भी हो जाय—यह संभव है । ३. मान की तीन प्रकृतियों के अभाव से विशेष आत्मबल उत्पन्न हो जाता है । किन्तु संज्वलन के मान से आत्मबल आत्माभिमान में परिवर्तित हो सकता है । अतः मानवश (या चारों कषाय के वश) अतिचारों

का-दूषणों का सेवन होने लगता है । ४. प्रमाद योग को दूषित करता है । अतः प्रमाद योग में ही प्रतिफलित होता है । चरित्र में उपयोग को नहीं जमाना या उसका न जमना प्रमाद का स्वरूप है । इस उपयोग की फिसलन से योग की फिसलन होती है । अतः यह ऋजुता को खण्डित करती है । उस फिसलन के मूल में संज्वलन की माया है । इसी दृष्टि से यहाँ प्रमाद को माया-जन्य कहा है । प्रमाद अपनी आत्मशक्ति पर डाला हुआ पर्दा है । यों प्रमाद के मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच हेतु बताये हैं । इन सबमें मोक्षमार्ग से विपरीत आचार अर्थात् वक्राचार व्याप्त है । ५. संज्वलन का लोभ अंश मात्र भी पर-पदार्थ की लालसा जगाता है । फिर भले ही वह लालसा अति सूक्ष्म रूप से यश की भी हो सकती है । लेकिन पर-पदार्थ की चाह आत्म-भाव को खण्डित करती ही है । अतः संज्वलन लोभ का फल आत्म-लीनता को तोड़ना है । ६. पूरे चतुष्क का समुदय रूप फल है—यथाख्यात चरित्र का प्राप्त न होना । ७. समस्त अतिचारों-आराधना के दूषणों का हेतु संज्वलनचतुष्क है । ८. यह मंदतम कषाय भी तीव्रतम अनन्तानुबन्धी कषाय को पुनः ला सकता है । अतः साधक को सावधान रहना चाहिये । ९. संज्वलन के क्रोध के विषय में चण्डरुद्राचार्य, संयम-अरति से संबन्धित अहंनक मुनि, मान से संबन्धित बाहुबलिजी, माया से सम्बन्धित नटकन्या से रूप-परिवर्तन करके मोदक बहरनेवाले आषाढ-भूतिजी और लोभ से सम्बन्धित रसना-रस के वशीभूत बने हुए आर्य मंगु के उदाहरण लिये जा सकते हैं ।

कषायों के चौंसठ प्रकार—

रसावेक्खाइ इक्किक्कं, चउ-चउव्विहं हवे ।

चउसट्ठी कसायाणं, भेया हवन्ति भोमण ॥२०॥

हे मन ! (प्रत्येक चतुष्क का) प्रत्येक कषाय रस की अपेक्षा से चार-चार प्रकार हो जाय तो कषायों के चौंसठ भेद हो जाते हैं ।

टिप्पण—१. अनन्तानुबन्धी क्रोध का रस अनन्तानुबन्धी रूप, अप्रत्याख्यानसदृश, प्रत्याख्यानावरणसदृश और संज्वलनसदृश ऐसे चार प्रकार का हो सकता है। इसप्रकार शेष पन्दरह कषायों के चार-चार प्रकार हो जाते हैं। यों रस की अपेक्षा से कषाय के चौंसठ भेद होते हैं। २. अनन्तानुबन्धी आदि कषायों में तीव्रता और मंदता बुद्धिगम्य हैं। क्योंकि अनन्तानुबन्धी क्रोध के उदयवाले भी अति क्षमावान और संज्वलन क्रोध के उदयवाले तीव्र रोषाविष्ट और असहिष्णु रूप में अनुभव में आ सकते हैं। क्वचित् संज्वलन चतुष्क का समय लम्बा और अनन्तानुबन्धी का समय अल्प हो सकता है। ३. मन से संबोधन इसलिये किया गया कि कषाय अन्तरंग परिणाम रूप है—ये भेद भी इन्द्रिय-गम्य नहीं हैं, चिन्तन-गम्य हैं। मन का विषय भी श्रुतज्ञान है। और इनका स्वरूप भी सम्यक् श्रुत के अध्ययन-मनन से ही जाना जा सकता है। अतः अपने भीतर उनकी अवस्थाओं को मन के द्वारा ही पकड़ा और जाँचा-परखा जा सकता है। पुनः मन सावधान हो जाये और अति सावधानी, सूक्ष्मता और तीक्ष्णता से आत्म-परिणामों को परखे—यह हेतु है—उसके संबोधन में।

अगली गाथाओं में मन को सावधान होने का उपदेश दिया है—

भव-मूलो कसाओ उ, णाणाविहो विमोहगो ।

इन्द्रजालोवमं किञ्चा, जीविदं मोहए परं ॥२१॥

कषाय भव का मूल है। किन्तु (यह) विविध रूप से विमोहक—संमोहन करनेवाला है। इसलिये (यह) इन्द्रजाल के समान (माया) बनाकर जीवरूपी इन्द्र को अत्यन्त मोहित करता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में कुछ सूचनाएँ दी गयी हैं, जिससे मन यह जान ले कि कषायों को परखना सरल नहीं है। २. 'कषाय संसार-वृद्धि का हेतु है'—यह सैद्धान्तिक बात है, अनुभव की नहीं। इसे भलीभाँति समझने के लिये आगम का ही अवलम्बन लेना होगा और इस विषय में

उन्हीं पर विश्वास करना होगा । ३. 'कषाय संमोहक है'—यह दूसरी सूचना है । संमोहक संमोहक है, यह संमोहित को ज्ञात नहीं होता है । अतः वह संमोहक के विचार-संकेत के अनुसार ही कार्य करता है । जीव कषाय के द्वारा संमोहित है । अतः वह कषाय से प्रेरित रहता है । जबतक मनुष्य सचेत रहता है—संमोहक के प्रति अपने को समर्पित नहीं करता, तबतक संमोहक उसे कृत्रिम निद्रा में नहीं ला सकता और न उससे इच्छित कार्य करवा सकता है । वैसे ही जीव कषाय के प्रति समर्पित न हो—उसके स्वाधीन अपने को न करे, इस हेतु वह सचेत रहे—ऐसा प्रयत्न अपेक्षित है । ४. 'विमोह = संमोह ननाप्रकार का है'—यह तीसरी सूचना है । संमोहन को तोड़ने के लिये उसके विविध रूपों से सावधान रहना आवश्यक है । ५. 'कषाय इन्द्र-जालिक है'—यह चौथी सूचना है । इन्द्रजालिक अपनी कल्पना का साक्षात्कार करवाता है अर्थात् दृश्य में कुछ भी वास्तविकता नहीं होती है । मात्र माया-जाल ही होता है । उसी को इन्द्रजाल कहते हैं । वैसे ही कषाय भी मिथ्या मायाजाल को खड़े करते हैं । जैसे इन्द्रजाल से लोग मुग्ध हो जाते हैं । वैसे ही जीव भी कषाय के इन्द्रजाल में मोहित हो जाता है । ६. यहाँ 'विमोहक' शब्द के दो अर्थ लिये हैं—संमोहक और इन्द्रजालिक । क्योंकि दोनों ही विमोहित करते हैं । ७. जीव ज्ञानादि दैवी गुणों का स्वामी होने के कारण इन्द्र है अर्थात् किसी अधिपति के विमोहित होने पर बहुत बड़ी हानि की संभावना रहती है । वैसे जीव के विमोहित होने के कारण आत्म-ऐश्वर्य की अतिक्षति होती है ।

अथि सो परमो सत्तू, विस्सासेइ सहा विव ।

तम्हा माणेइ तं जीवो, अप्परूवं व धारइ ॥२२॥

(कषाय के संमोहन और इन्द्रजाल के कारण) जीव उस पर सखा के समान विश्वास करता है । इसी कारण उसको बहुत मान देता है और उसे आत्म-स्वरूप के समान धारण करता है । किन्तु वह उसका परम शत्रु है ।

टिप्पण—१. जीव को क्रोध और माया से अपना कार्य बनता प्रतीत होता है । मान से गौरव की अनुभूति होती है और लोभ से समस्त सुखों की उपलब्धि-सी दिखाई देती है । इसलिये वह इन्हें अपने मित्रवत् मानता है । २. कषाय को जीव हेय दृष्टि से नहीं, उपादेय दृष्टि से देखता है । अपने हितैषियों और गुरुजनों से अधिक उनको बहुमान देता है । ३. उन्हें सखा ही नहीं अपने निज स्वरूपवत् मानता है अर्थात् उनके अभाव में चेतना का

ही अभाव देखता है। अधिकांश जीवों की यही दशा है। ४. जब कुछ काम बिगड़ता है, तब मात्र क्रोध ही अनिष्ट रूप में लगता है, किन्तु अन्य कषाय नहीं। फिर भी क्रोध के परित्याग में मान बाधक बनता है। ५. जीव कषायों के इतना अधीन बना हुआ है कि इनके परित्याग का उसे कभी मन नहीं होता है। किन्तु इन्हें धारण करने में उसे अपना हित प्रतीत होता है और उनके पोषण के लिये अपने सर्वस्व तक का समर्पण करने के लिये उद्यत रहता है। उसे प्राणत्याग में भी कोई आनाकानी नहीं होती है—उनके लिये। ऐसी स्थिति में उन्हें परमशत्रु समझना तो दूर की बात है, अहितैषी भी मानेगा क्या? ६. मन को यह सूचना इसीलिये दी है कि वह भी जीव का ही तो अंश है। अतः उसे कितने निर्लेप-अनासक्त भाव से चिन्तन करना होगा? मन से संबोधन का एक कारण यह भी है कि मनवाला प्राणी ही कषायों की विभारूपता को-अनिष्टता को मनन के द्वारा जान सकता है।

मोक्षपथे चलन्तस्स, कसाओ अवरोहइ।

तं निगडेसु बंधित्ता, पूरेइ भव-चारगे ॥२३॥

कषाय मोक्षमार्ग में चलते हुए जीव का अवरोध करता है और उसको (पर-परिणति रूप) वेडियों में बान्धकर भवरूपी कारागृह में पूर देता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में कषाय परमशत्रु क्यों है—इसका कारण बताया है। २. जीव की स्थिति दो प्रकार की है—मोक्षमार्ग पर चलने से पूर्व की स्थिति और मोक्षमार्ग पर चलने के समय की स्थिति। मोक्षमार्ग पर चलने से पूर्व की स्थिति प्रायः पूर्णतः कषाय प्रेरित ही है। कषाय उसे मोक्षमार्ग सन्मुख ही नहीं होने देता है। ३. कदाचित् कषाय से परे परिणामों की विशुद्धि से जीव यथाप्रवृत्ति को प्राप्त कर लेता है। परन्तु कषाय उसे पुनः पीछे धकेल देता है। उसे भव-कारागृह से बाहर होने का अवसर ही प्राप्त नहीं होने देता है। ४. कोई जीव मोक्षमार्ग के सन्मुख हो जाता है और कषाय के एक मोर्चे को तोड़ डालता है तो अगले मोर्चे का कषाय पुनः रोकता है। इसप्रकार कषाय और जीव में धक्कापेल चलती रहती है। जहाँ तक कषाय का वश चलता है, वहाँ तक वह उसे संसार से बाहर नहीं निकलने देता है। 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'रोह' धातु के प्रयोग से यह बात सूचित की है।

अब इस कषाय-स्वरूप परिच्छेद का उपसंहार किया जाता है—

चत्तारि एए कसिणा कसाया, तिब्वा य मंदा य कया हवित्ता ।
पावेहि पुण्णेहिय लोय-खेते-भामेति मा तेसु रमिज्ज तम्हा ॥२४॥

ये चारों काले कषाय कभी तीव्र (और तीव्र के अन्य स्तरवाले) और मन्द (और मंद के अन्य स्तरवाले) होकर पापों और पुण्यों के द्वारा (जीव को) लोक-क्षेत्र में भ्रमाते रहते हैं। इस कारण उन (कषायों) में (हे आत्मन् !) निश्चय ही मत रमो ।

टिप्पण—१. खराब फलों—काली करतूतों के कारण ये कषाय काले ही हैं। २. तीव्र कषाय और (यकार के द्वारा गृहीत) उसके अन्य प्रभेद विविध प्रकार के पाप कर्मों के हेतु हैं अर्थात् उनसे अनेक प्रकार के पाप कर्मों का बन्ध होता है। ३. मन्द कषाय और उसके विविध स्तरों से अनेक प्रकार के पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। ४. पुण्य और पाप कषाय की ही सन्तान हैं। इसलिये इन दोनों से संसार में ही परिभ्रमण होता है। ५. जब मन्द कषाय में कषाय से रहित होने के भाव या उसके समकक्ष के परिणाम जुड़ते हैं, तभी होनेवाला पुण्यबन्ध जीव के लिये आत्मोत्थान में सहायक बन सकता है। ६. कषाय का स्वरूप जानने के बाद का निर्णय यह है कि उनमें रमण नहीं करना चाहिये।

विशेष—इस निर्णय से अगले प्रकरणों की सूचना दी गयी है। 'कषाय को पतली करके'—बोल के इस अंश से दो विभाग बनते हैं—जिसे पतला करना है—उसका स्वरूप (= कषाय-स्वरूप) और उसे पतला करने की प्रक्रिया। पहले विभाग को इस अध्ययन के पहले परिच्छेद के रूप में रखा है। दूसरे विभाग के दो उपविभाग बनते हैं—(कषाय को) दूबला करना और वश में करना। इन्हें (कषाय-) कृशीकरण और वशीकरण के रूप में रखकर दूसरे और तीसरे परिच्छेद की रचना हुई है। 'निर्मूल करना' अर्थात् नाश करना-क्षय करना। इस अंश को (कषाय-) क्षयकरण रूप चौथे परिच्छेद में रखा है। यही सूचना मा तेसु रमिज्ज पद से दी गयी है।

बिड़ओ परिच्छेओ-किसीकरण

(कषायों का कृशीकरण)

शिष्य कषाय-स्वरूप जानकर विचार-मग्न हो जाता है । वह आकुल-भाव से निवेदन करता है—

‘दुखिओऽहं कसायाहि, मं चइस्संति ते कहं ।

देव ! ते वयणोहिं खु, दिट्ठा सत्तुव्व ते मए ॥१॥

‘हे देव ! आपके वचनों से ही वे (कषाय) मुझे शत्रु के तुल्य दिखाई दिये हैं । मैं कषायों से दुःखी हूँ । वे मुझको कैसे छोड़ेंगे ?

‘उड्ढं गए वि जीवेऽहो ! पाडेन्ति ते अहे अहे ।

वराए सत्तसीले वि, अम्हाण होज्ज का गई ?’ ॥२॥

‘अहो ! वे ऊँचे गये हुए = उच्च गुणस्थान पर पहुँचे हुए जीवों को भी नीचे-अति नीचे गिरा देते हैं । सत्त्वशाली जीव भी (उनके समक्ष) वराक् (= बेचारे हो जाते) हैं । तो हमारी क्या गति होगी ?’

टिप्पण—१. एक मात्र वीतराग जिनदेवों के वचन ही कषायों को एकान्त रूप से हेय बतलाते हैं और उनके विविध दुष्फलों का वर्णन करते हैं । सद्गुरु के वचन भी उनके वचनों के अनुसार होते हैं । अतः शिष्य गुरुदेव से कह रहा है कि मैंने आपके श्रीवचनों से ही इन कषायों को पहचाना है । २. जो स्वयं कषायों से मुक्त होते हैं, वे ही उनसे मुक्त होने का मार्ग बता सकते हैं और जिन्होंने जिनवचनों से अपने हृदय को भावित करके, मोक्षमार्ग पर प्रयाण किया है, वे ही मार्गगत शत्रुओं की पहचान और उनके पराभव के उपाय बता सकते हैं । ‘देव’ शब्द के द्वारा संबोधन से जिनदेव

और गुरुदेव दोनों ही गृहीत होते हैं। ३. सद्गुरु के सत्संग के पश्चात् दुःख के सही कारण रूप कषाय प्रतीत होते हैं। 'मेरे जितने भी दुःख हैं वे सब कषायजनित ही हैं। दुःख का हेतु कषायों के सिवाय अन्य नहीं है'—जब यह प्रतीति होती है, तब यह बोध दृढ़ हो जाता है कि मैं कषायों के कारण ही दुःखी हूँ। ४. दुःख अप्रिय हैं। अतः दुःख के कारण भी जीव को कभी प्रिय नहीं हो सकते हैं। उन्हें छोड़ने के लिये जीव आकुल हो उठता है और 'कैसे छूटे'—इसके उपाय खोजने लगता है। ५. कषाय ही दुःख हेतु हैं। अतः उन्हें छोड़ने के लिये भव्य जीव आकुल है। वह गुरुदेव से यही कह रहा है—'वे मुझे कैसे छोड़ेंगे?' इस कथन में कषाय से छुटने की भावना तो है। किन्तु उपायों की जिज्ञासा नहीं है। कषाय के बल से त्रास की भावाभिव्यक्ति है। इसलिये आगे वह कषायों के आतंक का उल्लेख करता है। ६. ऊर्ध्वगत अर्थात् ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान पर आरूढ़ जीव, उपशान्त भाव के निवृत्त होते ही दबे हुए कषायों से ग्रस्त हो जाता है। ७. नीचे-नीचे अर्थात् कषाय उस जीव को नीचे के गुणस्थानों पर लाते हुए प्रथम गुणस्थान पर ले आते हैं। ८. अत्यन्त आत्मबली भी कषायों का जोर होने पर एकदम निःसत्त्व हो जाते हैं। अनाथ से भी हीनतर दशा हो जाती है उनकी। शिष्य उन सत्त्वशाली आत्माओं से अपनी तुलना करता है। अतः उसे लगता है कि मैं तो उन हिमतुंग-से-उत्तुंग मनुष्यों के सामने अत्यन्त वामन हूँ।

आराध्य गुरुप्रवर शिष्य को आश्वासन देते हैं—

‘अहीरो भव ! मा हुज्ज, ण तुमं असि दुब्बलो ।

उच्चकक्खाऽणुतिण्णस्स, णिण्णस्स होइ किं फलं’ ॥३॥

‘हे भव्य ! अधीर मत होओ। तुम दुर्बल नहीं हो। उच्च कक्षा में अनुत्तीर्ण का फल निम्न कक्षावाले के लिये क्या होता है ?

टिप्पण—१. परपक्ष का बल देखकर अधीर बनने से उसको जीतने की आशा क्षीण हो जाती है। क्योंकि अधैर्य के कारण अपने बल को संजोया

नहीं जा सकता है। अतः शत्रुपक्ष का बल का माप तो अवश्य निकालना चाहिये। किन्तु साथ ही अपने को कितना बल जुटाना होगा—इसका निर्णय साहस के साथ करना चाहिये। २. गुरुदेव यह निर्णय देते हैं कि 'तुम दुर्बल नहीं हो।' क्योंकि तुम्हें प्रभु के वचनों पर विश्वास हो गया है। कषाय ही समस्त दुःखों के हेतु प्रतीत हो रहे हैं। वे शत्रुवत् भासित होते हैं और तुम उनसे छुटना चाहते हो। ये चार बातें होने से तुम अपना बल बढ़ा सकोगे। ३. तुम में शत्रु के बल को जानने की शक्ति है तो तुम अपना बल भी जान सकते हो और कषाय शत्रु की दुर्बलता के स्थान को जानकर उसके बल को तोड़ सकते हो। ४. किसी विश्वविद्यालय के एम. ए. आदि उच्चकक्षा के छात्रों के अनुत्तीर्ण हो जाने पर नीचली कक्षा के छात्रों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? क्या वे अध्ययन करने में निरुत्साहित होते हैं? नहीं। वे तो अपने फल की ओर ही ध्यान रखते हैं और अपने उत्तम परीक्षा-फल से उत्साहित होकर आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। यही बात यहाँ भी समझना चाहिये। उच्च गुण-स्थान स्थित जीव की असफलता की ओर न देखकर, अपनी सफलता को देखते हुए आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

उन कषाय-शत्रुओं के विनाश का क्रम बतलाते हैं—

तेसि जेउं तु कंखसि, किसे वसे खयं कर ।

अप्पमत्तो सया होज्जा, मा दोसंभ समं जय ॥४॥

यदि तू उन्हें जीतना चाहता है, तो उनको क्रुश, वश और क्षय कर। सदा अप्रमत्त रहो। (उन पर) विश्वास मत करो और (उन्हें जीतने के) श्रम में यत्न करो।

टिप्पण—१. कषाय अनादि काल से जीव से संलग्न हैं। वे चिरकालीन अभ्यास के स्वभाव के सदृश हो गये हैं। इसलिये उन्हें एकदम क्षय करना संभव नहीं है। २. पहले कषाय को दुर्बल करके, उनके वशीभूत होने की अपनी दुर्बलता का त्याग करना चाहिये। फिर उन्हें अपने वश करके क्षय

करना चाहिये । ३. दुर्बल होते हुए कषाय क्षयवत् हो जाते हैं या अपने स्वाधीन हो गये हैं—इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये + क्योंकि वे कभी भी जरा-सी असावधानी से सबल होकर जीव को अपने अधीन कर लेते हैं । ४. उन्हें जीतने के लिये सतत श्रम करना चाहिये और अप्रमत्त रहना अर्थात् अपने चित्त को उनसे वासित नहीं होने देना चाहिये । कषायों को दुर्बल करने के उपाय कहते हैं—

किसीकाउं कसायाणं तेहितो मुत्तिमिच्छसि ।

^१तस्सरूपं तु चिन्तेज्जा, ^२ते निरिक्खज्ज अप्पणि ॥५॥

तेसि, ^३हाणि च ^४हेयत्तं, ^५अगिज्झयं ^६अणप्पयं—

पस्स, ^७मा गिण्ह, ^८मा कुज्जा, रइं ति होज्ज दुब्बला ॥६॥

हे भव्य ! यदि उन कषायों से मुक्ति चाहता है, तो उन्हें कृश करने के लिये उनके स्वरूप का चिन्तन कर, अपने में उनका निरीक्षण कर—

उनकी हानि, हेयता, अग्राह्यता और अनात्मता को देख । (उन्हें) ग्रहण मत कर । उनमें रति मत कर । इन (उपायों) से (वे कषाय) दुर्बल होते हैं ।

टिप्पण—१. इन दो गाथाओं में आठ द्वारों का नाम-निर्देश किया है । यथा—१. स्वरूप-चिन्तन, २. निरीक्षण, ३. हानि पश्यना, ४. हेयत्व-पश्यना, ५. अनुपादेयता-पश्यना, ६. अनात्मता-पश्यना, ७. अपरिग्रह और ८. अरति । २. कषायों का स्वरूप-चिन्तन करने से उनकी असलियत का पता चलता है । आत्मा में उनके अस्तित्व का निरीक्षण करने पर उन्हें ग्रहण करने की बौद्धिक क्षमता की वृद्धि होती है । उनकी हानि के दर्शन से उनके प्रति पक्षपात का अभाव होने लगता है । उनके हेयत्व के चिन्तन से उनकी तुच्छता का निर्णय होता है । उनकी अनुपादेयता के दर्शन से उनकी ग्राह्य-बुद्धि समाप्त होती है । उनका परिग्रह नहीं करने से आत्मा में उनका

स्थायित्व नहीं रह पाता है और उनमें अरति होने पर उनका बल टूट जाता है । ३. इनके सिवाय और भी कषाय-दौर्बल्य के उपाय हो सकते हैं ।

१. स्वरूप-चिन्तन-द्वार

इस प्रकरण में प्रत्येक कषाय की क्रिया, अनुक्रिया और प्रतिक्रिया का वर्णन करते हुए उनकी पहचान, स्तर और उनकी उत्पत्ति के किंचित् कारणों पर विचार किया गया है ।

(१)

भेद-जलन-अप्रीति-ईर्ष्या-दायगो मणे ।

तालणं तज्जणं कोहो, तित्तिणं दायगो बहिं ॥७॥

भेद, जलन, अप्रीति, ईर्ष्या आदि को मन में प्रदान करनेवाला और बाहर (=काया और वचन में) ताड़ना, तर्जना, चिड़चिड़ाहट (आदि) प्रदान करनेवाला क्रोध है ।

टिप्पण—१. इस गाथा में क्रोध की उसके कार्यों से पहचान बताई है । ये क्रोध के कार्य भी हैं और मूल भी हैं । जब ये क्रोध के प्रकट होने के बाद होते हैं, तब वे उसके कार्य हो जाते हैं और जब वे पहले प्रकट होते हैं, तब वे क्रोध के प्रकट होने के हेतु बन जाते हैं । ये क्रोध के पोषक भी है । २. भेद = अलगाव की वृत्ति, विभाजन के भाव, फूट । जलन = ताप, ऊफान, मानसिक उष्णता । अप्रीति = प्रेम का अभाव होना, द्वेषभाव । ईर्ष्या = किसी के उत्थान को नहीं सहना, पर-गुणों से मन में दुःख होना । आदि शब्द से असहिष्णुता, अतितिक्षा, परायेपन की बुद्धि आदि भाव ग्रहण किये हैं । ये सब भीतरी-मानसिक भाव हैं । ३. ताड़ना = मार-पीट । यह कायिक कार्य है । क्रोध से ताड़ना का उद्भव होता है और हँसी-मजाक में की जानेवाली झूमा-झपकी आदि से क्रोध उत्पन्न होता है । जो भी हानि,

पीड़ा, प्रहार, वध आदि के कार्य हैं, उनके मूल में क्रोध रहता है। उन सभी प्रहारात्मक कार्यों को उपलक्षण से ग्रहण कर लेना चाहिये। ये क्रोध के बाह्य कार्य हैं। ४. तर्जना = दुत्कारना, झिड़कते हुए बोलना। तित्तिण = चिड़-चिड़ाना, बड़बड़ाहट करना। ये दोनों वचन के कार्य हैं। प्रायः हृदय में जलते रहने से ये कार्य उत्पन्न होते हैं। फिर इनसे क्रोध परिपुष्ट होता है। ५. क्रोध से ये विकार होते हैं या इन विकारों से क्रोध होता है—यह परखते रहना चाहिये।

क्रोध से होनेवाली जीव की दशा—

पाउब्भओ उरे कोहो, जीवं तावेइर्जभतरं ।

बहिं भामेइ जोगे य, जणे तडतडावइ ॥८॥

हृदय में प्रकट हुआ क्रोध जीव को भीतर से तपाता है। बाहर में योगों को (विपरीत रूप से) मोड़ता है और मनुष्यों को तड़तड़ाता है—आकुल-व्याकुल कर देता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में क्रोध की अभिव्यक्ति से होनेवाली जीव की चेष्टाओं का वर्णन है। २. क्रोध मोहकर्म की प्रकृति है। मन के अनुकूल कार्य नहीं होने पर या अन्य किसी बाह्य निमित्त से अथवा उस कर्म की स्थिति पूरी होने पर क्रोध मोहनीय का उदय होता है। कर्मण शरीर से वह प्रकृति चलायमान होकर आत्म-प्रदेशों में व्याप्त होती है। फिर उसका मन में या हृदय में प्रादुर्भाव होता है। ३. मन में प्रकट होने पर तद्योग्य शारीरिक द्रव्य में हलचल मचती है। फिर भीतर ही भीतर ताप-सा उत्पन्न होता है। ४. वह ताप मस्तिष्क में पहुँचता है। फिर सोचने-समझने की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। जिससे बाह्य योगों—वचन और काया की सहज क्रियाएँ विपरीत होने लगती हैं। ५. वचन से असभ्य वचनों का प्रयोग होता है। हाथ, पैर, आदि की विचित्र मुद्राएँ बनने लगती हैं। यही योगों का विपरीत मुड़ना है। ६. जैसे भाड़ की उष्ण रेत में अनाज के दाने तड़-

तड़ाहट करते हैं, वैसी ही स्थिति क्रोध से अभिभूत मनुष्यों की हो जाती है ।
७. ये क्रोध से उत्पन्न क्रियाएँ हैं । ये मुख्यतः तीन हैं—अन्तरताप, योग-
वक्रता और व्याकुलता । इस गाथा में इन्हीं का वर्णन है ।

कोहस्साणुक्रिया होइ, अग्नि वाष्पं व मुंचइ ।

परे वाष्पं च ताडेइ, मिसमिसिज्जएऽन्तरे ॥९॥

क्रोध की (विभिन्न स्थितियों में विभिन्न) अनुक्रिया होती है । (क्रोधा-
विष्ट मनुष्य नेत्रों से) या तो अग्नि या वाष्प जल छोड़ता है । दूसरे को या
अपने को ताड़ित करता है अथवा भीतर ही भीतर मिसमिसाता रहता है ।

टिप्पण—१. अनुक्रिया अर्थात् क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया
विभिन्न परिस्थितियों में क्रोध से विभिन्न प्रकार की अनुक्रिया होती है ।
२. जहाँ मनुष्य का बल चल सकता है, वहाँ वह क्रोध में नेत्रों से अग्नि ही
बरसाता है । 'अग्नि बरसाना' उपलक्षण है । इसमें गालियाँ बकना, कटु
लेख लिखना, हाथ-पैर पटकना, तोड़-फोड़ करना आदि गर्भित हैं । ३. जहाँ
बल नहीं चलता है, वहाँ मनुष्य क्रोध में रोने लगता है—आक्रन्दन करता है ।
४. जहाँ शक्य हो सकता है, वहाँ दूसरों को मारता-पीटता है । वध
कर देता है । युद्ध करता है और जहाँ यह शक्य नहीं हो, वहाँ अपने
बाल नोंचने लग जाता है—अपने आपको पीटने लग जाता है या
आत्महत्या भी कर लेता है । ५. इनमें से कुछ भी शक्य नहीं
हो तो अपने आपमें जलता-कुड़ता रहता है । इसप्रकार क्रोध
अशान्त बना देता है । ६. तीन क्रियाओं से पाँच अनुक्रियाएँ
होती हैं । अन्तर्-ताप से दो अनुक्रियाएँ होती हैं—अग्निवर्षण और
वाष्प-मुंचन । योगवक्रता से दो अनुक्रियाएँ होती हैं—परपीड़न और आत्म-
पीड़न । व्याकुलता से एक अनुक्रिया होती है—हृदयदाह । इन्हीं पाँच अनु-
क्रियाओं का वर्णन इस गाथा में है । ७. क्रिया और अनुक्रिया से क्रोध का
आविर्भाव जात होता है । ये दोनों क्रोध-कर्ता में ही होती हैं । अग्नि-वर्षण

और परपीड़न अनुक्रिया से क्रोध बाहर में सार्थक होता है । जिससे क्रोधी को सन्तोष होता है । क्रोध के सार्थक न होने पर क्रोधी को असन्तोष होता है । जिससे बाष्प-मुंचनादि तीन अनुक्रियाएँ होती हैं । इनसे ही वह संतोष करता है ।

अब क्रोध की प्रतिक्रिया बतलाते हैं—

कोहो उप्पायए कोहं, अप्पाणम्मि परे जणे ।

न होज्ज वासिओ अप्पा, जिण-वयामएण जं ॥१०॥

जो जिनदेव के वचनामृत से आत्मा वासित नहीं हो तो क्रोध अपने और परजन में क्रोध ही उत्पन्न करता है ।

टिप्पण—१. क्रोध करने पर जिस पर क्रोध किया जाता है उसे भी क्रोध आता है । २. क्रोध उदित होने पर भावकर्म के रूप में परिणत हो जाता है । जिससे पुनः नये क्रोध रूपकर्म का बन्ध होता है । उस कर्म के उदित होने पर पुनः क्रिया, अनुक्रिया और प्रतिक्रिया का दौर चलता है । इसप्रकार यह कर्म-चक्र निरन्तर चलता रहता है । ३. जिस पर क्रोध किया जाता है, उसके हृदय में वैर जाग्रत होता है । जिससे वह भी क्रोध करता है । फिर उसके क्रोध से क्रोधी के हृदय में वैर जाग्रत होता है और वह पुनरपि क्रोध करता है । इसप्रकार वैर की परम्परा चलती है । ४. जो आत्मा जिनवचनामृत से भावित हो जाता है वह क्रोध के बदले क्रोध नहीं करता है तो वैर-परम्परा टूट जाती है तथा अन्य पर क्रोध आने पर पश्चाताप करता है—प्रतिक्रमण करता है तो बद्ध क्रोध रूप कर्म रस-विहीन होकर नष्ट हो जाता है । ५. जिनवचन से भावित आत्मा क्रोध को उदय में नहीं आने देता है । यदि उदय में आ गया हो तो उसकी क्रिया होते ही सम्भल जाता है और उसे अनुक्रिया तक नहीं पहुँचने देता है । कदाचित् यत्किञ्चित् अनुक्रिया-प्रतिक्रिया भी हो गयी हो तो वे निष्फल हों वैसे प्रयत्न

करता है। ६. जिन-वचन से अभिवित आत्मा की तो नियति यही है कि वह इस चक्र में फँसा रहे।

क्रिया को पहचानने के लक्षण—

उदिओ य मणं दुट्ठं, वयणं असुहं खरं।

कायं हिंसामयं किच्चा, दुत्थं जोगं करेइ सो ॥११॥

क्रोध उदित होकर मन को दुष्ट = द्वेष या बुरे भाव से युक्त करता है। वचन को अशुभ और कर्कश या कठोर बना देता है और काया को हिंसामय (= हिंसा की चेष्टा से युक्त) करके, वह (क्रोध) इसप्रकार योग को दुःस्थ (= दुष्प्रणिधानवाला) कर देता है।

टिप्पण—१. क्रोध रूप कर्म के उदय में आने पर उसकी क्रिया प्रारंभ हो जाती है। २. यदि किसी के प्रति द्वेष, किसी का बुरा करने के भाव या अनिष्ट करने के भाव हो तो समझना चाहिये कि क्रोध ने अपना कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। ३. वचन की अशुभता और कर्कशता भी क्रोध के उदय के चिह्न हैं। ४. काया में पर अहित-कर चेष्टाएँ भी क्रोध जनित होती हैं। ५. ऐसी या इनके सदृश और भी कोई दुष्ट क्रियाएँ हों तो वे क्रोध के उदय का संकेत देती हैं।

क्रोध के स्तर की पहचान—

गिरी-पुढवि-वालय-उदअ-राइओ समो।

होइ चउव्विहो कोहो, मंदो य कमसो गई ॥१२॥

पर्वत, पृथ्वी, बालू-रेत और जल की रेखा के सदृश चार प्रकार का क्रोध होता है। (इसप्रकार भेद लक्षणवाले क्रोध के ये चार स्तर हैं।) ये क्रोध के स्तर क्रमशः मन्द हैं। इनमें प्रविष्ट होकर काल-धर्म को प्राप्त होनेवाले जीव क्रमशः चार गतियों में जाते हैं।

टिप्पण—१. गिरिराजि=पर्वत की फाट । पृथ्वीराजि=पृथ्वी की तड़ । वालुराजि=वालु रेत में खिंची हुई लकीर । जलराजि=जल में खिंची जाती हुई लकीर । २. क्रोध का प्रधान कार्य भेद है । भेद जितना गहरा और स्थायी होता है, उतना ही क्रोध तीव्र होता है । अनन्तानुबन्धी आदि प्रकार के क्रोध की तीव्रता को समझने के लिये इन चार राजियों की उपमा दी गयी है । ३. जैसे पर्वत की फाड़ प्राकृतिक कारणों से होती है । फिर उस फाड़ को जोड़ना किन्हीं प्रयत्नों से संभव नहीं होता है । इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी स्तर का क्रोध, जो मन में भेद उत्पन्न करता है, वह किसी के भी प्रयत्न से नहीं पटता है और वह उस क्रोध के उदय से चलता रहता है । उसे किसी निमित्त की प्रायः अपेक्षा नहीं रहती है । ४. तद्योग्य प्राकृतिक कारणों के अभाव से या अन्य प्राकृतिक कारणों से वह गिरिराजि पट जाती है । वैसे ही अनन्तानुबन्धी के क्षय से या उसके बन्ध के अभाव से तज्जनित भेद का अभाव हो जाता है । किन्तु यह सौभाग्य से ही हो सकता है । ५. पृथ्वीराजि कृत्रिम-प्रयत्नजन्य और प्राकृतिक दोनों प्रकार की हो सकती है । किन्तु वह थोड़े प्रयत्न से या वर्षा के जल से पट जाती है । वैसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध प्रबल निमित्त और स्वतः दोनों प्रकार जड़ जमाता है । उस क्रोध से उत्पन्न भेद कुछ अधिक श्रम से साध्य होता है अथवा बारह मास की भीतर-भीतर धर्म-भावना के प्राबल्य से वह भेद समाप्त हो जाता है । ६. वालुकाराजि कदाचित् प्राकृतिक होती है, किन्तु अधिकतर प्रयत्न-जन्य होती है । जहाँ हवा नहीं चलती है, वहाँ तक वह रेखा रहती है । किन्तु सहज ही प्रयत्न हो तो वह रेखा तुरन्त मिट जाती है । वैसे ही प्रत्याख्याना-वरणक्रोध से उत्पन्न भेदभाव तत्कर्म के उदय के कारण कदाचित् स्वतः होता है । परन्तु अति विरोध आदि कारणों से (देशविरतजनों के हृदय में) उदित क्रोध से वह भेद-रेखा निर्मित होती है । किन्तु आत्मालोचन आदि धर्म-अंगों से सीमित समय में वह भेदभाव स्वतः गायब हो जाता है और समझानेवाले सद्गुरु या सत्पुरुष के सामान्य से प्रयत्न से वह सहज में चला जाता है । ७. जलराजि कदाचित् स्वतः न तो अधिक गहरी ही होती है और न लम्बी ही किन्तु प्रयत्नजन्य होती है तो इधर खिंची जाती है और

पीछे तत्काल मिटती चलती है। वैसे ही संज्वलन क्रोध के उदय से स्वतः होनेवाला भेदभाव अत्यन्त क्षणिक और अप्रभावी होता है। यदि किसी के निमित्त से क्रोध-जनित भेदभाव होता है तो निमित्त के सम्मुख रहने तक रहता है और लम्बे समय तक स्थायी नहीं रहता है। धर्मभाव के प्राबल्य से क्रोध का अभाव स्वतः होता चलता है। ८. इनका उदय क्रमशः मिथ्यात्वी, अविरत सम्यक्दृष्टि, देशविरत और संयत को होता है। ये क्रमशः मन्द होते हैं—यह बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। ९. उनके उदय में यदि आयुष्य-बन्ध होता है तो क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव का आयु-बन्ध होता है। १०. ये उपमाएँ अपने-अपने क्रोध की गहराई नापने के लिये आवश्यक है। सम्भव है कि इनसे सही स्तर की पहचान न हो सके। किन्तु यह समझ तो आ सकती है कि भेदभाव जितना अल्पस्थायी और अल्पगहरा होगा, उतना ही उस क्रोध का स्तर मन्द होगा।

क्रोध की उत्पत्ति के कारण—

न सहे न खमे तत्तो, कोहो उप्पज्जए खरो ।

कामा आसा वि तज्जोणी, दुब्बल्लं जणस्स सो ॥१३॥

जो सहे नहीं—क्षमा करे नहीं तो उससे तीव्र क्रोध उत्पन्न होता है। काम = शब्द आदि और आशा भी उसकी योनि है। वस्तुतः वह मनुष्य की दुर्बलता है।

कसायातो हवे कोहो, स-पराण निरट्ठओ ।

कया उग्गो कया गूढो, जीवाजीवे गुणागुणे ॥१४॥

कषाय से क्रोध हो सकता है। वह अपने लिये, पराये के लिये और निरर्थक कभी उग्र रूप से तो कभी (हृदय में) छुपा हुआ हो सकता है। वह जीवों और अजीवों के प्रति और कभी गुणों के तथा दुर्गुणों के प्रति होता है।

टिप्पण—१. दोनों गाथाओं में क्रोध के पाँच कारण बताये हैं—
 १. असहनशीलता, २. असामर्थ्य, ३. काम, ४. आशा और ५. कषाय । २. असामर्थ्य अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुर्बलता । शरीर की दुर्बलता भी सहनशीलता को कम कर देती है । मानसिक असामर्थ्य में प्रधान है—अधैर्य । धैर्य के अभाव से भी जीव क्षुभित होता रहता है । ३. काम अर्थात् इन्द्रियों के विषयों की चाह । आशा अर्थात् किसी से कुछ भी पाने की भावना । इन दोनों के लिये इच्छा शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है । ये दोनों भाव क्रोध की योनि = उत्पत्ति स्थान सदृश ही हैं । ४. क्रोध से क्रोध की उत्पत्ति और वृद्धि होती है । मान-हानि से, माया के प्रकट होने से और लोभ के कारण भी क्रोध उदय में आता है । ५. अपने लिये, पराये के लिये, दोनों के लिये और किसी के लिये भी नहीं = निरर्थक—ये चार भंग क्रोध के प्रयोजन के विषय में प्रकाश डालते हैं । ६. क्रोध कभी तीव्र रूप से बाहर प्रकट होता है और कभी भीतर ही धधकता रहता है । ये दोनों क्रोध की अभिव्यक्ति के प्रकार बतलाते हैं । ७. क्रोध के चार पात्रों का उल्लेख किया है—जीव, अजीव सद्गुण और दुर्गुण । लोक में पदार्थ ही दो प्रकार के हैं—जड़ और चैतन्य । यहाँ 'जीव' शब्द से जिन जीवों से संसर्ग होता है उन्हें और 'अजीव' शब्द से जो जड़ पदार्थ इन्द्रियगोचर होते हैं उन्हें प्रमुख रूप से ग्रहण करना चाहिये । ८. सद्गुण के दो भेद—लौकिक और लोकोत्तर । लौकिक गुण के भी दो भेद—पुण्यजनित और क्षयोपशमजनित । यश, वैभव, सुख, सौन्दर्य, स्वरमाधुर्य आदि पुण्यजनित गुण हैं और विद्या, औदार्य, सदाशयता आदि क्षयोपशमजनित गुण हैं । इन लौकिक गुणों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अप्रीति आदि भाव हो सकते हैं । लोकोत्तर सद्गुण के तीन भेद—आराध्यगत, आराधकगत और आराधनागत । जिनदेव और सिद्धप्रभु के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि गुण आराध्यगत हैं । आचार्य का अनुशासन, उपाध्याय का शिक्षण और साधु का आत्मसाधन—ये आराधकगत गुण हैं और क्षमा आदि दश धर्म, महाव्रत, समिति आदि आराधनागत गुण हैं । इनके प्रति आक्रोश, अरुचि, अप्रीति आदि रूप क्रोध हो सकता है । ९. दुर्गुण के दो प्रकार—पौद्गलिक और आत्मिक ।

शारीरिक व्याधियाँ, अभाव से उत्पन्न दुःख, कुरूपता, अपयश, विघ्न-बाधाएँ आदि पौद्गलिक दुर्गुण हैं तथा मानसिक रोग, अज्ञान, ऐन्द्रियिक ज्ञान की हीनता, काम, क्रोध, अश्रद्धा, निद्रा आदि आत्मिक दुर्गुण हैं। इन दुर्गुणों के प्रति भी क्रोध उत्पन्न हो सकता है। १०. 'क्रोध आना' आत्मिक सामर्थ्य की न्यूनता का चिह्न है। लौकिक नीतिकार ने भी कहा है—**क्षमा वीरस्य भूषणम् ।**

मान के कार्य—

सोच्चत्वं पर-हीनत्वं, अप्यगुणस्मि पुण्यया ।

महत्त्वं पर-वत्थूणं, थद्वत्त्वं ह्येतिमानो ॥१५॥

अपने में उच्चता के भाव, दूसरों में हीनता के भाव, (अपने) अल्प गुण में पूर्णता के भाव, परवस्तु की महत्ता के भाव और स्तब्धता = अकड़ के भाव मान से होते हैं।

टिप्पण—१. मान मोहनीय कर्म के उदय से जीव में अपने बड़प्पन और पर की तुच्छता के भाव होते हैं—उसे मान कहते हैं। २. मान की दो प्रकार से अभिव्यक्ति होती है—अपने प्रति बहुमान और दूसरे के प्रति तिरस्कार भाव। ३. पर्यायों के दो प्रकार हैं। यथा—द्रव्याश्रित और गुणाश्रित। इनके भी शुभ-अशुभ दो-दो भेद हैं। उत्तमकुल में जन्म, पूज्यत्व, यौवन, स्वास्थ्य आदि द्रव्याश्रित शुभ पर्याय हैं और निम्न कुल में जन्म, निदनीयता, वृद्धावस्था आदि द्रव्याश्रित अशुभ पर्याय हैं। शरीरगत वर्णादि की विशेषता, ज्ञानादि गुणों की अधिकता, पूर्णता आदि गुणाश्रित शुभ पर्याय हैं और इनसे विपरीत गुणाश्रित अशुभ पर्याय हैं। ४. यहाँ मान के प्रमुख रूप से चार कार्य बतलाये हैं। यथा—द्रव्याश्रित शुभ पर्यायों में गर्व, गुणाश्रित शुभ पर्यायों में गर्व, इष्ट संयोग में गर्व और स्तब्धत्व अर्थात् अकड़। अपने को उच्च और दूसरे को हीन मानना—यह द्रव्याश्रित शुभ पर्यायों का गर्व है। अपने को गुणों में पूर्ण मानना और दूसरे को तुच्छ—यह

गुणाश्रित शुभ पर्यायों का गर्व है। विपुल वैभव, अनुकूल जन, यश आदि के संयोग में गर्व—इष्ट संयोग में गर्व है और उद्वण्डता से युक्त तथा विनम्रता से रहित व्यवहार करना स्तब्धत्व है। ५. अपने उच्चत्व, श्रेष्ठत्व, गुण आदि का बोध, उनमें प्रसन्नता आदि मान नहीं है, किन्तु ज्ञानशुद्धि, चरित्र-शुद्धि आदि हैं। ६. उच्चत्व आदि के भाव के साथ अन्य को हीन आदि समझने के भाव के जुड़ने पर जो नशे से उन्मत्त-सी दशा हो जाती है, वही मान है। जैसे—‘मैं ही बड़ा हूँ’ ‘मैं ही श्रेष्ठ हूँ’ ‘मैं ही गुणी हूँ’ आदि में जो ‘मैं ही’ का आग्रह है वही मान का रूप है। क्योंकि इनमें दूसरों के प्रति तुच्छता का भाव जुड़ा हुआ है और दूसरे भी मेरे सदृश या मुझसे विशिष्ट हो सकते हैं—यह बोध विलुप्त हो गया है। ७. अप्यगुणम्मि के दो अर्थ—आत्मगुण और अल्प गुण। दोनों अर्थों का आश्रय सदृश ही हैं अर्थात् अपने को प्राप्त थोड़े से गुणों को भी अधिक मानना—पूर्ण मानना तथा किसी के अधिक और विशेष गुण को भी अंश मात्र मानना या मानना ही नहीं—मान का ही कार्य है। ८. पर-वस्तु अर्थात् पौद्गलिक पदार्थ, सुन्दर-सुदृढ़ शरीर, धन-जन-पशु आदि। इनके संयोग में अपना गौरव मानना और ज्ञानादि गुणों, धर्म, नीति आदि को तुच्छ मानना—इनको महत्त्व नहीं देना—यह भी मान कषाय का कार्य है। ९. मानकषाय कर्म सत्ता से चलायमान होकर आत्मप्रदेशों में व्याप्त हो जाता है। तब छाती फुलाकर चलना आदि अकड़ भरे कार्य होते हैं। यही मान की क्रिया है।

मान की अनुक्रियाएँ—

विसिट्ठियाइ उम्माओ, तहा अभावओ दुहे ।

सम्भावओ सुहे मुच्छा, रुवा माणस्स दो विहु ॥१६॥

(अपनी) विशिष्टता का उन्माद और (विशिष्ट पदार्थों के) अभाव से (उत्पन्न) दुःख में और (अनुकूल पदार्थों के) सद्भाव से (उत्पन्न) सुख में मूर्च्छा-ब्रेभान दशा होना—ये दोनों ही सचमुच में मान के ही रूप हैं—मान की ही अनुक्रियाएँ हैं।

टिप्पण—१. जब विशिष्ट गुण, पदार्थ आदि पुण्य से जीव को उपलब्ध होते हैं, तब जीव को उनके वैशिष्ट्य का नशा-सा छा जाता है। उसमें वह बौरे-सा व्यवहार करने लगता है। यह उन्माद मान की अनुक्रिया है। २. अनुकूल पदार्थों के अभाव में दुःख उत्पन्न होता है और उनके अस्तित्व में सुख उत्पन्न होता है। उस दुःख में दीन बनकर और सुख में आसक्त होकर मूढ़ बन जाना—ये भी मान की अनुक्रियाएँ हैं। ३. मान से स्तब्धता रूप क्रिया होती है और फिर आगे चलकर उन्माद और मूढ़ता दो अनुक्रियाएँ होती हैं। ये मान जनित भी हैं और मान की पोषक भी हैं।

इसीको विशेष रूप से बताते हैं—

**पतस्स वत्थुस्स गुणस्स मत्तया, वुत्तं मयं लद्ध-महत्थ-उच्चया ।
सा गारवो जाज्जुय-हीणया भवे, पत्तुं महत्तं न करेइ किं मया॥१७॥**

प्राप्त वस्तु और गुण की उन्मत्तता को मद कहा गया है और उपलब्ध महार्थ से अपनी उच्चता के भाव और उसके अभाव से जो हीनता के भाव होते हैं—वे गौरव हैं। महत्त्व को प्राप्त करने के लिये मान के कारण जीव क्या नहीं करता है?

टिप्पण—१. वस्तु के तीन भेद—सचित्त, अचित्त और मिश्र । सचित्त वस्तु अर्थात् हस्ति, अश्व, गौ आदि । अचित्त वस्तु अर्थात् सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य, महल आदि । मिश्रवस्तु अर्थात् बाग, बगीचा, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित पत्नी-पुत्र-पुत्री-पौत्र, दास-दासी आदि । २. गुण के दो भेद— कर्मज और कर्म के क्षयोपशम से लब्ध । शुभकर्मजन्य चार गुण—जाति, कुल, रूप और ऐश्वर्य और क्षयोपशमजन्य चार गुण—बल, तप, श्रुत और लाभ । यहाँ 'वस्तु' शब्द से ऐश्वर्य और 'गुण' शब्द शेष सात विशेषताएँ ग्रहण की गयी हैं। ३. इन वस्तुओं और गुणों से उत्पन्न उन्माद रूप अनुक्रिया मद है। उस मद के उसके कारणानुरूप आठ भेद किये हैं। वे क्रमशः इसप्रकार हैं—ऐश्वर्यमद, जातिमद, कुलमद,

रूपमद, बलमद, तपमद, श्रुतमद और लाभमद । ४. महार्थ—विशिष्ट भोग और उसके साधन । वे तीन हैं । यथा—ऋद्धि, रस और साता । उनके अस्तित्व में सुखानुभव करते हुए अपनी उच्चता मानना और उनके अभाव में दुःखानुभव करते हुए अपनी तुच्छता मानकर उनके अर्जन के लिये उत्सुक रहना—गौरव है । ऋद्धि गौरव आदि तीन गौरव कहे गये हैं । ५. इसप्रकार ये आठ मद और तीन गौरव मान की अनुक्रिया है । जीव इन्हें अपने महत्त्व का प्रदर्शन करने के लिये करता है । मदों और गौरवों से आविष्ट जीव का व्यवहार विचित्र हो जाता है ।

महत्त्व पाने के लिये जीव के नाटक—

करेइ मायं नमणं पकोबं, परिग्रहं तेण्ण वरेइ मोसं ।

धणव्वयं मोहरियं च मोणं, पत्तुं पसंसं रमए न किं किं? ॥१८॥

(मान पाने के लिये मनुष्य) माया, नमन और प्रकोप करता है; परिग्रह, चोरी, मृषावाद, धनव्यय, मौख्य और मौन का वरण करता है । (मनुष्य) प्रशंसा पाने के लिये क्या-क्या खेल नहीं खेलता है ।

टिप्पण—१. मान मनुष्य को विविध प्रकार के नाच नचाता है । २. मान पाने के लिये जीव छल, कपट, दाँव-पेंच आदि के जाल बुनता है—क्रोध से अनेक तूफान खड़े कर देता है । मान पाने के लिये किसी का अपमान और मान के विविध स्वांग रचना-सहज बात है । इसप्रकार मान के लिये जीव कषाय के विविध नाटक करता है । ३. मान पाने के लिये नमस्कार, विनय, सदाचार, शील, व्रत, तप, दान आदि धर्म के विविध रूपों का अभिनय भी किया जा सकता है । ४. मनुष्य विविध कलाएँ सीखता है, संग्रहालय बनाता है, काव्य रचनाएँ करता है, विविध वस्तुओं से घर सजाता है, वस्त्र-भूषणों से शरीर को सुसज्जित करता है, स्नो-पावडर से मुँह निखारता है आदि ये परिग्रह के विविध खेल क्यों खेलता है?—एक मात्र प्रशंसा पाने के लिये ही तो ! झूठी बातें बनाना, हाथ साफ करना, जादू दिखाना, कुश्ती

खेलना आदि मृषावाद, अदत्तादान, हिंसादि पापों के प्रसंगों की रचना इस मानदेव की पूजा के लिये ही तो होती है । ५. जिस धन के अर्जन के लिये समय-असमय में तनतोड़ परिश्रम किया जाता है, उसे पानी की तरह बहा दिया जाता है—उसका धुआँ उड़ा दिया जाता है—वाहवाही के लिये ही तो ! इसी हेतु अपनी समस्त तन-जनादि की शक्तियाँ खर्च की जा सकती है । ६. सन्मान पाने का प्रसंग हो तो कभी मनुष्य एकदम मुखर हो जाता है तो कभी एकदम मौन ! कितने खेलों को गिनाया जाय ?” ७. इस-प्रकार मान की अनुक्रियाओं का लेखा करना अत्यन्त कठिन है ।

मान की प्रतिक्रिया का स्वरूप—

माणेण जायए माणो, माणि हीलेंति माणवा ।

हसंति हत्थ-तालेण, जं अभाविअं मणं ॥१९॥

यदि (जिनाज्ञा से) अभावित मन होता है तो मान से मान ही उत्पन्न होता है और मानी की अन्य मानव अवहेलना करते हैं और हाथ से ताली बजाकर हँसते हैं ।

टिप्पण—१. मान की प्रतिक्रिया दो स्थान पर होती है—मानी में और अन्य मनुष्यों में । २. मनुष्यों में मानकषायवालों की विपुलता है । अतः परस्पर मान की टकराहट होती है । ३. स्व में मान की प्रतिक्रिया है—पुनः मानमोहनीय का बन्ध और परमें उसके मानकषाय का उदय होना—यह परस्थानीय प्रतिक्रिया है । ४. परके मान का उदय होने पर वह मानी की अवहेलना और उपहास करता है, जिससे क्रोध कषाय रूप प्रतिक्रिया पुनः मानी में उत्पन्न होती है । यों वैर-परम्परा का चक्र चल पड़ता है । ५. जिन आज्ञा से भावित चित्त में मान का उदय ही नहीं होता पाता है । उदय कदाचित् हो जाता है तो वह आगे अनुक्रिया तक नहीं पहुँच पाता है ।

मान की हार

रविप्रभ और अयःप्रभ दोनों सगे भाई थे। परन्तु दोनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर था। रविप्रभ ज्ञानी और विनीत था। किन्तु अयःप्रभ अल्पबुद्धि और अहंकारी था। रविप्रभ अपने लघु भ्राता के प्रति अति-वत्सल था। वह अपने भाई के दूषण छुड़ाना चाहता था। अतः वह समय-समय पर उसे प्रेम के साथ ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न करता था। यों अयःप्रभ भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति पूज्यभाव वाला था। किन्तु वह किसी भी बात को सहज में ही मान लेनेवाला जीव नहीं था।

उनके यहाँ वंश-परम्परा से एक तीक्ष्ण तलवार सुरक्षित चली आ रही थी। उसके पीछे पूर्वजों के गौरव की कहानियाँ जुड़ी हुई थीं। उनके पूर्वजों ने उसके बल से कई युद्धों में विजय-वैजयंती फहराई थी। वह तलवार इतनी तीक्ष्ण थी कि बीच के कैसे भी अवरोधों को काटती हुई शत्रु के सिर को धड़ से जुदा कर देती थी। फिर भले ही वे अवरोध काष्ठ के हों या लौह के हों—उन्हें छेदने में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। अयःप्रभ उस तलवार को धारण करने लग गया। उसने उस तलवार का प्रयोग करके परीक्षण कर लिया। अतः पूर्वजों की गौरवगाथाएँ निरी गल्प न रहकर सत्य कहानियों के रूप में सत्य सिद्ध हो गयी थीं। उस तलवार को धारण करने से उसका अहंकार दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा।

रविप्रभ को विचार आया कि 'यह अयःप्रभ इस अहंकार में कहीं कुछ अनर्थ न कर बैठे तो ठीक है। इसमें राजपूती अकड़ घर करती जा रही है। बात-बात में इसका हाथ तलवार की मूठ पर चला जाता है। यह कैसे समझे? कैसे इसका अहंकार दूर हो?

एक दिन प्रातःकाल के समय रविप्रभ घर के बाहर खड़ा था। पास में ही रुई का ढेर पड़ा था। तभी अयःप्रभ भी सामने आ गया। उसकी कमर में वही तलवार लटक रही थी। रविप्रभ ने कहा—“हमेशा तलवार बाँधे-बाँधे ही फिरते हो!”

अयःप्रभ ने तलवार की मूठ पर हाथ फिराते हुए कहा—“इसे क्षण भर भी दूर करने का मन नहीं होता है। बड़ी अद्भुत तलवार है, यह। बन्धु ! यह लौह के स्तंभ को खट से काट देती है, तो काष्ठ स्तंभ और मनुष्यों की गर्दन इसके सामने क्या चीज हैं।”

तब रविप्रभ ने उसे चुनौती के स्वर में रुई के ढेर की ओर संकेत करते हुए कहा—“अच्छा, तो इसके ही एक वार में दो टुकड़े कर दो।”

रविप्रभ की बात पर अयःप्रभ ने अट्टहास किया। वह बोला—“वाह भाई ! आपने भी खूब परीक्षा की बात कही। यह ढेर बिचारा खेत की मूली से अधिक नहीं है। यह लो !” यह कहकर उसने जोर से तलवार चलाई। किन्तु यह क्या ? तलवार हार गयी। तलवार ढेर के आरपार होकर भी उसके दो टुकड़े न कर पायी। ढेर ज्यों का त्यों खड़ा था। अब हँस पड़ा रविप्रभ ! अयःप्रभ को बहुत बुरा लगा। अतः वह रुष्ट स्वर में बोला—“यों क्यों हँसते हो भाई !”

रविप्रभ ने कहा—“नाराज क्यों होते हो ! चलो, इस ढेर की छाया के ही दो टुकड़े कर दो।” वह बोला—“कैसी बात करते हो, भ्रातः ! कहीं छाया के भी टुकड़े हुए हैं ?”

“क्यों नहीं हो सकते हैं ? यह तलवार सबको काट देती है न !”

“यह छाया कड़क पदार्थ थोड़े ही है !”

“अच्छा, तलवार कड़क पदार्थ को ही काट सकती है। तलवार भी कड़क और स्तंभ भी कड़क। कड़क कड़क से टकराता है और उसे काट देता है। किन्तु कोमल रुई के ढेर को—उसकी घनत्व से रहित छाया को भी नहीं काट सकती है—यह विश्वविजेत्री तलवार ! अर्थात् मानी-अकड़ से भरे जीव से मानी ही टकराता है—मानी ही मानी को काटता है। किन्तु मानी का मान मर जाता है विनम्र के सामने।”

रविप्रभ को नमस्कार करके अयःप्रभ बोला—“आज आपने मेरी आँखें खोल दी, भाई ! अहा ! उत्तम ज्ञान दिया। मान-अकड़ कड़काई

ही तो है। मानियों का मान टकराता रहता है—परस्पर। बलवान मानी दुर्बल मानी के मान को काट देता है। किन्तु वह बलवान मानी भी कोमल हृदयवाले नम्र मानव के समक्ष हतप्रभ रह जाता है। वाह ! वाह ! क्या उत्तम बात !”

“हाँ ! भाई ! विनयभाव से भावित आत्मा ही वास्तविक विनम्र होता है और उससे मानी का मान हार जाता है।”

महत्वा शक्ति की उत्पत्ति की पहचान—

स-महत्तस्स आसत्ती माणेण जायए मणे ।

कम्म-भावय-एगत्त, जाव हवेप्पणा सह ॥२०॥

जबतक कर्म का भावजनित एकत्व आत्मा के साथ रहता है, तब-तक मन में मान से अपने महत्व की आसक्ति की उत्पत्ति होती रहती है।

टिप्पण—१. कर्म का आत्मा के साथ तीन प्रकार का एकत्व संभव है—१. बन्धात्मक, २. उदयात्मक और ३. भावनात्मक। २. जब काययोग प्रवृत्त होता है, तब कर्म आत्मा में प्रविष्ट होकर उसके साथ जुड़ जाता है—आत्ममय बन जाता है—यह है बन्धात्मक एकत्व। ३. जब सत्तागत कर्म उदय में आते हैं, तब आत्मा कर्म के उदय से आकर्षित अन्य पुद्गलों से जुड़कर—कर्मजनित रस में लीन होकर तत्तत् अवस्थाओं में परिणत होता है—यह उदयात्मक एकत्व है। ४. कर्म की उदयावस्था में निर्मित आभ्यान्तर परिणति और बाह्य परिणति में अहंत्व का—मैं पन का आरोपण भावनात्मक एकत्व है। यहाँ इस भावनात्मक एकत्व को ग्रहण किया है। ५. महत्त्व की आसक्ति अर्थात् महत्वाकांक्षा। महत्वाकांक्षा के दो रूप हैं—आत्मिक महत्वाकांक्षा अर्थात् परमात्मस्वरूप पाने की अभिलाषा और अनात्मिक महत्वाकांक्षा अर्थात् पौद्गलिक भावों से बड़ा बनने की इच्छा। ६. आत्मिक महत्वाकांक्षा मानमोहनीय के उदय से नहीं होती है। किन्तु उसके आंशिक क्षयोपशम से होती है। किन्तु कर्म के

साथ आत्मा का भावनात्मक एकत्व होने पर और मानकषाय के उदित होने पर अनात्मिक महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होती है। ७. कर्म के साथ आत्मा का भावनात्मक एकत्व बना रहना मिथ्यात्व रूप है। आंशिक रूप से प्रमाद के कारण भी ऐसी अवस्था कदाचित् हो जाती है। ८. कर्म से भावनात्मक एकत्व के अभाव में मानकषाय के उदय होने पर भी भौतिक महत्व में आसक्ति समाप्त हो जाती है। ९. बन्धात्मक एकत्व दसवें गुणस्थान तक (कषाय के कारण) और उदयात्मक एकत्व तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। चौदहवें गुणस्थान में सर्वतः मुच्यमान दशा के कारण कर्मोदय होने पर भी उदयात्मक एकत्व नहीं रहता। १०. यदि तीसरा चरण कम्मय-भाव-एगत्तं और 'कर्म-जनित भावों में आत्मा एकत्व अनुभव करता है' यह हो तो यह भाव भी मान की उत्पत्ति का हेतु हो सकता है।

मानोदय के लक्षण—

सो उदिओ मणं दुट्ठं, वयणं हास-हीलियं ।

कायं करेइ थद्धं च, अप्पस्सअवमाणणं ॥२१॥

मान उदय (प्रभावशाली) होकर मन को द्वेषभाव से युक्त, वचन को हास-हीलना से युक्त और काया को स्तब्ध = तनी हुई कर देता है—आत्मा की अवमानना करता है।

टिप्पण—१. मान के मुख्य पाँच लक्षण बतलाये हैं—द्वेष, उपहास, तिरस्कार, तनना-तानना और आत्म-अवमानना। २. मान के उदय से मन में द्वेष या दुष्ट भावना—दूसरे का अहित करने की वृत्ति उत्पन्न होती है। ३. द्वेष की वृत्ति आगे बढ़कर उपहास में बदल जाती है। वचन में तीक्ष्ण उपहास मिश्रित हो जाता है। ४. हीलना अर्थात् तिरस्कार। यह दो प्रकार से अभिव्यक्त होती है—ज्येष्ठों और वरिष्ठों के प्रति आशातना के रूप में और समकक्ष तथा लघुजनों के प्रति तुच्छकार के रूप में। ५. स्तब्धता अर्थात् अकड़। अभिमान के कारण काया में जो तनने की चेष्टा

होती है, वह स्तब्धता है। मान का देह में सीधा प्रभाव गर्दन और छाती पर होता है। यों तानना-तनना तीनों ही योगों से हो सकता है। परन्तु देहगत स्नायुओं पर इसका प्रमुख रूप से प्रभाव होता है। ६. मानी जीव अपने पतन को देखकर भी नहीं देखता है। इसलिये आत्म-अवहेलना भी मान का ही लक्षण है।

अपना दुश्मन ?

(१)

युगवीरसिंह डबल एम.ए. हो गया। वह बहुत मेधावी छात्र था। कक्षा में सदा प्रावीण्य-सूची में अग्रगण्य रहा। वह भर यौवन में था। परन्तु उसने अभी तक विवाह नहीं किया था। क्योंकि वह किसी ईसाई नवयुवति के प्रेमपाश में बँध गया था।

उसका जन्म कट्टर जैनकुल में हुआ था। बचपन में उसमें कुछ धर्मवृत्ति थी। अतः उसे बचपन से ही जैनतत्त्वों का साधारण रूप से ज्ञान हो गया था। परन्तु बाद में वह जैन सन्तों के संपर्क में अधिक नहीं आया। उसे सन्त-दर्शन में रुचि नहीं रही थी। उसकी माता का देहावसान हो गया था और पिता रणधीरसिंहजी ने प्रव्रज्या अंगीकार कर ली थी। उसके होंश सम्हालने के पहले ही पिता दीक्षित हो गये थे। अतः उसके ज्येष्ठ भ्राता गुणधीरसिंह की छात्रच्छाया में ही उसका समस्त शिक्षण हुआ था। यद्यपि उसके ज्येष्ठ भ्राता ने उसे प्रेम देने में कुछ कमी नहीं रखी थी, फिर भी उसे पितृ-प्रेम की प्यास रह गयी। उसे अपने पिता रणक्षेत्र छोड़कर भागने-वाले योद्धा के समान पलायनवादी लगे। इसलिए उसे पिता के प्रति बहुमान जागा ही नहीं और कभी पितामुनि के दर्शन की उत्कण्ठा नहीं हुई। कभी जाता भी तो दर्शन की रश्म मात्र अदा कर आता और यही कारण था कि उसे अन्य मुनियों के प्रति भी कभी भक्ति-भाव नहीं जागा। सन्तों की संगति से वह प्रायः दूर ही रहता था। अतः उसका धर्म-ज्ञान अत्यन्त धुंधला हो गया था। कालेज-जीवन का स्वच्छन्द वातावरण था। शरीर पर

यौवन अठखेलियाँ कर रहा था। वासना और सौन्दर्य ने उसे मोहक रूप प्रदान कर दिया था। युवतियों के लिये वह आकर्षण का केन्द्र था। अन्ततः उसे कालेज की सबसे अधिक स्मार्ट युवति के प्रेम-पाश में बँधने में जरा भी हिचक नहीं हुई।

गुणधरसिंह को पता नहीं था कि मेरे लघु भ्राता का मन कहीं किसी में उलझ गया है। समाज के उच्चकोटि के श्रेष्ठियों की ओर से उसके सगपन की माँग आ रही थी। भाई भी विवाह-बन्धन में बँधने का आग्रह कर रहे थे। परन्तु वह विवाह टालता जा रहा था। इसीलिये उसने एम.ए. में दूसरी बार कालेज में प्रवेश लिया। उसका उद्देश्य तो प्रेयसी से सम्पर्क बनाये रखने का था। अध्ययन तो उसका एक माध्यम मात्र था। जब लग्न के लिये उसका आग्रह बढ़ने लगा, तब प्रेमिका ने कहा—“तुम मेरे पिता से मिलो।” उसे प्रेमिका का रख कुछ बदला हुआ-सा लगा।

वह उसके पिता से मिला। उसने वार्ता-प्रसंग में युगवीर से पूछा—“क्या तुम्हारे भाई इस विवाह से सम्मत हो सकेंगे?” “सम्भवतः नहीं।” “तो फिर उस घर में तुम्हारा स्थान नहीं रह सकता है।” “हाँ, नहीं रह सकता”—अब युगवीर संशक हो गया। उसने दाव खेला—“सम्भव है—समाज से भी बहिष्कार हो जाय और पैतृक सम्पत्ति का हिस्सा भी नहीं मिले।” परन्तु बात इससे विपरीत थी। उसकी नगद सम्पत्ति का एक बड़ा हिस्सा बैंक में उसीके नाम से जमा था और उसका कर्ता-धर्ता वही था। यदि भाई उसे अन्य सम्पत्ति न दे तो भी उस सम्पत्ति से उसकी आजीविका चल सकती थी। उसकी यह बात सुनकर प्रेमिका का पिता बोला—“तो मैं किस आधार पर अपनी पुत्री का विवाह आपके साथ करूँ?” वह बोला—“मैं इतना समर्थ हूँ कि अपनी आजीविका स्वयं कर सकूँ।”

“आप ईसाई बनते हों तो आपकी सभी समस्याएँ हल हो सकती हैं। आपको उच्च स्थान पर सर्विस मिल सकती है। हमारे समाज में आपको सम्मान भी मिल सकता है और एमिली के साथ आपके लग्न की हो संकता है।”

युगवीर को यह बात सुनकर बहुत बड़ा आघात लगा—‘अरे रे ? इसीलिये यह प्रेम का सुनहरी जाल फैलाया गया था !’ फिर भी वह संयत स्वर से बोला—“पहले आपके धर्म का अध्ययन तो करूँ । फिर सोचूंगा कि ईसाई धर्म का अनुयायी बनूँ या नहीं ?” यह सुनकर ऐमिली के पिता प्रसन्न हो गये । उसने उसे ईसाई धर्मग्रन्थ भेंट में दिये ।

युगवीर बाइबिल पढ़ी । परन्तु उसकी बुद्धि उससे सन्तुष्ट नहीं हुई । उसने प्रेमिका के पिता की शर्त यह कहकर ठुकरा दी, कि—“धर्म और प्रेम में क्या संबन्ध ? मैं अपने ही धर्म की आराधना नहीं करता । मैं धार्मिक हूँ ही नहीं तो धर्मान्तरण की बात ही कहाँ रही ? हाँ, मुझे प्रेम में आस्था है । प्रेमी का धर्म प्रेम ही होता है । बस, उससे संबन्धित धर्म को धारण करने को मैं तैयार हूँ ।”

“तब तो आप अब इस घर में आवें ही नहीं ।”

“क्या ऐमिली की भी यही इच्छा है ?” “हाँ, यही इच्छा है ।”

“मैं उससे एक बार मिलना चाहता हूँ ।”

“परन्तु वह तुमसे मिलना नहीं चाहती ।” “अच्छा !”

युगवीर की आँखों के आगे अँधेरा छा गया । वह लड़खड़ाते पाँवों से चल पड़ा । वह उस युवति से बहुत प्रेम करता था । वह उदास हो गया । कुछ दिन बाद उसने सुना कि ऐमिली का विवाह उसके एक प्रतिस्पर्धी के साथ हो गया है । इससे उसे बड़ा दुःख हुआ । उसके अहंकार को बहुत बड़ी ठेंस लगी । गुणधीर का उसकी उदासीनता की ओर ध्यान गया । उसने एकदिन प्रेम से युगवीर से कहा—“भाई ! तुम इन दिनों बहुत सुस्त दिखाई दे रहे हो । क्या बात है ?”

“कुछ भी तो नहीं ?”—उसने बात टालना चाही ।

गुणधीर ने हँसकर कहा—“भाई ! अब तुम्हें गृह संसार में अपने

कुंकुम-चरण धरने चाहिये ।” युगवीर को भाई की बात सुनकर घबराहट होने लगी । उसका मुख एकदम स्याह हो गया । वह कुछ हकलाता हुआ-सा बोला—“आपका आशय...आशय विवाह का है...पर-परन्तु अभी नहीं ।” गुणध्वीर उसकी बात पर जोर से हँस पड़ा । फिर वह बोला—“विवाह कोई अजूबा थोड़े ही है, मेरे भाई ? क्यों घबरा रहे हो इतने ? अच्छा, कुछ दिन बाद ही सही । एक-दो महिने विदेश की सैर कर आओ । देशाटन से तुम्हारी उदासी मिट जायेगी ।”

युगवीर को यह बात पसंद आ गयी । यूरोप आदि देशों में घूमने का तीन महिने का वीशा बन गया और वह विदेश में घूमने के लिये प्रसन्न मन से वायुयान के द्वारा रवाना हो गया ।

(२)

युगवीर विदेश से घूमकर आ गया । लेकिन उसकी उदासी पूरी तरह नहीं टूटी । प्रेमिका का विश्वासघात उसके हृदय में शूल के समान कसक रहा था । उसे किसी भी बात में रस नहीं रहा था । उसे बार-बार मन में आत्मघात करने का विचार आता था । उसका मन बड़ा ही अव्यवस्थित हो उठा था । उसके मान पर बहुत बड़ी चोट पड़ी थी ।

तभी मुनि रणधीरसिंहजी अपने गुरु के संग विचरण करते हुए वहाँ पधार गये । घर के सभी जन उनके दर्शन करके प्रफुल्लित हो रहे थे । युगवीर को भाई ने कहा—“अपने पिताजी महाराज पधारें हैं । दर्शन करने गये या नहीं ?” उसे यह बात सुनकर कुछ भी उल्लास नहीं हुआ । परन्तु उत्तर देना आवश्यक था । अतः वह यों ही अनमने भाव से पूछ बैठा—“कब पधारें ? मुझे तो कुछ पता ही नहीं” ।

भाई ने कहा—“कल ही तो । तुम अपने आप में ही खोये रहते हो । हो क्या गया है तुम्हें आजकल !” अपना पिंड छुड़ाने के लिये

बोला—“ऐसा कुछ नहीं है। आजकल में कुछ पढ़ने में लगा रहता हूँ। अच्छा अभी हो आता हूँ। क्या प्रवचन भी होते हैं?”

“हाँ, हम प्रवचन में ही तो जा रहे”—भाई ने कहा। उसने आश्चर्य से पूछा—“क्या तुम प्रवचन सुनोगे?” भाई का आश्चर्य उसके लिये चुनौती जैसा हो गया। वह भाई का बड़ा आदर करता था। अतः कहीं कुछ गलत शब्द मुँह से न निकल जाय—इस हेतु सम्मेलनकर बड़े संकोच से झेंपता हुआ—सा वह बोला—“यों ही पूछ लिया। क्यों-क्या मैं प्रवचन नहीं सुन सकता हूँ?” गुणधীর ने सहज भाव से हँसकर कहा—“सुन सकते हो, भाई! ऐसा सौभाग्य तो तुम्हारा है ही। अच्छा, हम जा रहे हैं।” परिवार के अधिकांश सदस्य प्रवचन सुनने रवाना हो गये।

भाई की सहज भाव से कही हुई बात से उसका अहंकार फुँफ-कार उठा। उसे विचार आया—‘भाई साहब ने मुझे इतना भी नहीं कहा कि तुम भी प्रवचन में चलो। क्या मैं धर्म-दृष्टि से इतना तिरस्कृत हूँ?’ उसे गुणधীর की उपेक्षा अपना घोर अपमान लगी। उसने निर्णय किया—‘मन लगे या न लगे, आज पूरा प्रवचन अवश्य सुनना है। मैं यह जानता हूँ कि ‘कर्मजीव को नाच नचा रहा है, ‘जीव विषयों में फँसा हुआ है’ ‘संसार असार है-दुःखमय है’ ‘मोक्ष में ही शाश्वत् सुख है’ ये ही बातें रहेंगी प्रवचन में ! जो भी हो-आज प्रवचन सुनना है जरूर।’

युगवीर प्रवचन में पहुँचा। बहुश्रुत मुनिराज प्रवचन फरमा रहे थे। वे राग की दारुणता का चित्रण कर रहे थे। फिर उसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उससे होनेवाली जीव की दुर्दशा का वर्णन किया और उसी प्रसंग में तन्निमित्त से होनेवाले आत्महत्या के भाव का किञ्चित् विवेचन किया। युगवीर को प्रवचन में कुछ अद्भुतता लगी—अपनी स्वानुभूति की प्रतिध्वनि प्रवचन में प्रतीत हुई। उसका मन प्रवचन में रम गया। प्रवचन के बाद उसने अपने पिता

मुनि और अन्य मुनियों के दर्शन किये। आज मुनि-जीवन के प्रति उसके हृदय में किञ्चित् आकर्षण जाग्रत हुआ।

वह दूसरे दिन भी प्रवचन में आया। 'ऐसा सौभाग्य तो तुम्हारा है ही भाई के ये वचन उसके कर्ण कुहरों में गूँज रहे थे। आज का प्रवचन सुनकर लगा कि सचमुच में ऐसे प्रवचन सुनना सौभाग्य की ही बात है। आज दर्शन करते हुए मुनि रणधीरसिंहजी ने पूछा—“कुछ धर्म-आराधना करते हो या नहीं?”

“महाराज सा'ब ! धर्म के विषय में कुछ जानता ही नहीं हूँ, तो धर्म-आराधना की बात ही कहाँ है ? मात्र दो दिन से ही प्रवचन सुन रहा हूँ। इससे पहले कभी प्रवचन सुने ही नहीं।”

वात्सल्यसनी दृष्टि से अमृतवर्षण-सा करते हुए मुनिराज बोले—“प्रवचन सुनो। धर्म के सन्मुख बनो और आराधना करो।” उसके मुँह से अनायास ही निकल गया—“आपका आशीर्वाद सफल हो, गुरुदेव !” बोलने के पश्चात् उसे स्वयं आश्चर्य हुआ कि ये वचन मुँह से कैसे निकल गये। वह नित्य प्रवचन में आने लगा। उसे चित्त में शान्ति का अनुभव हुआ। उसके हृदय का घाव भर गया। पिता मुनीजी का वात्सल्य भरा सान्निध्य उसे मिल ही रहा था। एक दिन उसे विचार आया—“मैं आत्मघात की सोच रहा था। इससे मुनि बनना क्या बुरा है ?” अब उसका यह विचार मात्र विचार ही नहीं रहा, पक्का निर्णय हो गया और एक दिन साहस करके पिता मुनीजी के समक्ष अपने भाव प्रकट कर दिये। रणधीर मुनि को आश्चर्य भी हुआ और आनन्द भी। उन्होंने पूछा—“क्या कहा ? मेरे कानों को विश्वास नहीं हो रहा है !”

“अविश्वास का कोई कारण ही नहीं है। मेरा निर्णय पक्का है।”

“अच्छा, गुरुदेव के समक्ष तुम्हारी बात रखूँगा।”

रणधीर मुनि ने समय देखकर युगवीर की बात गुरुदेव को सन्मुख रखी। गुरुदेव ने कहा—“मुनीजी ! तुम्हें युगवीर की बात पर विश्वास

होता है क्या ? मैंने इसे कभी दर्शन करने आता भी नहीं देखा । अभी-अभी कुछ दिनों से ही इसे आते देखा है । वह प्रवचन में भी बैठता है । सुनता भी है मन लगाकर । किन्तु मुनिजी ? आज की उच्च शिक्षा प्राप्त आधुनिक विचारों का नवयुवक है । इसके हृदय में अचानक ही वैराग्य के अंकुर कैसे निकल आये ? ”

“गुरुदेव ? यह जन्मा तो जैनकुल में ही है । आपके प्रवचन प्रशम-रस से भरपूर है । किसी अजैन को भी वैराग्य आ सकता है—ऐसे हैं । तो फिर इसे वैराग्य क्यों नहीं आ सकता है ? ”

“आ सकता है—इससे मैं इन्कार नहीं करता हूँ । परन्तु युगवीर के हृदय में वैराग्य जागा है—इसमें संदेह है । ”

“गुरुदेव ! मैंने उसे कुछ भी उपदेश नहीं दिया । उसने स्वयं ही अपने भाव प्रकट किये हैं । वह उच्च शिक्षित युवक है । उसका दीक्षित होना हमारे संघ के लिये प्रभावक हो सकता है । फिर भी मेरा न तो उसके प्रति कुछ मोह है और न कुछ आग्रह है । जैसा गुरुदेव फरमायें, वैसा उत्तर उसे दे दूँ । ”

गुरुदेव मुसकराये । कुछ क्षण मौन रहकर बोले—“मुनिजी ! तुम्हारी भावना सुन्दर है । उसे ज्ञान सिखाने में कोई हानि नहीं है । अभी युगवीर को ज्ञान सिखाओ । फिर समय पर जो होगा सो देखा जायेगा । उसे यह कह देना कि वह अपने हृदय के भाव अपने तक ही सीमित रखे । ”

युगवीर ज्ञानार्जन करने लगा । वह ज्ञान सीखने गुरुदेव के चरणों में ही बैठने लगा । गुरुदेव भी उसकी वैराग्यवृत्ति देखकर दुविधा में पड़ गये । फिर उन्होंने सोचा—‘भगवान महावीरदेव तो सर्वज्ञ थे । वे जानते थे कि जमालीजी निहन्व हो जायेंगे । फिर भी उन्होंने उन्हें दीक्षा दी ही । अब मैं युगवीर को दीक्षा देने से इन्कार नहीं कर सकता हूँ । इसमें संप्रति जो जिनशासन-चरित्र धर्म के प्रति उल्लासभाव प्रकट हुआ है, यह उसके लिये तारक है—उपादेय है । फिर भावी भाव को तो कौन रोक सका है । ’

युगवीर ने अपने भाई के सामने अपनी भावना प्रकट कर दी । भाई को उसकी बात सुनकर आश्चर्य हुआ-विश्वास ही नहीं हुआ । उसने उसे बहुत समझाया । परन्तु उसने भाई की एक बात नहीं मानी । आखिर में गुणधीर ने आज्ञा दी और एक दिन युगवीर दीक्षित हो गया ।

(३)

युगवीर मुनि बड़े उत्साह में थे । उनकी प्रशंसा के गीत बहुत गाये गये । उन्हें बहुत बधाइयाँ मिलीं । इस प्रशंसा से यह भाव तो नहीं आये कि 'मैं जिनशासन पाकर कृतकृत्य हो गया हूँ । चरित्र-धर्म के पालन का मुझे स्वर्ण अवसर मिला है । मैं धन्य हो गया हूँ-गौरवशाली हो गया हूँ ।' किन्तु ये भाव उत्पन्न हुए-‘मैंने जैनधर्म में गौरव-पूर्ण कार्य किया है । मैं जिनशासन के गौरव की वृद्धि करूँगा ।’ युगवीर मुनि को संयम की प्रत्येक क्रिया में रस आ रहा था । वे बड़े उत्साह से आराधना में रत हो रहे थे ।

उनके प्रति नवयुवकों का अत्यधिक आकर्षण था । जहाँ भी कहीं जाते, उनकी प्रशंसा की जाती । नवयुवक उनके पास धर्मचर्चा करने आते । मुनिजी का ज्ञान अधिकचरा था । अभी तो ज्ञान का रंग कुछ लगा ही नहीं था । युवकों का धर्मज्ञान भी कोई विशिष्ट नहीं था । वे अपने साधारण ज्ञान के आधार से युवकों में धर्मचर्चा करते थे । उन्होंने अंग्रेजी में लिखे गये प्रसिद्ध जैनतर दार्शनिकों के यत्किंचित ग्रन्थ पढ़े थे । ‘चूहे को मिली चिदी और वह बन गया बज्राज’ जैसी उनकी स्थिति थी । वे अब जैनधर्म में क्रान्ति के सपने देखने लगे । युवक उन पर प्रशंसा के पुष्प बिखेरते हुए कहते-“आपके विचार युगानुकूल हैं । जैन मुनि अभी तक उपाश्रय की चहारदीवारी में ही बन्द रहे । जिससे जैनधर्म सिमटकर बणिकों तक ही रह गया । आप क्रान्ति करिये । फॉरेन जाइये । जैनधर्म को विश्व धर्म बनाइये ।” अब आराधना का रस मंद होने लगा ।

गुरुदेव कहते हैं—“थोड़ा ज्ञान कण्ठस्थ करो। थोड़ा स्वाध्याय बढ़ाओ।”

उसने गुरुजी को झट उत्तर दिया—“गुरुदेव ! मुझसे रटा नहीं जाता और रटने से क्या होता है। किताबों में सब छपा हुआ है ही। जब चाहें तब पढ़ सकते हैं—स्वाध्याय कर सकते हैं...”

गुरुदेव उनकी बात सुनते हुए उनके मुख के भाव पढ़ते रहे। उन्हें लगा कि इसे प्रशंसा का अजीर्ण हो रहा है। वे कुछ नहीं बोले। युगवीर मुनि को शास्त्रों के अध्ययन में रस नहीं आता था। वे इधर-उधर का साहित्य पढ़ते थे। वे अपने हृदय में शुभ भाव के उत्पादन और उसके पोषण के लिये कुछ भी नहीं करते थे। ‘मैं साधक हूँ’—यह भाव ही विस्मृत-सा हो रहा था। उन्हें प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि तारकपावन क्रियाएँ अकिञ्चित्कर और बोझ लगने लगीं। उन्हें विचार आया—‘क्यों न मैं डाक्टरेट कर लूँ?’

उन्होंने गुरुदेव से अनुज्ञा चाही—“गुरुदेव ? मैं डाक्टरेट करना चाहता हूँ।” गुरुदेव ने पूछा—“इससे तुम्हें क्या लाभ होगा ?” वे हँसते हुए बोले—“मुझे अध्ययन का लाभ होगा और संघ का गौरव बढ़ेगा कि एक मुनि इतने उच्च शिक्षित हैं !”

“आयुष्मन् ! अध्ययन की उच्चता का स्तर डिग्री नहीं है। आज जिन कबीर, तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि कवियों के काव्यों पर डाक्टरेट की जाती है, उन कवियों को कौनसी उपाधि प्राप्त थी। ज्ञान की स्तर-मर्यादा निर्मित होती है, उसकी गंभीरता, विशुद्धता, विपुलता, कल्याणरूपता आदि से। आयुष्मन् ! ये डिग्रियाँ अध्यात्ममार्ग के कण्ठक हैं। तुम डबल एम. ए. हो ही। अब और अपने आराधना-मार्ग में काँटे उत्पन्न मत करो—” गुरुदेव क्षण भर रुके। युगवीर मुनि का मुख एकदम भाव-विहीन फीका हो गया था। वे कुछ बोल न पाये। गुरुदेव पुनः बोले—“और मुनिजी ! संघ का गौरव तो तप और संयम की वृद्धि में है।”

युगवीर मुनि के हृदय में बड़ा दुःख हुआ । वे सोचने लगे—‘गुरुदेव पुराण-पंथी हैं । इनके विचार एकदम पिछड़े युग के हैं । मैं डबल एम. ए. शिक्षित युवक हूँ । मैंने विदेश देखा है । ये तो कूप-मण्डूक ही हैं । मैं इनकी आज्ञा में चलूँ ? क्या लाभ ?’ वे बोल तो कुछ नहीं सके । किन्तु उनके मन में गुरुदेव के प्रति द्वेष की ग्रन्थि पड़ गयी । गुरुदेव ने उन्हें डाक्टरेट करने की आज्ञा नहीं दी । उन्हें भी आज्ञा के उल्लंघन का साहस नहीं हुआ । जिससे द्वेष में वृद्धि ही हुई ।

गुरुदेव ने उनकी प्रशंसा करना बन्द कर दिया । वे क्रियाओं को सम्यक् रूप से साधने में प्रमाद करते । रत्नाधिक मुनि उन्हें प्रेरणा करते तो वे उनका उपहास करते हुए कहते हैं—“आप इतने वर्षों से ये क्रियाएँ कर रहे हैं । क्या उपलब्धि हुई आपको ?” इसप्रकार वे हर बार रत्नाधिकों का उपहास करते । उन्हें व्यंग-वचनों से वेध देते । वे साधु-संघ में अप्रिय होने लगे । रणधीर मुनि उन्हें समझाते-कुछ शिक्षा की बात कहते । वे झल्ला उठते—“मैं कहाँ आ फँसा ? कितनी संकीर्ण विचार-धारा है ! कहाँ है इनमें आत्म-विकास ? मैं ही इनमें सबसे अधिक शिक्षित हूँ । इसलिये मेरे प्रति ईर्ष्या है—इनके मनमें और गुरुदेव ने इसीलिये मुझे डाक्टरेट करने की आज्ञा नहीं दी कि कहीं लोग मुझे ही महत्त्व देने न लग जायें !”

रणधीरमुनि कहते—“चुप ! चुप ! ऐसा नहीं बोलते । गुरुदेव तो परम उपकारी हैं ।” वे व्यंग से कहते—“हाँ, परम उपकारी तो हैं ही वे ! डंडे के बल से वाड़े में बन्ध जो करते हैं ?”

अब कोई भी मुनि उनकी प्रशंसा नहीं करते । उनसे बात करने से कतराते । युगवीर मुनि के हृदय में उनके प्रति तिरस्कार की भावना पनपने लगी । कभी-कभी वे वन्दन भी ठीक-से नहीं करते । एक बार उन्होंने रणधीरमुनि से कहा—“स्थानक में बिजली का प्रबन्ध होना

चाहिये । रात में अन्धेरे में बैठे-बैठे क्या करें ? यदि प्रकाश हो तो कुछ पढ़ें ।” रणधीर मुनि ने कहा—“ऐसा नहीं हो सकता, वत्स ! जैसे अन्य मुनि जप, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं, वैसे तुम भी करो ।” उन्हें पिता मुनि की बात अति कटु लगी । वे चिढ़कर बोले—“नहीं हो सकता ! क्यों ? क्या इसके पीछे कोई तर्क भी है !” रणधीर मुनि बोले—“है क्यों नहीं ? हम आरंभ के त्यागी हैं और दीपक में आरंभ होता है । हमारे अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है । इसलिये हम दीपक का उपयोग नहीं कर सकते ।” मुनिजी बोले—“वाह ! सब में आरंभ है । बस, तब हम मर जायें तो ही संयम सुरक्षित रहेगा !”

एक दिन वे गुरुदेव से उलझ बैठे । वे बोले—“गुरुदेव ! यदि हम इन वैज्ञानिक साधनों की उपेक्षा करेंगे तो हम पिछड़ नहीं जायेंगे ?” “कैसी उपेक्षा और किसमें पिछड़ जायेंगे हम ?”

“गुरुदेव ! हम विद्युत, ध्वनि-प्रसारक, पंखा आदि वैज्ञानिक साधनों का उपयोग नहीं करेंगे—ज्ञान की नई-नई शाखाओं का अध्ययन नहीं करेंगे तो हमारे अनुयायी हमें छोड़ते चले जायेंगे और इसप्रकार हम पिछड़ जायेंगे ।”

“आयुष्मन् ! हमें आत्मदृष्टि से ही अध्ययन करना है—परदृष्टि से नहीं । ज्ञान की विविध शाखाओं के अध्ययन की कोई मनाई नहीं है । परन्तु वह अपनी मर्यादा में रहकर ही होना चाहिये । साधक का भला विज्ञता से नहीं, साधना से होता है—यह नहीं भूलना चाहिये । पहले अपनी साधना का रहस्य तो हृदयस्थ हो । फिर अन्य ज्ञान करो । यदि अन्य ज्ञान के अध्ययन से चित्त किसी मताग्रह में बँध जायेंगे तो साधना का ज्ञान ग्रहण कैसे होगा ? फिर साधना से भ्रष्ट होते देर नहीं लगेगी”—गुरुदेव ने युगवीर मुनि के मुँह पर दृष्टि डालकर बोलना जारी रखा—“अरे ! अनुयायियों के छोड़ देने की चिन्ता क्यों करते हो ? अभी भौतिकता की दौड़ तेज है । इसलिये धर्म की खप कम हो गयी है । परन्तु हमें अपनी साधना करते जाना है—कुछ

भी उसमें मिश्रण नहीं करना है । जिसे धर्म की सच्ची प्यास लगेगी तो वह खिंचा हुआ हमारे पास आयेगा ही । यदि उस समय हमारे पास शुद्ध धर्म होगा तो हम उसकी प्यास बुझा सकेंगे । इसमें पिछड़ने जैसा कुछ भी नहीं है ।”

“पर, गुरुदेव विद्युत सचित्त नहीं है”—

“मुनिजी ! विवाद में उतरना अच्छा नहीं है । प्रत्यक्ष रूप से जीव इन्द्रियगम्य है ही नहीं । आज का विज्ञान इतना समर्थ नहीं है कि वह किसी वस्तु की सचित्ता-अचित्ता का निर्णय दे सके । भौतिक विज्ञान की दृष्टि में अग्नि, मिट्टी, पानी आदि सचित्त हैं क्या ? विद्युत की सचित्ता का या अचित्ता का निर्णय अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं दे सकता । हम तो आगम-प्रमाण के अनुसार चलनेवाले साधारण साधक हैं । आगमों में ज्योति का आरंभ निषिद्ध है । विद्युत् दीप से आरंभ नहीं होता है क्या ? वह स्वयं महा-आरंभ से ही संचालित है और आरंभ करता है । उसके प्रयोग से पहले महाव्रत में दोष लगेगा ही ।”

“गुरुदेव ! भगवान् के जमाने में विद्युत् का प्रयोग था ही नहीं । ये हजारों वर्ष पुरानी व्यवस्थाएँ हैं । इनसे चिपटे रहने में कोई सार नहीं । आज द्रव्य, क्षेत्र आदि सभी बदल गये हैं । अतः युग के अनुसार धर्म का रूप भी बदलना होगा ।”

“तुम धर्म-मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो, मुनिजी ! तुम्हारे वचनों से प्रवचन की आशातना हो रही है—इसका तुम्हें कुछ ध्यान है । इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन का ही हमें सम्प्रति आलम्बन प्राप्त है । यदि इसकी जड़ें ही खोद डालोगे तो फिर साधना की क्या दशा होगी...” तुम अभी शान्ति से शास्त्रों का अध्ययन करो । इन बातों में मत पड़ो”—गुरुदेव ने बहस का उत्तर न देकर, बात पर पटाक्षेप कर दिया । क्योंकि उन्हें उस समय युगवीर मुनि की बात सुनकर आवेश

आ गया था। मुनिजी तो आवेश में थे ही। अतः बात कहीं गंभीर रूप धारण न कर ले—इस दृष्टि से उन्होंने बात वहीं समाप्त कर दी।

(४)

युवावय थी। तप की कमी थी। नित्य प्रति दूध-दही के सेवन के बिना चलता नहीं था। अतः विकार युगवीर मुनि पर आक्रमण कर रहे थे। वे संयम-भावना से आत्मा को भावित कर नहीं रहे थे। उन्हें भावना-योग का अभ्यास कोई पुरुषार्थ ही प्रतीत नहीं होता था। गुरुदेव का विकार-जय के लिये रस-परित्याग और अवमोदरिका का उपदेश था। परन्तु वह भी उनसे नहीं बन पाता था। एकाशन तो बहुत दूर की बात, वीयासन भी नहीं करते थे। वस्तुतः तप में विशेष रस नहीं था। अनशन तप में आस्था थी। परन्तु एक उपवास से आगे बढ़ नहीं पाते थे। साहित्य भी संयम-पोषक नहीं पढ़ते थे। मात्र प्रवचन देने के लिये पल्लव-ग्रहण के समान कुछ व्याख्यान-साहित्य आदि पढ़ लेते थे। खुद का कुछ भी चिन्तन नहीं था। विशेष रूप से पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते थे। काम विकार की हेयता के भाव ने हृदय में स्थान बनाया ही नहीं। वेदमोहनीय कर्म सत्ता में रहता ही है और वह उदय में भी आता ही रहता है। यदि साधक का ब्रह्म-चर्य भाव दृढ़ नहीं होता है तो मन की दुर्बलता बढ़ती जाती है और मैथुन संज्ञा साधक को विचलित कर देती है। कुछ ऐसी ही दशा थी—युगवीर मुनि की। वे विचार करते थे कि मैं अपने मन को कैसे जीतूँ !

युगवीर मुनि का ध्यान योग-ग्रन्थों की ओर गया। उन्होंने वे पढ़े। वे आसन आदि करने लगे। दुग्ध की मात्रा भी बढ़ाई। विकारों पर जय के बजाय मन की चञ्चलता अधिक बढ़ने लगी। उन्हें लगा कि जैनधर्म की साधना-पद्धति-भगवान महावीर की ध्यान-पद्धति नष्ट हो गयी। इसीलिए साधना में ओज की वृद्धि नहीं हो रही है। अब भगवान महावीर की ध्यान-पद्धति की खोज करनी होगी।

युगवीर मुनि को डाक्टरेट करने की ओर रात में विद्युत्प्रकाश में पढ़ने की अनुज्ञा प्राप्त नहीं हुई। इसलिये उन्हें बड़ा खेद हुआ। वे

सोचते थे—‘गुरुदेव इस सदी के जीव नहीं है। इन्हें युगबोध कुछ भी नहीं है। मैं उच्च शिक्षा प्राप्त फॉरेन-रिटर्न तिनके जितना भी महत्त्व नहीं रखता हूँ—इनकी सम्यग् दृष्टि में ! ये बड़े ज्ञानी हैं ! इनके द्वार नये विचारों के लिये बंद हैं। ये क्या अपना भला करेंगे और क्या संघ का भला करेंगे ? मैं तो इन लोगों के सत्संग से दूर था ! किन्तु कई उच्च शिक्षा सम्पन्न जन इनके संपर्क में आते हैं उनको वैराग्य क्यों नहीं आता—वे दीक्षित क्यों नहीं होते, इसका कारण अब समझ में आ रहा है। युग की आवाज को पहचानते ही नहीं हैं ये ! कितने दृढ़ रूढ़िवादी—कितने पुरातन पंथी हैं ये ! न बराबर साधना-पद्धति है और न ज्ञान का ही ठिकाना है। इन मूढ़ लोगों में आ फँसा हूँ मैं !’ इसप्रकार मन में गुरुदेव और साधुओं के प्रति द्वेष बनपने लगा। मन अशान्त था ही। अतः मानसिक बेचैनी बढ़ती जा रही थी। उन्हें वहाँ पद-पद पर अपनी अवहेलना-अवमानना होती हुई प्रतीत हो रही थी।

वे बड़े-छोटे किन्हीं भी मुनि के साथ सीधे मुँह बात नहीं करते थे। अतः उन्हें प्रेम कहाँ से मिलता ? मुनिजन उनकी उपेक्षा तो नहीं करते थे। परन्तु उनसे बात करने में सभी कतराते थे। उनकी साधना के अंगों की अवहेलना से मुनिजनों का प्रसन्न नहीं होना स्वाभाविक ही था। वे क्यों चरित्र-भ्रष्टता के अनुमोदन के पाप में पड़ते ?

अब युग वीर मुनि ने प्रतिक्रमण करना ही छोड़ दिया। वन्दना आदि में भी उपेक्षा होने लगी। एकदिन गुरुदेव ने उन्हें समीप बुलाकर प्रेम से कहा—“वत्स ! इसप्रकार तुम साधना की उपेक्षा क्यों करते हो ? तुम प्रतिक्रमण क्यों नहीं करते हो ?”

“क्या होना-जाना है, इन रटे-रटाये पाठों के पढ़ने से ? मेरे मन का कुछ भी समाधान नहीं हुआ—इससे। इसलिये मैंने प्रतिक्रमण करना छोड़ दिया। आपने भी प्रतिक्रमण से क्या पाया ?”

“आयुष्मन् ! हमने क्या पाया-इसका लेखा तो भगवान् ही बता सकेंगे । किन्तु तुमने प्रतिक्रमण छोड़कर क्या पाया, कहो तो बता दें ?”

“बताइये”—विद्रूप हँसी हँसते हुए युगवीर मुनि बोले ।

“प्रमाद । अपने दोषों का पोषण । गुरुजनों के प्रति तिरस्कार । साधना का विस्मरण । जिनशासन के प्रति अनादर और विकृत चिन्तन ।”

यह सुनकर युगवीर मुनि एकदम उत्तेजित हो उठे । वे क्रोध में तम-तमाते हुए बोले—“बस, आपके यहाँ यही साधना है—परदोष-दर्शन की ! मैं दोषी हूँ, प्रमादी हूँ, खराब हूँ । मेरा ही चिन्तन विकृत है और आप सबका उत्तम । दंभ की भी कोई सीमा है !...’

“शान्ति से बात करिये, मुनिजी !”—गुरुदेव ने उन्हें आगे बोलने से रोककर कहा—“अपना आपा मत खोइये । मुनिजी ! दोष को दोष और गुण को गुण समझना ही होगा । नहीं तो उसका परिमार्जन कैसे किया जा सकेगा—उनके परिवर्जन की प्रेरणा कैसे दी जा सकेगी ? यदि ऐसा नहीं किया जाय तो संघ में साधना कैसे व्यवस्थित रहेगी । क्रोध मत करिये । शान्ति से सोचिये और अपनी साधना को व्यवस्थित कीजिये ।”

“यदि ऐसा है तो मैं आपके संघ में नहीं रह सकूंगा । आपके यहाँ विचार-स्वातंत्र्य नाम मात्र को नहीं है ।” उनकी आँखों में क्रोध की ज्वाला भभक उठी ।

गुरुदेव ने वात्सल्य से स्निग्ध शब्दों में कहा—वत्स ! क्यों भटक रहे हो ? तुम उत्तम कुल के समझदार मानव हो । तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिये । मर्यादा ही जीवन है । मानव-जीवन की महिमा मर्यादा में ही है । जिन आज्ञा प्रधान ही जिनशासन है । साधक-संघ में विचार-स्वातंत्र्य नाम की उच्छृंखलता नहीं होती । साधक समर्पण

से ही साधक बनता है। गुरु-छन्दानुवृत्तिता ही उसकी साधना में ओज भरती है—तेज भरती है, स्वच्छन्दता नहीं। स्वच्छन्दता के निरोध से मोक्ष प्राप्त होता है, देवानुप्रिय !”

गुरुदेव की अमृत जैसी तारक वाणी उन्हें विष जैसी कटु लग रही थी। युगवीर मुनि उद्विग्नता से बोले—“आत्म-गौरव खोकर मैं मोक्ष भी नहीं चाहता, गुरुदेव ! तो संघ में रहने की बात ही क्या है ?”

“वत्स ! साधक को सहयोग देने के लिये यह संघ है। जो साधक हो, उन्हें हम सहयोग दे सकते हैं। साधक के लिये ही इस संघ में स्थान हैं। इस संघ की अपनी रीति-नीति है—मर्यादा है। उसके पालन में ही तुम्हारा और संघ का हित है।” गुरुदेव की वाणी शान्त-गंभीर थी। उत्तेजना अंशमात्र भी नहीं थी।

“यहाँ संघ में साधना जैसा है ही क्या ?” यह कहते हुए युगवीर मुनि वहाँ से उठ गये।

रणधीर मुनि ने उनकी सब बातें सुनी थीं। वे युगवीर मुनि के पास पहुँचे। उनका चित्त उत्तप्त हो रहा था। वे दोनों घुटने के बीच दोनों हाथों से अपने मस्तक को दबाकर बैठ थे। उनका मन बड़ा अशान्त था। उनके अभिमान पर कड़ा प्रहार हुआ था। वह अपनी कुण्डली छोड़कर फुँफकार रहा था। वे सोच रहे थे—“गुरुदेव ने मुझे संघ से निकल जाने की सूचना दे दी है। इसके आगे का कदम मुझे संघ से बाहर करने का हो सकता है। पर मुझे संघ में रहना ही नहीं है। लम्बी धरती पड़ी है। कहीं भी साधना की जा सकती है।” तभी रणधीर मुनि आये। उन्होंने उनके सिर को सहलाना प्रारम्भ किया। युगवीर मुनि एकदम चौंक गये। उन्होंने सिर उठाकर देखा कि पिता मुनिजी समीप खड़े हैं और उनका सिर सहला रहे हैं। इससे उन्हें कुछ शान्ति का अनुभव हुआ।

कुछ क्षण यों ही बीत गये। नीरव मौन छाया था। दोनों अपने-अपने विचारों में खोये थे रणधीर मुनि का चिन्तन चल रहा था—

‘मैं पहले अपनी साधना में मस्त था। कोई चिन्ता नहीं। कोई दुःख नहीं। परन्तु युगवीर की दीक्षा के बाद मेरी साधना में व्यवधान खड़े होने लग गये। क्या शिक्षा की परिणति स्वच्छन्दता है? आज का शिक्षित इतना असंतुलित क्यों? कहीं भी इनका मन टिकता नहीं है। युगवीर बड़े उत्साह से दीक्षित हुआ! पर इसे अब क्या हो गया है? कैसे समझाऊँ इसे?’

आखिर में रणधीर मुनि ने मौन तोड़ा—“युगवीर मुनिजी! आपने यह क्या किया? गुरुदेव की शिक्षा हमारे हित के लिये है। तुमने आज यह अनर्थ क्यों किया? तुमने गुरुदेव की-संघ की आशा-तना की है।”

“अब आप कटे पर नमक मत छाँटिये। गुरुदेव को गुरूपद का नशा है। वे संघ में किसी व्यक्ति का वर्चस्व सहन नहीं कर सकते। यहाँ वर्जन ही वर्जना है। मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी यहाँ।.....”

“छी: ! छी: ! ऐसा कहीं बोला जाता है....”

“मैं ऐसी परतंत्रता में नहीं रह सकूँगा...” पिता-पुत्र में लम्बे समय तक वार्तालाप होता रहा। रणधीर मुनि की एक भी बात उन्होंने मानी नहीं उन्होंने पक्का निर्णय कर लिया कि ‘मुझे संघ में नहीं रहना है।’

रणधीर मुनि ने गुरुदेव के सन्मुख सारी बात रख दी और “गुरुदेव! मैंने इसकी दीक्षा का आग्रह किया और आपकी शान्ति में बाधक बना। इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।”

“मुनिजी! इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं है। मेरे मन में आशंका तो थी। किन्तु मैंने एक प्रयोग किया था। दीक्षा तो उन्हें मैंने ही दी है। मुनिजी! हमारा काम साधक को सहयोग देने का है। परन्तु कर्म की दशा विचित्र है। मैं यह जानता हूँ कि युगवीर-मुनि अभी अपने निर्णय के अनुसार ही करेंगे। उन्हें समझाने में कोई सार नहीं है।”

“गुरुदेव ! मैं इसका कुछ दिन अनुसरण करूँ ? यदि इसकी मति पलटेगी तो इसे संघ में ले आऊँगा। इसे आज के जमाने की हवा जो लगी है।”

“मुनिजी ? युगवीर मुनि ने साधकदशा का स्पर्श तो किया है। परन्तु इन्हें अपनी शिक्षा का-बुद्धि का तीव्र अहंकार है। इसलिये निकट भविष्य में ये मार्ग पर आयें—यह संभव नहीं लगता। क्योंकि आज श्रावक-वर्ग में स्वच्छन्दता का पोषक वर्ग भी है।”

“गुरुदेव ? मात्र कर्तव्य बजाना है।” गुरुदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया।

पिता-पुत्र दोनों मुनियों ने विहार कर दिया-अलग।

युगवीर मुनि को श्रावकवर्ग से अति सहयोग मिला। उन्होंने डाक्टरों की। डॉ. युगवीर मुनि जिधर भी विहार, करते, उधर शिक्षित वर्ग में धूम मच जाती। उन पर प्रशंसा के पुष्पों की खूब वर्षा की जाती। वे फूले नहीं समा रहे थे। वे अपने प्रवचन में प्रायः कहा करते थे—‘भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बीच के युग में लुप्त हो गयी। आज के साधु क्रिया-काण्ड में फँसे हुए हैं। इनके पास ध्यान-पद्धति है ही नहीं। भगवान की ध्यान-पद्धति को खोजनी होगी और उसे साधना में पुनः प्रतिष्ठित करनी होगी। तभी साधना में ओज आयेगा।’ और वे लग गये ध्यान की खोज में। उनके हाथ लगी ‘बौद्धों की ‘आन पान सति’ और ‘विपस्सना’। उन्हें लगा कि ध्यान की लुप्त कड़ी मिल चुकी है।

उन्हें लगा कि सकल सत् क्रियाएँ वृथा कर्मकाण्ड हैं। वे खुलकर विद्युद्दीप का उपयोग करते। अपने भक्तों को स्थानकों में लाइट लगाने की-फलश बनवाने की प्रेरणा करते।’ नल का जल अचित है—यह प्रतिपादन करते। दो आदमी सदा उनके साथ सेवक रूप में रहते

थे। भक्त उनके व्यय की पूर्ति करते। साइकिल साथ थी। वे बोझ नहीं उठाते। वस्त्र भी साथ के आदमी से धुलवा लेते। वे एक दिन भोजन नहीं करते। फल का जूस आदि लेते। उस दिन ध्यान में विशेष रूप से लगे रहते। दूसरे दिन भोजन करते। उनकी दृष्टि में आधाकर्म दोष आदि कर्मकाण्ड मात्र थे। कभी-कभी वे यहाँ तक कह देते —‘इन शास्त्र में क्या रखा है? सामायिक में वृथा समय खो रहे हो। इसे करते ज़िदगी हो गयी। क्या पाया तुमने!’ इस-प्रकार कइयों को श्रद्धा से भ्रष्ट कर दिया।

अब रणधीर मुनि अकुलाने लगे। एक दिन उन्होंने उन्हें छोड़ने का निर्णय कर लिया। क्योंकि उन्हें दुर्लभबोधि नहीं बनना था। वे युगवीर मुनि से बोले—“मैं अब तेरे साथ नहीं रह सकूंगा। मैं गुरुदेव के पास जाना चाहता हूँ।”

“जैसी आपकी इच्छा। रूढ़ियों की शृंखला तोड़ना कोई खेल नहीं है।”

रणधीर मुनि बोले—“बड़े क्रान्तिकारी बन गये हो सो तो जानता हूँ ! बेटे के मोह में तुम्हारे साथ आया था। परन्तु तुम्हारे मार्ग से भ्रष्ट होने की कोई सीमा नहीं” आवेश से युगवीर मुनि बोले—“क्या कहा-मैं मार्ग भ्रष्ट हूँ !” उसी तीव्र आवेश से रणधीर मुनि बोले—“हाँ, उन्मार्गगामी हो। उत्ससूत्रभाषी हो ? श्रद्धा भ्रष्ट हो !” युगवीर मुनि का मुँह क्रोध से लाल हो गया। वे जोर से बोले—“क्या धरा है सूत्रों में ? हमें कोई मार्ग नहीं बताये तो क्या करें ? हम साधना करने निकले हैं। किसी मत से बँधे नहीं हैं !”

“तेरे लिये कुछ नहीं होगा सूत्रों में। हमारे लिये तो सर्वस्व हैं वे। तुम साधना को साधना समझते ही कहाँ हो ! संयम का तो नाश ही कर दिया तुमने और तप भी विकृत रूप में करते हो। ध्यान की रट लगाये हो। ध्यानमार्गियों में भी अकेले ध्यान का ही विधान है क्या ? साधना के अन्य अंगों का विधान नहीं है क्या ? तुम तो अपने आपको क्या समझ रहे हो—भगवान जाने !...”

“बस...और....” “बस-बस कुछ नहीं। लोकैषणा में पड़े हो तुम ! स्वाध्याय भी कहाँ सही है। मात्र लोगों पर धाक जमाने के लिये पढ़ते हो। पूरे अहंकारी हो, तुम ! अभिमान के सभी लक्षण तुममें प्रकट हुए हैं। गुरुदेव के प्रति द्वेष, रत्नाधिकों का उपहास, अवहेलना-वचन, अकड़....क्या-क्या गुण नहीं आये तुममें ?”

“पिताजी ! पिताजी !”—युगवीर मुनि अपने पितामुनि के आवेश से स्तंभित हो गये। वे आकुलता से बोले—“आप ऐसे क्यों बोल रहे हो ? मैं आपका दुश्मन हूँ क्या ?” कुछ शान्त होते हुए-से रणधीर-मुनि बोले—“मेरे दुश्मन होते तो कोई बात थी ! तुम जिनशासन के दुश्मन हो। अरे ! उसके भी नहीं, अपने आपके दुश्मन हो ! अभिमान ने कहीं का नहीं रखा है तुम्हें ! तुम में कुछ आस्था हो-यदि भव-भ्रमण घटाना हो, यदि अपने दुश्मन न बनना हो तो आ जाना प्रभु के मार्ग पर ! मैं जा रहा हूँ गुरुदेव के पास। मैं उनके निहारे करूँगा, चरणों में गिरूँगा और जो प्रायश्चित्त देंगे, उसे ग्रहण करके शुद्ध बर्नूँगा....”

“अच्छा, आप गुरुदेव के पास जा रहे हैं”—युगवीर मुनि का स्वर पश्चाताप से काँप रहा था—“तो अकेले मत जाइये।”

“कैसे साथ में ले जाऊँ ?” “मुझे।” “तुम्हें ! इस रूप में !”

“जिस रूप में आप ले जाने चाहें उस रूप में !” “सच” !

“सच”—यह कहते हुए युगवीर मुनि के आँखों से अश्रु की दो बूँदें ढुलक पड़ी।

मान के स्तर की पहचान—

सेलटिठ-दारु-तिणिस-लया-थंभाव्व मुण माण-पज्जाया ।

कमसो य होंति मंदा, आऊ-बंधो तहा कमसो ॥२२॥

शैल, अस्थि, काष्ठ और तिनिशलता के खंभे के सदृश मान के पर्याय (= अवस्थाएँ) समझ । ये क्रमशः मन्द हैं और (मान के उदय में) क्रमशः (गतियों के) आयु का बन्ध होता है ।

टिप्पण—१. अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार के मान को चार तरह के स्तम्भ की उपमा से समझाया गया है । मान के स्तर का निर्णय उसके तनाव की—कठोरता की तरतमता से होता है । २. शैलस्तंभ में न कोमलता होती है और न झुकाव ही । उसे कोई अति प्रयत्न से भी नहीं झुका सकता । वैसे ही जिस मान के उदय से नाम मात्र विनम्रता नहीं होती है और न अपने मान को दोष रूप में देख सकता है, प्रत्युत उसे गुण और सुखानुभूति का स्रोत समझता है, वह अनन्तानुबन्धी मान है । ३. मान के शेष तीनों अंशों के विषय में क्रमशः समझ लेना चाहिये । दूसरे स्तर में आंशिक रूप से विनम्रता आ जाती है । किन्तु उसमें उपादेय-बुद्धि का अभाव हो जाता है और दुर्गुण रूप से प्रतीत होने लगता है । धर्म श्रद्धा में हानि पहुँचाने के स्तर तक पहुँचने पर जीव इसका परित्याग करने के लिये तत्पर हो जाता है । तीसरे स्तर में विशेष नम्रता आ जाती है । धर्म-प्रवृत्ति में बाधक होने पर स्वतः या उपदेश से उसके त्याग का तत्काल प्रयत्न होता है । मान के चौथे स्तर में अत्यन्त विनम्रता आ जाती है । उसके उदय से व्रत में किञ्चित् मात्र भी बाधकता हो रही हो तो समझ में आते ही तुरन्त ही उसे निष्फल कर देता है । ४. स्पष्ट ही ये स्तर क्रमशः मन्द होते हैं । तीव्र में अशुभता और मंद में शुभता होती है । ५. अनन्तानुबन्धी क्रोध के साथ ही अनन्तानुबन्धी मान आदि रहते हैं अर्थात् अपने-अपने स्तरवाले कषाय के साथ ही शेष कषाय रहते हैं । अतः उनके अस्तित्व में होनेवाले कर्म-बन्ध आदि भी सदृश होते हैं ।

मान-उत्पत्ति के हेतु आदि—

सओ वा परओ माणो, बज्जंतंर-निमित्तओ ।

लक्खिज्जइ पयत्तेण, जम्हा सासेइ मत्थयं ॥२३॥

मान स्वतः अथवा परतः बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तों से उत्पन्न (होता) है। यह प्रयत्नपूर्वक ही जाना जाता है। क्योंकि यह मस्तक पर शासन करता है।

टिप्पण—१. मानकषाय का उदय स्वयं या दूसरे निमित्त से दोनों प्रकार से होता है। जब मानकषाय कर्म की स्थिति पूरी होने आती है तो कोई निमित्त न होने पर भी वह उदय में आ जाता है तब वह स्वतः उदित-मान होता है और जब उसके उदय में किसी का निमित्त मिलता है, तब परतः उदित मान होता है। २. श्रुत, तप आदि आभ्यन्तर निमित्त हैं और धन, जन, जाति, सौन्दर्य, यश, पद आदि बाह्य निमित्त हैं। ३. मान क्रोध के समान आवेश से युक्त अभिव्यक्त नहीं होता है। अतः यह कभी पाप रूप में प्रतीत ही नहीं होता है और बौद्धिक प्रयत्न से ही जाना जा सकता है। ४. मान बुद्धि पर ही अपना अधिकार जमा लेता है अर्थात् समझने-सोचने में सहायक ज्ञान-तन्तुओं को अपने स्वाधीन कर लेता है। क्रोध तो उन्हें कुण्ठित कर देता है। परन्तु मान उनसे विशेष रूप से कार्य लेता है।

(३)

माया के रूप—

छलं कवड-जालं च, आच्छादयणं च वक्त्रयं ।

विवरीय-मदं वित्तं, माया करेइ मोहणं ॥२४॥

माया छल, कपट, जाल (और दंभ आदि), आच्छादन (और दुर्गुणों का उद्भावन आदि), वक्त्रा, विपरीत बुद्धि और वृत्त=आचरण को सम्मोहन से युक्त करती है।

टिप्पण—१. छल आदि माया के विविध रूप हैं। छल=ठगने की वृत्ति। कपट=अन्य की समझ को कुण्ठित करने की वृत्ति। जाल=किसी को फँसाने की वृत्ति। आच्छादन=अपने दोषों और दूसरे के गुणों को दबाना। वक्त्रा=विपरीत क्रिया। विपरीतमति=उल्टा चिन्तन।

वृत्त-मोहन = भ्रम उत्पादक आचरण-व्यवहार । २. जाल के बाद के च शब्द से दंभ = सदगुण-सत्क्रिया का अभिनय, निष्कृति, कैतव आदि ग्रहण किये हैं अथवा चरित्र, वेश, रूप आदि की बनावट से वञ्चना करने की वृत्ति इसमें गर्भित होती है । आच्छादन का अर्थ ढँकना है अर्थात् वास्तविकता को दबाना—वह अपनी हो या पराई—वह माया है । वैसे ही अपने या पराये में अवास्तविकता को दरसाना भी माया है अर्थात् अपने में गुण न होते हुए भी उनका और दूसरे में दोष न होते हुए भी उनमें उनके होने का प्रचार करना-करवाना उद्भावन रूप माया है । इसे आच्छादन शब्द के च से ग्रहण किया है । ३. किसी को ठगने के लिये नहीं, किन्तु यों ही उल्टा-उल्टा चलना वक्रता है अथवा अपनी लघुता न हो जाय—इस दृष्टि से दूसरों से उल्टा व्यवहार करना वक्रता है अथवा किसी के चिन्तन, कथन और आचरण से स्वच्छन्दता से उल्टा चिन्तन, कथन और आचरण या मन में कुछ और होना, वचन से कुछ और कहना तथा काया से कुछ और करना वक्रता है । वक्रता का अनृजता भी पर्यायवाची शब्द है । जिसका अर्थ है—कुटिलता । मोक्षमार्ग से विपरीत चलना भी वक्रता ही है । ४. विपरीतमति अर्थात् उल्टी बुद्धि । इसका कुछ आशय वक्रता में गर्भित हो जाता है । किन्तु यहाँ इसे इसलिये ग्रहण किया है कि वक्रता में कदाचित् समझ सही हो सकती है—‘विपरीत मति में’ नहीं । उल्टी बुद्धिवाला प्रत्येक बात उल्टी ही सोचता है । इसी आशय से सम्भवतः मायी को मिथ्यादृष्टि कहा है । क्योंकि विपरीत बुद्धि-वाला सत्य को मिथ्या और मिथ्या सत्य अथवा संसार और संसार के कारणों को यथार्थ और मोक्ष तथा मोक्ष के कारणों को अयथार्थ समझता है । ५. वृत्तमोहन अर्थात् अपने व्यवहार को अन्य जनों को आकर्षित करने के लिये सम्मोहक बनाना । इनके सिवाय माया के और अनेक रूप भी हो सकते हैं । समस्त बनावटीपन छल और मोक्षमार्ग से विपरीत समस्त व्यवहार वक्रता है और माया के प्रमुख रूप से ये दो ही भेद हैं, जिनमें माया के समस्त रूपों को गर्भित किये जा सकते हैं ।

मोही जीव की माया के विषय में समझ—

‘जमत्थि गोवणं तस्स, जं नत्थि तस्स दाअणं’ ।

दक्खं कलं ति मण्णेइ, तं मायं मोह-वाउलो ॥२५॥

‘जो है उसे छिपाना और जो नहीं उसको दिखाना’—(ऐसी) उस माया को मोह में बावरा (बना हुआ मनुष्य) दाक्ष्य=चतुराई और कला मानता है ।

टिप्पण—१. अपने हीन और दूसरे के उन्नत स्वरूप को दबाना अर्थात् जिस भाव का अस्तित्व है उसे छिपाना और अपने उन्नत और दूसरे के हीन स्वरूप को दिखाना अर्थात् जो नहीं है उसको प्रदर्शित करना—यही माया का स्वरूप है । २. ‘जो है उसे छिपाने और जो नहीं है उसे दिखाने’ में बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है । अतः माया चतुराई के रूप में दिखाई देती है । दूसरों के हृदय में विश्वास जमाने के लिये बातों और व्यवहार को असलियत का बाना पहनाकर आकर्षक बनाना पड़ता है । इसलिये माया (धूर्तता) एक कला है । मोह के हृदय से जिसकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है, उन उन्मत्त या बावरे लोगों का ही ऐसा कथन हो सकता है । ३. मोही को यह समझना चाहिये कि माया व्याकुलता की जननी ही है । उसके बनावटीपन के खुल जाने का सदा भय बना रहता है ।

मायामोहनीय के उदय से होनेवाली क्रियाएँ—

मायाए होंति संती वा, कंतिरुवत्ति दो किया ।

हिऐसी परमेसोव, माई जणे पवत्तइ ॥२६॥

माया से शान्ति के सदृश और क्रान्ति के सदृश—ये दो क्रियाएँ होती हैं । मायी मनुष्यों में हितैषी और परमेश्वर के सदृश प्रवृत्ति करता है ।

टिप्पण—१. मायामोहनीय कर्म-प्रकृति सत्ता से चलित होकर, जब फल प्रदान करने के लिये प्रवृत्ति होती है, तब दो प्रकार की आत्मचेष्टाएँ

होती हैं—शान्तिरूपा और क्रान्तिरूपा । छलमाया के मूल में शान्ति रूपा और वक्रता-माया के मूल में क्रान्तिरूपा क्रिया होती है । २. शान्तिरूपा क्रिया में शान्ति और शान्ति-कुल के अधिकांश भावों का अभिनय होता है । क्रान्ति अर्थात् जोश के साथ जन-हितैषी परिवर्तन लाने की प्रहारात्मक क्रिया । क्रान्तिरूपा क्रिया में क्रान्ति और क्रान्ति-पोषक भावों का वेदन किया जाता है । ३. छलरूप मायिक प्रवृत्ति में आत्मा अपने को अन्य जनों के हितैषी के रूप में प्रदर्शित करता है और वक्रतारूप मायिक प्रवृत्ति में अपने को सर्वशक्ति—सम्पन्न सत्ता के रूप में । जब परमयश की उत्कट चाह होती है और अपनी शक्ति-सम्पन्नता की धाक जमाने की भावना होती है, तब हित-अन्वेषण और परमैश्वर्य के अभिनय रूप दो अनुक्रियाएँ होती हैं । शान्तिक्रिया से होनेवाली अनुक्रियाएँ—

मिउ-मधुर-भासी सो, पसणो अज्जवागरो ।

विणीओ कप्पणीतुल्लो, हियए रमए मिए ॥२७॥

(बाहर प्रवृत्ति में) वह (मायी) मृदु और मधुर भाषी, प्रसन्न (हर्ष से विकसित मुखवाला), आर्जव की खान, विनीत और हृदय में कैची के सदृश भाववाला मृग के समान (भोला बनकर) खेल खेलता है ।

टिप्पण—१. प्रवृत्ति में मृदुता, मधुरता, मृदु-मधुर-भाषण, प्रसन्नता, आर्जव, विनय और भोलापन तथा अन्तरङ्ग में अन्य को काटने के भाव-ये माया की पोषिका प्रमुख अनुक्रियाएँ हैं । ये शान्ति के अभिनय को सफल बनाती हैं । २. शान्ति से अन्य को काटने के भाव उत्पन्न नहीं होता है । किन्तु माया-जनित शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं होती है । यह अन्तरङ्ग में अन्य के अहित का भाव ही मृदुता आदि को माया की अनुक्रिया के रूप में परिवर्तित करता है । ३. धर्मी और धर्मों में कथञ्चित् अभेद की दृष्टि से इन भावों का जीव में आरोपण किया है और माया में जीव का अभिनय ही प्रधान है—यह भाव व्यक्त करने के लिये भी गुणी में गुण का आरोपण किया गया है ।

क्रांतिक्रिया की अनुक्रियाएँ—

कडुअं भासए माई, ण उजुं कं पि मण्णइ ।

पलोयए करे वक्कं, वक्कं चितइ भासइ ॥२८॥

मायी जीव कटु बोलता है, किसी को ऋजु नहीं मानता है; वह वक्र देखता और करता है तथा वक्र रूप से चिन्तन करता है और बोलता है।

टिप्पण—१. कटुभाषण, सरलता की अस्वीकृति, वक्र-दर्शन, वक्र-क्रिया, वक्र-चिन्तन और वक्रभाषण—ये क्रान्तिरूपा क्रिया की अनुक्रियाएँ हैं। २. गाथा में अनुक्रियाओं का क्रिया के रूप में उल्लेख किया है। क्योंकि क्रान्ति में आक्रमक क्रिया की प्रधानता रहती है और वक्रता में विरोध का स्वर भी प्रधान होता है। अतः विरोधी क्रियाएँ ही इस माया की अनुक्रियाएँ हैं। ३. जब वक्रता माया का तीव्र रूप से उदय होता है, तब साधक भी धर्म में क्रान्ति करने के सपने देखता है। उस समय उसका व्यवहार भी ऐसा ही हो जाता है।

माया की प्रतिक्रिया—

माया उप्पायए मायं, अविस्सासं अहिं विव ।

दूरा वज्जंति लोणा तं, पीई माईण दुल्लहा ॥२९॥

माया माया और अविश्वास को उत्पन्न करती है। लोग उस (मायी) को दूर से ही साँप समान त्याग देते हैं। मायी के लिये (जनों में) प्रीति दुर्लभ है।

टिप्पण—१. 'माया माया को उत्पन्न करती है'—इस वाक्य के दो आशय हैं। पहला अर्थ मायी से सम्बद्ध है और दूसरा लोगों से। २. जब हृदय में माया का उदय होता है, तब छल आदि की प्रवृत्ति होती है

अर्थात् आत्मा में तद्रूपभाव उत्पन्न होते हैं और फिर योगों से तत्प्रेरित क्रियाएँ होती हैं । जिससे आत्मा में पुनः मायामोह रूप कर्मदलों का आकर्षण होता है और आत्मा से बद्ध हो जाते हैं । इसप्रकार माया से मायारूप कर्म-बन्ध की प्रक्रिया होती है । यह पहला आशय है । ३. जब लोगों को माई का माया-व्यवहार ज्ञात होता है, तब उन्हें उसके प्रति घृणा उत्पन्न होती है । जिससे वे भी उसके प्रति मायामय व्यवहार करने के लिये प्रेरित होते हैं । यह दूसरा आशय है । ४. जब तक लोग मायी के व्यवहार से मुग्ध रहते हैं, तभी तक वे उसका विश्वास करते हैं । परन्तु माया के प्रकट होने पर उस पर अविश्वास रूप प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है । जिससे मायी और माया करता है । ५. जैसे लोग साँप से डरते हैं, वैसे ही छली से भी डरने लग जाते हैं । अतः वे साँप से दूर भागने के समान उससे भी दूर भागते हैं । ६. मायी को लोग मित्र रूप में देख ही नहीं पाते हैं । वह उन्हें शत्रुरूप ही प्रतीत होता है । अतः उसे उनकी प्रीति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । ७. इसप्रकार माया से माया, अविश्वास, भय, अप्रीति आदि प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं ।

माया के स्तर की पहचान—

वंसीमूलो वक्का, जह मँढविसाणओ य गोमुत्ती ।

अवलेहणिया एवं, कमसो गइदाइणी माया ॥३०॥

जैसे बाँस की जड़, मेंढे का सींग, गौमूत्रिका और अवलेहनिका = वंश शलाका वक्र होती है, वैसे ही (चार प्रकार की) माया क्रमशः (चार प्रकार की) गति—प्रदायिका होती है ।

टिप्पण—१. अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार की माया के स्तर को समझने के लिये चार प्रकार की वक्र वस्तुओं से उपमा दी गयी है । बाँस की जड़ अत्यधिक वक्र होती है । उसमें छोटी-छोटी जड़ें टेढ़ी-मेढ़ी होकर परस्पर उलझी रहती हैं । वे मूल जड़ से निकलकर उसे इतना आच्छादित कर देती हैं कि वह अदृश्य-सी हो जाती हैं । ऐसी ही होती है—अनन्तानु-

बन्धी माया । इसमें अत्यधिक वक्र वृत्तियाँ एक दूसरे में उलझी हुई और मूलधारा का गोपन करती हुई-सी रहती हैं । जैसे वंशमूल की वक्र जड़ों को सीधी करना संभव नहीं है, वैसे इस प्रकृति से उदयाविष्ट जन की वक्रता-छलवृत्ति को हरना संभव नहीं है । २. मेंढे की सिंग वंशमूल से अल्प वक्र होता है । उसमें परस्पर उलझे हुए और आच्छादक मोड़ नहीं होते हैं । फिर उनमें गोलाई काफ़ी होती है । वैसे ही अप्रत्याख्यानी माया में वक्रता और छल की अल्पता होती है । स्वभाव में सुलझाव आ जाता है । अपने दोष दृष्टिगत होने लगते हैं । भवतारक तत्त्वों के प्रति वक्रता और वञ्चना का प्रायः अभाव हो जाता है । ३. गौमूत्रिका अर्थात् चलते हुए बैल के पेशाब करने से बने हुए मोड़ । मेंढे के विषाण से उसमें वक्रता और आच्छादकता अल्प होती है । उसमें किसी के उलझने की संभावना नहीं रहती है । वह आर्द्र रहती है, वहीं तक वह वक्रता दिखाई देती है । सूखने के कुछ समय बाद धूल में बने हुए वक्र चिह्नों का भी अभाव हो जाता है । वैसे ही प्रत्याख्यानी माया में वक्रता और छल की न्यूनता हो जाती है । जीव उसमें न स्वयं उलझता और न किसी को उलझाता है । परन्तु वह अपनी, अपने आश्रितों आदि की सुरक्षा आदि के लिये वक्र व्यवहार और छल करता है । इस माया के निमित्त कारण अधिक लम्बे समय तक नहीं रह पाते । अतः माया भी कारणों के हटते ही मिट जाती है । स्वभाव में रहा अल्पांश भी क्रमशः समाप्त हो जाता है अथवा इस माया के उदय से बँधा हुआ माया रूप कर्म भी लम्बी स्थितिवाला नहीं बंधता । ४. चौथी प्रकार की वक्रता बाँस की चिपट की है । बाँस की चिपट को दोनों किनारों से मोड़कर पकड़ रखने पर ही उसे मात्र एक ही मोड़ बनता है । वह भी पकड़वालों हाथों से छूटने के लिये जोर मारता है । किनारे छोड़ देने पर अत्यल्प वक्रता शेष रहती है, जिसे अत्यल्प प्रयत्न से दूर किया जा सकता है । संज्वलनमाया भी वैसी ही होती है । इसमें न तो वक्रता रहती और न आच्छादकता ही । परन्तु किसी प्रबल निमित्त से कदाचित् वक्रता और छल का प्रवेश हो जाता है तो जीव उसीके वशीभूत होकर भी ऋजुता से एकदम मुक्त नहीं होता है । उसके हृदय में माया का भान बना रहता है ।

उसका उपयोग उससे मुक्त होने के लिये कसमसाता रहता है। इस माया के उदय से आयी हुई वक्रता अत्यन्त क्षीण होती है और सहज प्रयत्न से ही दूर हो जाती है। इसके निमित्त से बंधी हुई माया भी अत्यन्त अल्प स्थिति-वाली और जल्दी ही क्षीण होनेवाली होती है। ५. माया के इन स्तरों को समझकर उसे पहचानने की बुद्धि उत्पन्न होती है और अपने दोषों को देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों जीव माया के चक्रों का भेदन करता है त्यों-त्यों उसका उपयोग निर्मल होता है। क्योंकि उपयोग बहिर्मुख करने में प्रधान हेतु माया ही है। ६. माया के उदय में यदि आयु का बंध पड़ता है तो उसके स्तर के अनुसार क्रमशः गति के आयु का बन्ध होता है। गड़वाइणी—के दो अर्थ—नरक आदि गति का आयु प्रदान करनेवाली और उदयानुसार अवस्था—तीव्रतम छल आदि भावों में परिणति करनेवाली। ७. इस विषय में श्रीपाल-चरित्रगत धवल सेठ और धर्मबुद्धि-पापबुद्धि चरित्रगत पापबुद्धि के दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

माया की मोहकता—

सुन्दरी उवमा-तुल्ला, माया माणस-मोहिणी ।

सानंदा तव्वसा जीवा, सा वि गूढा सही-णिहा ॥३१॥

माया (अपनी) उपमाओं के सदृश सुन्दर है। वह हृदय को मोहित करनेवाली है। उसके वशीभूत बने हुए जीव (उसमें) आनन्द से युक्त हो जाते हैं। छिपी हुई वह भी सखी के समान (जीवों को) प्रतीत होती है।

टिप्पण—१. उलझी हुई बाँस की जड़ और मुड़े हुए मेंढे के सींग सुन्दर प्रतीत होते हैं। कुंचित केश, कंगन, नूपुर, रोटी आदि गोल पदार्थ और फैणी, बड़्ढी के बाल (= एक मधुर पदार्थ), त्रिभंगीमुद्रा आदि उलझे हुए पदार्थ सुन्दर लगते हैं। वैसे ही माया भी सुन्दर लगती है। २. सुन्दर पदार्थ, कलाकृतियाँ आदि मनोमोहक होती हैं। वैसे ही माया भी त्रिभुवन-मनो-मोहिनी है। ३. माया को चतुर और तीक्ष्ण बुद्धिवाला

मनुष्य भी नहीं जान सकता है। वह हृदय में इतनी गूढ़ रूप से रहती है। उसकी स्पष्ट रूप से बाहर अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। वह जीव को अपने को सुख और संरक्षण प्रदान करनेवाली सखी जैसी प्रतीत होती है। ४. जब-जब जीव माया करते हैं, उसके बल से अन्य को अपने चंगुल में फँसे हुए देखते हैं, तब-तब वे आनन्द का अनुभव करते हैं। ५. इस गाथा में माया को सही रूप से पहचानने में बाधक कारणों का उल्लेख किया है। उसे जानने के लिये उसके सौन्दर्य का पर्दा उठाना होगा। उसके आकर्षण का जाल तोड़ना होगा। उसकी आनन्द-प्रदत्ता का मोह हटाना होगा। उसके सख्यभाव के भेद को जानना होगा और उसकी गूढ़ता को भेदना होगा।

मंत्रों की माया

हनुमान मुनि स्तोत्र—पाठ करके उठे। आज का स्तोत्र पाठ विशेष रूप से था। उनके प्रति लोग श्रद्धा से आपूरित थे। वे सिद्ध महात्मा जो थे। जनसमुदाय उन्हें वंदन कर रहा था। मानों जनसमुद्र में लहरे उठकर गिर रही थीं। वे विशेष अवसरों पर स्तोत्र-पाठ करते थे। उस समय जन-सैलाब उमड़ पड़ता था। आज भी ऐसा ही अवसर था। अब जन-समुदाय बिखर रहा था।

उनका स्तोत्र-पाठ चमत्कारिक था। सिद्धि-प्रदायक था। लोगों की आशा पूरण-कर्ता था। ऐसा लोगों का—भक्तों का मन्तव्य था। वे जहाँ कहीं भी जाते, वहाँ उनके चमत्कार की कहानियाँ फैल जातीं। लोग उन्हें भगवान् मानकर उमड़ पड़ते। आज सिद्धियाँ उनके चरण चूम रही थीं। उनका हृदय गुदगुदा रहा था। वे जाते हुए जन-समुदाय को देखकर पुलकित हो रहे थे।

एक भक्त कह रहा था—“वाह ! गुरुदेव की महिमा ! साठ हजार लगभग लोग होंगे !” व्यवस्थापक बोल उठा—“साठ हजार ! अरे ! साठ हजार से ज्यादा होंगे। इससे ज्यादा ही हमने भोजन आदि की व्यवस्था

की है और गुरुदेव की लब्धि ऐसी है कि जितने की हम भोजन-व्यवस्था करते हैं, उससे डेढ़े-दुगुने लोग निबटते हैं. . .”

उन मुनिराज के मुख-मण्डल पर मधुर मुस्कान की रेखाएँ रस-रास रचाने लगीं । मानों उनका हृदय ही मुख की रंगभूमि पर थिरक रहा था । सब लोग जा रहे थे । वे किसी स्वप्न में खोये-से वहीं खड़े थे । वे देख रहे थे—

‘एक छोटा बालक अर्ध-नग्न-सा खड़ा है । उसकी माता भी गयी । पिता भी गये । वह अनाथ हो गया । उसे अपनी अनाथता का अहसास ही नहीं है । उसके नयन खोज रहे हैं—अपने माता-पिता को । . . . उसका मन अब दुःखी है । वह भटक रहा है । . . . एक सन्त आये । उन्हें उस पर करुणा आयी । बालक उनकी दृष्टि से उनकी ओर खिंचा हुआ-सा चला गया । उसने उनकी अंगुली पकड़ ली । वे उसे लेकर वहाँ से चल दिये । . . . वे उसे भक्तों के सुपुर्द करने लगे । पर उसने संत को नहीं छोड़ा । भक्तों ने उसकी सारी व्यवस्था की । . . . सन्त ने उसे पढ़ाया-लिखाया । योग्य बनाया और एक दिन अपना शिष्य बना लिया । . . . गुरुजी वात्सल्य-मूर्ति थे । वे संयम-धनी थे . . . चेले की उगती वय थी । यौवन की मस्ती शरीर पर थिरक रही थीं । . . . बड़ी उम्र की कुमारिकाएँ उसकी ओर आकर्षित होने लगीं । वह भी उनसे हँसने-बोलने लगा . . . गुरु की दृष्टि सजग थी । उन्होंने चेले को समझाया । परन्तु वह गुरु का उपकार भूलकर एकदम चिढ़कर बोला—‘आप हैं बूढ़े ! आपके पास शंका के सिवाय कुछ नहीं है । मैं किसी से प्रेम से दो शब्द बोल लिया तो क्या गलत रास्ते पर चल पड़ा ?’ गुरु ने गम खाया । . . . एक दिन एक भक्त ने गुरु के हाथ में एक पत्र दिया । वह प्रेमपत्र जैसा था । गुरु ने चेले से कहा—‘लड़कियों को पत्र नहीं लिखा करते !’ चेला भभक उठा—‘मैंने पत्र लिखे ? लड़कियों को ? कौन कहता है ?’ गुरु ने पत्र उसके हाथ में दे दिया । चेला भड़क उठा—‘यह षड्यंत्र रचा गया है’ . . . मुझे बदनाम करने के लिये लगता है आपको अपने भक्तों के छिन जाने का भय उत्पन्न हो गया है । मैं अब आपके पास नहीं रहूँगा’ . . . उसने बहुत कलह किया और वह महान् उपकारी गुरुदेव को छोड़कर चल पड़ा . . .

‘उस क्षेत्र में गुरुजी का प्रभाव था। नहीं जम सका वह, वहाँ। . . . उसने वह क्षेत्र छोड़ दिया। चेला दूर. . . अति दूर आ गया गुरु से। उसे ज्यादा ज्ञान नहीं था, पर उसमें चालाकी विशेष थी। बुद्धि का चक्र तेज चलता रहता। लोग गर्जों भी बहुत और दर्दों भी बहुत। चल पड़े उल्टे-सुल्टे मंत्र। भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। . . . एक भक्त की पुत्री से मन लग गया। भक्तों को शंका हुई। पुत्री से भेद पाया और वह गुस्से से भड़क उठा। आया उस गुरु के चले के पास। उसे धमकाया और दूर खदेड़ दिया। भक्तों का दल बढ़ रहा—बढ़ता गया. . . उसने एकान्तर उपवास प्रारंभ किये। तपस्वी बन गया। धाक जम गयी उसकी ! भक्तों ने महिमा गायी। भक्तों से भी तपस्या करवाता। अगडं-बगडं मंत्र देता। मंत्रों की माया जमी। . . . लोग छंद-स्तोत्र सुनने आने लगे। उसने एक स्तोत्र बनाया। उसमें वर्णमाला और बारह खड़ी के अक्षरों पर अनुस्वार लगाकर जोड़ दिये। रम्ब्यु, गम्ब्यु आदि संयुक्ताक्षरों और स्वाहा, नमः, वषट्, फट् हूं आदि जोड़ दिये। . . . यों तैयार हो गया चमत्कारी स्तोत्र। . . . पहले कुछ लोग जुड़ते। . . . गुरुजी भी चले गये थे. . . दूर-दूर तक ख्याति फैली. . . हजारों लोग आने लगे. . . वह कौन ? मैं ही तो हूँ हनुमान ! एक थे रामभक्त हनुमान, जिन्हें संसार पूजता है और एक मैं गुरुद्रोही हनुमान जिसे . . . उनके मुखपर दूधपर जमी मलाई-सी हँसी फैल गयी। वे होठों पर जमी हँसी को जीभ से चाटते हुए सोच रहे थे—‘दुनिया झुकती है, कला हो तो’ . . .

माया के उत्पादक आदि—

माण-लोहेहि सा जाया, मुसवाएण पोसिया ।

जणेइ अफला कोहं, माया संसार-वड्ढणी ॥३२॥

वह मान और लोभ के निमित्त से उत्पन्न होती है और मृषावाद से पुष्ट होती है। (वह) निष्फल होने पर क्रोध उत्पन्न करती है। (सचमुच में) माया संसार-वर्धिनी है।

टिप्पण—१. क्रोध, माया आदि के भाव, मोहनीय की तथारूप कर्म-प्रकृति के उदय से होती है। परन्तु एक प्रकृति का वेदन दूसरी प्रकृति के उदय में निमित्त भी बनती है। जैसे दसवेयालिय (अ.५ उ. २) में कहा है—पूयणट्ठी . . . मायासल्ला च कुव्वइ (गा. ३५)—“पूजा का अर्थ . . . मानसम्मान पाने के लिये . . . मायाशल्य को करता है। इसी अपेक्षा से मान और लोभ को माया की योनि कहा है। २. मानमोहनीय कर्म के उदय से जब जीव को मान-सम्मान पाने की चाह उत्पन्न होती है और लोभ मोहनीय के उदय से किसी वस्तु को पाने की इच्छा होती है, तब वे सहजता से प्राप्त न होने पर जीव छल, कपट, धूर्तता आदि का प्रयोग करने लगता है। यों भय आदि के कारण माया की जा सकती है। परन्तु वे कारण गौण है। ३. माया का पोषण मृषावाद और मिथ्या व्यवहार से होता है। झूठ के बिना माया नहीं चल सकती है। बनावटीपन और दिखावटीपन ही माया को दृढ़ बनाते हैं। ४. जब बनावट और दिखावट प्रकट हो जाती है अर्थात् माया से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, तब आक्रोश पैदा होता है। अतः माया क्रोध की जननी भी बन जाती है। माया मान और लोभ से उत्पन्न होकर पुनः उन्हीं का पोषण करती है। अतः वह उनकी धात्री-सी बन जाती है। इस-प्रकार यह अन्य कषायों की हेतु बनती है। ५. माया तीन शल्यों में एक है। अतः माया मोक्षमार्ग के पथिकों के लिये दुःखदायिनी है। उनकी गति को कण्टक के समान रोकती है। अतः जीव के संसार को भव को बढ़ाती है। साथ ही माया संसार = गुदगुदी उत्पन्न करनेवाले फिसलाव का विस्तार करती है।

लोभ की परिभाषा—

पोगलाणं च बज्झाणं, सर्व्वेसि कम्मजाण वा ।

जा पयत्थाण इच्छत्ति, लोभो सा चेव जाणिया ॥३३॥

जो बाह्य पुद्गलों की अथवा कर्म के उदय से होनेवाले (निर्मित) सभी पदार्थों की इच्छा है, उसे ही लोभ समझो।

टिप्पण—१. 'बाह्य पुद्गल' के दो अर्थ—जीव से संलग्न पुद्गलों से भिन्न पुद्गल और आत्मा और आत्मा की आभ्यन्तर शुद्ध परिणति से भिन्न पुद्गल तथा पुद्गल की परणति। २. स्थूल दृष्टि से पहला अर्थ ग्राह्य है। क्योंकि लोक में पौद्गलिक पदार्थों को पाने की इच्छा को ही लोभ कहा जाता है। उसमें सुख-भोग और काम-भोग भी गर्भित हो जाते हैं। इस आशय से यह भाव ध्वनित होता है कि 'सोना, चाँदी, मणि, माणिक्य, मकान, जमीन आदि निर्जीव पदार्थ की चाह' ही लोभ है। किन्तु 'च' शब्द से इस एकान्त आशय का परिहार किया गया है अर्थात् सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों प्रकार की पौद्गलिक वस्तुओं की इच्छा लोभ है। इसमें पाँचों इन्द्रियों के विषय गर्भित हो जाते हैं। ३. सूक्ष्मदृष्टि से दूसरा आशय ग्राह्य है। क्योंकि आत्मा और उसकी शुद्ध परिणति के सिवाय होनेवाले भाव कर्म के उदय से होते हैं। वे तीन प्रकार के हो सकते हैं—शरीरगत, आत्मगत और लोकगत। बल, सौन्दर्य, वर्ण आदि शरीरगत; हर्ष, वेद-विकार, सुख-संवेदन आदि आत्मगत और पूजा-प्रतिष्ठा, यश आदि लोकगत भाव हैं। इनकी इच्छा भी लोभ ही है। ४. लोभ-परिभाषा का दूसरा विकल्प दिया है—'कर्म-जनित पदार्थों-अवस्थाओं की इच्छा'—लोभ है। शुभ या अशुभ कर्मों के उदय से जीव को जिन-जिन पदार्थों की उपलब्धि होती है या अभाव होता है और जो अज्ञान, निद्रा, इन्द्रियक्षीणता, दुःख, सुख, विकास आदि अवस्थाएँ होती हैं, उन सबकी इच्छा लोभ है। यह परिभाषा और व्यापक हो जाती है। ५. शंका—'क्या अज्ञान, अभाव, दुःख, शोक, विकार, कुरूपता, निम्न कुल आदि की इच्छा हो सकती है? समाधान—उनमें सुखभाव का आरोपण हो जाने पर उनकी भी इच्छा हो—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ६. इस परिभाषा के अनुसार ज्ञान, सद्गुण, देव-गुरु-चरण-सान्निध्य, धर्मादायन, मोक्ष आदि की इच्छा लोभ नहीं है। क्योंकि ये इच्छाएँ मोह के उदय से नहीं, उसके क्षयोपशम से होती हैं। जब इन

इच्छाओं में कोई भौतिक भाव जुड़ जाता है, तब वे मोह-जनित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे भी लोभ हो जाती हैं।

लोभ की परिभाषा में मतान्तर—

केइ उ इच्छमेत्तं ति, भवस्स वा सिवस्स वा ।

लोभं मण्णंति जं किंचि, पत्थणाएण्णुरंजणं ॥३४॥

कई तो इच्छा मात्र को लोभ मानते हैं, चाहे वह भव से, चाहे मोक्ष से संबन्धित हो। क्योंकि (इनके मतानुसार) जो कुछ भी माँग से अनु-रञ्जित भाव है, वह लोभ है।

टिप्पण—१. जैनधर्म में एक अध्यात्मवादी प्रशाखा भी है। उसके मतानुसार मोक्ष की इच्छा भी लोभ ही है। वह लोभ मोहनीय के उदय से ही होती है। मोक्ष की इच्छा को लोभ मानने पर 'मोक्ष के साधक कारणों की इच्छा' भी स्वतः ही लोभ सिद्ध हो जाती हैं। क्योंकि इच्छा में माँग का भाव व्याप्त रहता है और माँग आकुलता उत्पन्न करती है। आकुलता मोह के क्षयोपशम से उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये इच्छा मात्र ही लोभ है। यह इस मत की विचार-पद्धति है। २. पूर्व मत के अनुसार इच्छा मात्र से आकुलता होना सही नहीं है। जैसे ज्ञानाभ्यास की इच्छा से आकुलता नहीं, उत्साह उत्पन्न होता है। उत्साह—वीर्य वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है और वह सत्पुरुषार्थ में परिणत होता है। अतः वह इच्छा लोभ नहीं है और आकुलता मात्र मोह-जनित नहीं होती है। क्योंकि ज्ञान की अल्प-उपलब्धि या अनुपलब्धि में जो आकुलता होती है, वह पश्चात्ताप रूप होकर आत्मनिन्दा और गर्हा में परिणत हो जाती है। आत्मनिन्दा और गर्हा से मोह का नाश होता है, बन्ध नहीं। ३. मोक्ष की इच्छा को भी यदि लोभ माना जायगा, तो सम्यक्त्व के एक लक्षण 'संवेग' का ही अभाव हो जायगा। वस्तुतः सम्यक् पुरुषार्थ का प्रारंभ ही संवेग से होता है। संवेग से मोह का बन्ध नहीं होता। प्रत्युत अनन्तानुबन्धी-चतुष्क का क्षय होता है। तीव्र

संवेग ही क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का हेतु है। ४. लोभ के अभाव के साथ ही संवेग निवृत्त हो जाता है। अतः संवेग भी लोभ-जनित ही हुआ। यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि लोभ के क्षय के बाद समस्त घाती कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर उसका कोई कार्य नहीं रहता। इसलिये वह निवृत्त हो जाता है। क्योंकि केवलज्ञान होने पर मति, श्रुत आदि ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं। अतः उन्हें ज्ञानावरणीय-जनित कहना अनुचित है, वैसे ही संवेग को भी लोभ रूप मानना अनुचित है।

लोभ की क्रियाएँ—

पाउबभूओ उरे लोहो, तं सिणेहम्मि बोलइ ।

आशंसा-वासिए जोगे, कट्टु अट्टं झियावइ ॥३५॥

हृदय में प्रकट हुआ लोभ उस (हृदय) को स्नेह = आसक्ति रूप भाव में डुबा देता है और योगों को आशंसा से वासित करके आर्तध्यान करवाता है।

टिप्पण—१. लोभमोहनीय सत्ता से चलायमान होकर अन्तरङ्ग में व्याप्त होता है। अतः आत्मा लोभमय बन जाता है। जिससे तीन क्रियाएँ होती हैं—स्नेहसिक्तता, आशंसायोग और आर्तभाव। २. स्नेह अर्थात् तैल, चिकनाहट। आत्मगत चिकनाहट आसक्ति है। लोभ से वस्तुओं से चिपटने की वृत्ति आत्मा में पैदा होती है। ३. आशंसायोग अर्थात् आसक्ति से वासित वीर्योत्लास। जिससे मन में वस्तु की आशंसा-चाहना उत्पन्न होती है। वचन से विविध प्रकार वाक्य-रचना से वह आशंसा अभिव्यक्त होती और तद्रूप आत्मचेष्टा से काया में आशंसा से युक्त क्रिया-चेष्टा का प्रादुर्भाव होता है। मुँह का वर्ण बदलता है, कम्पन में वेग होता है आदि। ४. आर्तभाव अर्थात् संयोग-वियोग-अभाव-जनित आकुलता का भाव। आर्तभाव गहरा होता है तो वह आर्तध्यान हो जाता है। वस्तु का प्राप्त नहीं होना अभाव है। प्राप्त होकर हाथ से निकल जाना वियोग और प्राप्त

होना—प्राप्त होकर बने रहना संयोग है। तीनों अवस्थाओं में लोभ-जनित आर्तभाव चलता रहता है। ५. कभी-कभी लोभ के निमित्त से रौद्रभाव भी प्रकट हो सकता है। वस्तुतः आर्तभाव के आगे रौद्रभाव खड़ा ही रहता है। परन्तु वह प्रायः जन-प्रतिक्रिया के निमित्त से होता है अथवा वह आर्तभाव की उत्तर अवस्था होती है। इसीलिये उसे 'आर्तध्यान' के उपलक्षण से ग्रहण किया है।

लोभ की अनुक्रियाएँ—

लोहस्साणुक्रियाओ उ, पंचासवाण उब्भवो ।

किविणया अविस्सासो, धट्ठं दिण्णं अपारया ॥३६॥

लोभ की अनुक्रियाएँ पञ्चासवों का उद्भव, कृपणता, अविश्वास, धृष्टता, दैन्य आदि अपार हैं।

टिप्पण—१. लोभ की समस्त अनुक्रियाओं का गिनाना सहज नहीं है। इसलिये उन्हें अपार कह दिया है। २. प्रमुख नव अनुक्रियाएँ गिनाई हैं—१. प्राणातिपात, २. मृषावाद, ३. अदत्तादान, ४. मैथुन और ५. परिग्रह—ये पाँच अनुक्रियाएँ आशंसायोग-जनित हैं। ६. कृपणता और ७. अविश्वास—ये दो अनुक्रियाएँ स्नेहसिक्तता-जनित हैं। ८. धृष्टता और ९. दैन्य—ये दो अनुक्रियाएँ आर्तभावजनित हैं। ३. जब योग आशंसा से वासित होते हैं, तब वे सावद्य—पापभाव से युक्त हो जाते हैं। अतः उनसे पाँच आस्रव रूप पाप होने लगते हैं। ४. स्नेह सिक्तता से पदार्थों को पकड़ रखने की भावना उत्पन्न होती है। जिससे दो भाव प्रकट होते हैं—कृपणता = कंजूसी और किसी पर भी विश्वास नहीं करना। ५. आर्तता से इष्ट-संयोग में धृष्टता और अभाव और वियोग में दीनता प्रकट होती है। इनके सिवाय लोभ की आशा, तृष्णा, वांछा, काम आदि कई क्रियाएँ और दुष्टता, शठता, मूढता, एषणात्रय, शृंगार, क्रय, विक्रय, विभूषा आदि अनेक अनुक्रियाएँ हैं। ६. अनुक्रियाओं के वर्णन में क्रम-भंग गाथा की दृष्टि से सहज में ही हुआ है।

लोभ की प्रतिक्रियाएँ—

लोहो उप्पायए लोहं, वेरं पेसुणमाइणो ।

कलहं लुपणं जुद्धं, पडिक्किया इ तस्स य ॥३७॥

और इसकी प्रतिक्रिया ये हैं—लोभ लोभ को, वैर, पैशुन्य आदि को, कलह, लूट और युद्ध को उत्पन्न करता है।

टिप्पण—१. लोभ के उदय में फँसे रहने पर पुनः लोभ रूप कर्म का बंध होता है और लोभी की लोभवृत्ति देखकर अन्य जनों में भी लोभ के भाव उत्पन्न होते हैं। २. लोभी जीव जब परिग्रह को जमा करने लगता है तब उसकी वृत्तियों के कारण परस्पर वैर हो जाता है। वैर-बन्ध के कारण परस्पर अहित के कार्य करते हैं और नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। ३. पैशुन्य अर्थात् चुगली। लोभी की अनैतिकता की चुगली अधिकारी-वर्ग से की जाने लगती है। आदि शब्द से अभ्याख्यान और परपरिवाद को ग्रहण किया है। क्योंकि ये वचन के दोष हैं। ये प्रायः परोक्ष में किये जाते हैं। अभ्याख्यान=दोषारोपण कलंक लगाना। परपरिवाद=निन्दा। लोभी पर ईर्ष्या के कारण दोषारोपण होता है और उसकी निन्दा भी होती है। ४. लोभ के कारण छीना-झपटी होती है। वाक् युद्ध होता है। गाली-गलौज और हाथापायी होती है। इसे ही कलह कहते हैं। ५. लोभी के पास परिग्रह होता है। तब उसके अर्थी लोगों की दृष्टि उस पर लगती है। वे उसे लेना चाहता है। परन्तु लोभी सहज में तो देता नहीं है। इसलिये अर्थ पाने के लिये ठगई, गिरह-कटी, चोरी, लुटाई आदि क्रियाओं का जन्म होता है। यही लुम्पन है। ६. राज्य, धन-वैभव आदि के लिये बड़े-बड़े युद्ध लड़े गये हैं और लड़े भी जाते हैं। अतः लोभ के प्रति एक लोक-प्रतिक्रिया युद्ध भी है। लोभी जब लोभ के वश ये क्रियाएँ करता है, तब वे अनुक्रियाएँ होती हैं और लोभी के प्रति उसके लोभ के कारण ये क्रियाएँ होती हैं, तब ये प्रतिक्रियाएँ होती हैं। ७. वैर मानसिक प्रतिक्रिया है। पैशुन्य आदि वाचिक, कलह

वाचिक-कायिक उभयात्मक और लुम्पन-युद्ध प्रमुख रूप से कायिक प्रतिक्रियाएँ हैं। अन्य और भी इनके सदृश-विसदृश प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं।

मन की भगवान जानें

मेवाड़ के एक सम्पन्न श्रेष्ठी उज्जैन आये। वहाँ एक साहित्य-संस्था थी। संचालकों ने सोचा—‘अपने यहाँ का साहित्य इन्हें भेंट करने से संस्था को कुछ दान प्राप्त हो सकेगा।’ उन्होंने बड़े प्रेम से सेठजी को साहित्य भेंट किया। सेठजी ने मधुर स्वरों से वार्तालाप किया। कुछ देर बाद सेठजी साहित्य लेकर वहाँ से रवाना हो गये। संचालकगण परस्पर मुँह ताकता रह गया।

कुछ दिन बाद सेठजी के लोभ या और किसी कारण से उनका गुमाश्ता नाराज हो गया। उसने सेठजी के गुप्त खजाने का भेद शासन को बता दिया। अधिकारियों ने सेठजी के यहाँ छापा मारा। उनके पूर्वजों के द्वारा संचित चाँदी की शिलियों की बहुत बड़ी राशि पर अधिकारियों ने कब्जा कर लिया। सेठजी हँसते मुख से कहते रहे—‘ये थी तब भी मुझे कोई लाभ नहीं हुआ। क्योंकि ‘ये हैं’—यह मुझे ज्ञात ही नहीं था। ये चली जाएँगी तो भी मेरे लिये फर्क क्या पड़नेवाला है। परन्तु मन पर जो बीती होगी, वह तो भगवान ही जाने।

—छापा डालने के समाचार अखबारों में बड़ी सुखियों से छपे।

लोभ की क्रिया के पहचानने के लक्षण—

उदिओ सो मणरत्तं, गिरं सदिण्ण-चाडुयं ।

कायं पावमयं किच्चा, नासइ अप्प-गोरवं ॥३८॥

उदय में आया हुआ वह (लोभ) मन को राग से युक्त, वचन को दैन्य और चाटुता से युक्त और काया को पाप से युक्त करके आत्म गौरव का नाश करता है। अर्थात् राग, दैन्य, चाटुता और पाप-प्रवृत्ति लोभ-विपाक के लक्षण हैं।

लोभ के स्तर की पहचान—

कमि-कदम-खंजण-हलिद्रा-रागेहिरत्त-वत्थेव ।

लोहो कमसो चिट्ठइ, गई सद्द-सील-भाव हरो ॥३९॥

कृमिराग, कर्दमराग, खंजनराग और हलिद्राराग से रंगे हुए वस्त्रों के सदृश (स्तरवाला) क्रमशः लोभ स्थित है। (उससे क्रमशः) गति (होती) है और वह (क्रमशः) श्रद्धा, शील (=देश विरति और सर्व विरति) और (शुद्ध) भाव (=यथाख्यात चारित्र) का अपहारक है।

टिप्पण—१. लाल कृमियों से तैयार किया गया रंग स्थायी रहता है। वह रंग अति अपवित्र होता है। वैसे ही अनन्तानुबन्धी लोभ अति स्थायी, लाभ में अत्यधिक बढ़नेवाला और अपवित्र होता है। अतः उसके उदयकाल में नरकायु का बंध होता है। २. कर्दम = कीचड़ से सना हुआ वस्त्र कम स्थायी रंगवाला, कम अपवित्र और विशेष प्रयत्न से शुद्ध होनेवाला होता है। वैसे अप्रत्याख्यानी लोभ थोड़े लम्बे समय तक टिक सकता है। उसमें भावों की अशुद्धि पूर्व की अपेक्षा कम रहती है और विशेष प्रयत्न से उसमें मंदता आ जाती है। उसके उदयकाल में तिर्यञ्चायु का बंध होता है। ३. खंजन = कजली। कजली के रंग में सना हुआ वस्त्र मृत्तिका तैलादि के प्रयोग से जल्दी शुद्ध हो जानेवाला और अपवित्र नहीं होता है। वैसा प्रत्याख्यानावरण लोभ भी है। यह अत्यन्त मर्यादित हो जाता है और इसमें चरित्र शुद्धि का कम प्रारंभ हो जाता है। इसके उदय में मनुष्यायु का बन्ध होता है। ४. हलिद्रा का रंग शुभ और त्वरित ही उड़ जानेवाला होता है। वैसे ही संज्वलन के लोभ में शुभभाव की तीव्रता रहती है और यह लोभ अल्पलाभ में ही शमित हो जाता है। उसके उदय में देवायु का बन्ध होता है। ५. अनन्तानुबन्धीचतुष्क सम्यक् श्रद्धा का, अप्रत्याख्यानी चतुष्क देशविरति = अंशतः त्याग का, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क सर्व-विरति = महाव्रतों का और संज्वलनचतुष्क यथाख्यात चरित्र का नाशक है।

६. लोभ के स्तरों की पहचान क्रमशः असंतुष्टि, अल्पतुष्टि, विशेषतुष्टि और त्वरिततुष्टि है। यद्यपि यह पहचान एकदम निश्चित नहीं है, फिर भी साधनामार्ग की दृष्टि से यह बहुत ही उपयोगी है। निश्चित बात तो अतिशयज्ञानी ही जान सकते हैं। साधक को तो टटोल कर ही चलना है।

लोभ की योनि आदि—

जोणी लोहस्स लोहो हि, दोसाण नायगो पिया ।

पिवासा ममया जम्हा, दोसा लोहे हए हया ॥४०॥

लोभ की योनि लोभ ही है। वह दोषों का नायक और पिता है। जिस (लोभ) से पिपासा = आशा, तृष्णा और ममता बनी रहती है, (उस) लोभ को नष्ट होने पर सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पण—१. तीन कषाय (क्रोध, मान, माया) लोभ की उत्पत्ति में निमित्त नहीं बनते हैं। बाहरी कारण तो लोभ की उत्पत्ति में कई हो सकते हैं। परन्तु आभ्यन्तर कारण कोई ध्यान में नहीं आता है। अतः लोभमोहनीय का उदय ही लोभ का हेतु है। २. दोषों का नेता-अगुआ लोभ है। लोभ के साथ अन्य दोषों की कतार चलती है। ३. लोक दृष्टि से लोभ ही पापों का बाप है। वस्तुतः लोभ के अस्तित्व में ही समस्त दोष पनपते हैं। जब समाज में-देश में लोभ का वर्चस्व बढ़ता है, तब नैतिक मूल्यों का पतन हो जाता है। ४. लोभ के उदय में कुछ न कुछ पाने की प्यास बनी ही रहती है और ममता तीव्र होती जाती है अर्थात् लोभ में जीव सदैव अशान्त रहता है। चाह है तो जीव गुलाम है और चाह नहीं है तो शाहंशाह। ५. दोष दो प्रकार के हैं—लोभ से पनपनेवाले और उसकी छत्रछाया में रहनेवाले। सभी दोषों को इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। मोहजनित समस्त दोष लोभ के अस्तित्व तक ही रहते हैं और उन्हें लोभ के नष्ट होने के पहले ही नष्ट होना पड़ता है। शेष घातीकर्म से उत्पन्न दोष लोभ के क्षय होने के बाद अधिक समय तक

नहीं टिक सकते हैं। इसीलिये यह बात सिद्ध होती है कि लोभ के नष्ट हो जाने पर समस्त चारित्रिक दोष, ज्ञान के दोष और विघ्नजनित दोष नष्ट हो जाते हैं और जीव सर्वज्ञ-सर्वदृष्टा बन जाता है।

(५)

कसाय-स्वरूप-चिन्तन का फल बताया जाता है—

सत्तु-रणो बलं मम्मं, ण णायं ताव सो बली ।

एवं जाव कसाओ णो, णाओ तावेव सो बली ॥४१॥

जैसे शत्रु राजा का बल और मर्म—दुर्बल स्थान का ज्ञात नहीं होता है, तभी तक वह बली (प्रतीत होता) है। वैसे ही जबतक (हमें) कसाय (का स्वरूप) ज्ञात न हो, तभीतक वह बली है।

टिप्पण—‘मर्म’ शब्द का अर्थ है—रहस्य-गुप्त बात और दुर्बल स्थान। यहाँ दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। कषाय-स्वरूप-चिन्तन से उसकी रहस्यमयता नष्ट हो जाती है और उसके कमजोर पक्ष का भी ज्ञान हो जाता है।

सत्तुणो मम्म-विण्णाणे, तेणं तु सुलहो रणो ।

तहा मम्मे कसायाणं, णाए जुज्झज्ज निग्गओ ॥४२॥

(जैसे) शत्रुओं का मर्म विशेष रूप से जान लेने पर उसके साथ लड़ना सुलभ (हो जाता) है। वैसे ही कषायों का मर्म जान लेने पर (उनके साथ) निर्भय होकर लड़ा जा सकता है अथवा लड़ो।

तस्स सरूव-चिंताए, रहस्सं तस्स णज्जइ ।

तेणं खिज्जइ सो भीओ, कंपइ होइ दुब्बलो ॥४३॥

उसके स्वरूप का चिन्तन करने से उसका रहस्य ज्ञात होता है। इस कारण वह खिन्न होता है। डरता हुआ कांपता है और दुर्बल होता है।

टिप्पण—१. कषाय का स्वरूप-चिन्तन स्वाध्याय का अनुप्रेक्षा रूप भेद है। अतः उसके फल के समान इसका भी फल होता है। २. स्वरूप-चिन्ता से कषायों के रहस्य का ज्ञान होता है और चार बातें और निष्पन्न होती हैं—खेद, भीति, कम्पन और दौर्बल्य। खेद अर्थात् कषाय के स्वभाव में—अप्रीति-उत्पादन आदि भावों में म्लानता आना—स्थिति घात होना। भीति = जैसे कि तैसे स्वरूप में फलित नहीं होना अर्थात् रसघात होता है। कम्पन = प्रदेशघात होना। स्थिति, रस और भेद तीनों के घात के कारण कषाय दुर्बल होते हैं।

तस्मि रत्तो न याणेइ, भीओ वि तं न जाणइ ।

विबुहो जिण-आणाए, अभीओ तं वियाणइ ॥४४॥

उस (कषाय) में अत्यधिक लीन उसको नहीं जानता है और (उससे) डरा हुआ भी (उसको) नहीं जानता है। किन्तु नहीं डरा हुआ विबुध = विशिष्ट ज्ञानी जिन आज्ञा से उसको विशेष रूप से जानता है।

टिप्पण—१. कषाय को जानने में दो बाधक कारण—उसके वशीभूत हो जाना और उससे अतिभय। कषाय के वशीभूत बना हुआ मनुष्य उसी में बह जाता है। अतः उस पर, उसके भेद और स्तर पर कुछ भी चिन्तन नहीं कर पाता है। डरा हुआ स्थिर नहीं रह सकता है। वह धैर्य से रहित हो जाता है। अतः अपने मानसिक विकारों का वह निरीक्षण नहीं कर सकता। २. **विबुहो जिणआणाए'**—इस पद के दो अर्थ हैं—'विशिष्ट बुद्धिधन साधक जिनदेव की आज्ञा के अनुसार' और 'जिनआज्ञा के चिन्तन द्वारा विशेषज्ञ बना हुआ साधक'। यहाँ दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। ३. कषाय-स्वरूप के चिन्तन में तीन आभ्यन्तर साधनों का उल्लेख गाथा में किया है—प्रज्ञा, जिनआज्ञा और अभय = अनाकुलता। प्रज्ञा के द्वारा स्वरूप का चिन्तन होता है। जिनआज्ञा के द्वारा कषाय और चेतना का भेद समझ में आता है। और अनाकुलता—अभय, धैर्य आदि से कषाय के स्तर आदि के विषय में परीक्षण किया जाता है।

जा जा तस्स सरूवं हु, चित्ते ता ता स-अंतरं ।

गूढयरं पदंसेइ, सो किंचि वि न गूहइ ॥४५॥

जितना-जितना (कोई) उस (कषाय) के स्वरूप का निश्चय रूप से चिन्तन करे, उतना-उतना वह अपने भीतर के गूढतर भाव को प्रदर्शित करता है, कुछ भी छिपाता नहीं है ।

टिप्पण—१. किसी विषय के स्वरूप का चिन्तन करने से उसके विषय में गहनतम जानकारी भी प्राप्त हो सकती है । वैसे ही कषाय के स्वरूप का चिन्तन करने पर उसका अति गुह्य रूप भी व्यक्त हो सकता है । एक-एक प्रकार के तरतमता से कई प्रकार हो जाते हैं और एक-एक रूप के असंख्य परिणाम-स्थान होते हैं । २. वस्तुतः कषाय का भाव जड़-कर्म-जनित है । अतः उसमें कुछ छिपाने की कुछ भी शक्ति नहीं है । किन्तु हमारा भाव उससे आविष्ट हो जाता है । जिससे अपने आपको अपने आप में देखना कठिन हो जाता है और निरीक्षण करते समय वे भाव तिरोहित हो जाते हैं । अतः स्वरूप-चिन्तना से निरीक्षण शक्ति जितनी तीक्ष्ण होती जाती है, उतनी उन भावों को समझने की शक्ति-ग्रहण शक्ति बढ़ती जाती है और रहस्य खुलने लगता है ।

असुहं असुहं णच्चा, तम्मि रमइ को णरो ।

को कसाए वसे-णच्चा, मालिण्णं परयं सए ॥४६॥

अशुभ को अशुभ रूप में जानकर उसमें कौन मनुष्य रमण करता है । (वैसे ही) (कषायों को)—अपने में पर से उत्पन्न मालिन्य के रूप में जानकर कषाय में कौन वसेगा ?

टिप्पण—१. अशुभ-अमङ्गल को उसके सही स्वरूप में जान लेना ही उससे दूर टलने का हेतु बनता है । २. निज शरीर से उत्पन्न अशुभ पदार्थ

को भी मनुष्य त्याग देता है तो पर-जन्म अशुभ को वह स्वीकार ही कैसे करेगा ? ३. कषाय परजन्म मालिन्य है। पर अर्थात् कर्म। कर्म पौद्गलिक होते हैं और पुद्गल जीव के लिये पर हैं। कषाय कर्म-जन्म है। अतः वह आत्मा में पर से उत्पन्न मलिनता है।

कषाय-भेद-चिन्ताएँ, भावो लेसा सुहा हवे ।

तिभेया धम्मज्ञाणस्स, होंति अज्जो विसेसओ ॥४७॥

कषाय के भेद के चिन्तन से भाव और लेश्या शुभ हो सकते हैं। जिससे धर्मध्यान के तीन भेद होते हैं। (जिसमें) पहला भेद विशेष रूप से (घटित होता है)।

टिप्पण—१. भाव=अन्तरङ्ग परिणाम। लेश्या=विशेष जमे हुए भावों का प्रवाह। ज्ञाण=दृढ़ सदृश अध्यवसाय धारा या एक रूप दृढ़ अध्यवसाय। २. भेद के दो अर्थ—रहस्य और प्रकार। कषाय का रहस्य और कषाय के प्रकार। ३. कषाय-स्वरूप के चिन्तन से जब कषायों के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है और उनसे छुटने के भाव होते हैं, तब शुभ भाव होते हैं। वे भाव लम्बे समय तक चलते हैं, तब लेश्या की विशुद्धि होती है। विशुद्ध लेश्या में लीनता होने पर जब अध्यवसाय दृढ़ होते हैं, तब प्रशस्त ध्यान परिणति होती है। ४. धर्मध्यान के चार भेदों में से अन्तिम भेद को छोड़कर शेष तीन भेद—आज्ञाविचय, अपायविचय और विपाकविचय। कषाय के स्वरूप-चिन्तन से जिनदेव के द्वारा प्रतिपादित स्वरूप-आज्ञा रूप आज्ञा-विचय, कषायों के दोषों में ध्यान जमने पर अपाय-विचय और कषाय के स्तरों के फल-चिन्तन में भाव दृढ़ होते हैं तो विपाकविचय धर्मध्यान बनता है। किन्तु प्रधानरूप से आज्ञाविचय-धर्मध्यान निष्पन्न होता है।

२. निरीक्षण—द्वार

कषाय के स्वरूप का चिन्तन करके उनके लक्षणों को भलीभाँति समझ कर उनका अपने भीतर निरीक्षण करना चाहिये। उनको तीक्ष्ण बुद्धि से

पकड़ना चाहिये। क्योंकि कषायों को पहचानना सरल नहीं है। फिर अन्तरङ्ग में उपयोग मोड़ना और अपने ही दोषों को देखना और कठिन है।

निरीक्षण की प्रेरणा—

कसायं चेव कसायं, जाणेज्ज य धरिज्ज य ।

णिच्चं तस्सोवारिं दिट्ठि, कुज्जा तं च परिक्खए ॥४८॥

कषाय को कषाय रूप से ही जानें और (उसे बुद्धि से) पकड़ें। उसके ऊपर सदैव दृष्टि रखें और उसको परखें।

टिप्पण—१. निरीक्षण-विधि के अंग—ज्ञप्ति, धृति, अन्तरदृष्टि, जागृति और परीक्षण। ज्ञप्ति=जानकारी। धृति=धैर्य सहित प्रज्ञा के द्वारा यथार्थ पकड़। अन्तरदृष्टि=अपनी दर्शन-क्रिया को अपनी ओर मोड़कर अन्तर्मुख करना। जागृति=अपने आप पर अपनी चौकीदारी। परीक्षण=गुण दोष का विवेक। २. कसायं चेव कसायं अर्थात् 'और कषाय रूप में ही कषाय को'। च=और शब्द से यह ध्वनित होता है कि किसी अन्य पदार्थ को भी कषाय के साथ जानना है—या जाना जाता है। वह है—चैतन्य। चैतन्य और कषाय दोनों का स्वरूप जानना—यह आशय है। एव=ही—इस शब्द से यह भाव प्रगट होता है कि कषाय=आत्मा की विकारी पर्याय को विकारी पर्याय के रूप में ही जानना है। कषाय में स्थित राग-बुद्धि का परिहार करने पर ही उसका यथार्थ रूप जाना जा सकता है। चैतन्य की शुद्ध पर्याय और उसमें विपर्यय नहीं होना चाहिये। यह कषाय-ज्ञप्ति की विधि है। ३. 'शुद्ध चैतन्य से भिन्न कषाय रूप में ही मुझमें विकारी वृत्ति है'—इसे बुद्धि में दृढ़ता से धारण करना—यह कषाय-धृति है। कदाचित् यह वृत्ति पकड़ में न आये—अन्तरङ्ग में दब जाये तो अपना धैर्य नहीं खोना। क्योंकि उसपर दृष्टि जमाने से वह वृत्ति लुप्त हो जाती है। ४. कषायों में गुणबुद्धि हो जाती है। अतः परीक्षण करना—आवश्यक रहता है। ज्ञान आदि पाँचों अंगों के मिलने पर निरीक्षण-क्रिया की पूर्णता

होती है। ५. जीवन-व्यवहार के प्रत्येक कार्यों पर और अपने आप पर सदैव निरीक्षण होता रहना चाहिये।

निरीक्षण में सावधानी की प्रेरणा—

धुत्ता बहू कसाया हि, होंति विविह-रूविणो ।

॥ बुद्धि सइं भमाडित्ता, जीवं छलंति पावया ॥४९॥

निश्चय रूप से कषाय बहुत धूर्त होते हैं। वे विविध रूप धारण करते हैं।
(वे) पापक बुद्धि और स्मृति को भ्रमित करके, जीव को छलते रहते हैं।

टिप्पण—१. धूर्त= ठगाई करने में दक्ष। कषाय कोई व्यक्ति नहीं हैं—आत्मा के असद्गुण हैं। वे विविध पर्यायों में परिवर्तित होकर सद्गुण के स्वरूप को धारण कर लेते हैं, जिससे उन्हें पहचानना अति कठिन हो जाता है। इसीलिये उनका व्यवतीकरण करके उन्हें धूर्त कहा गया है। २. बुद्धि और स्मृति कषायों के वशीभूत होकर कुण्ठित हो जाती है। अतः सोचना और याद रखना दोनों विपरीत हो जाते हैं। ३. पापक= अशुभ रूप। कषाय मंद होकर शुभ रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु वे शुभ फल प्रदान करके भी जीव के लिये पुनः अशुभ ही करते हैं। इसलिये वे पापक ही हैं।

यथार्थ निरीक्षण की द्विविधता—

अप्पमत्तो सया तम्हा, सरित्ता तेसि लक्खणं ।

दुविहेण निरिक्खेज्जाऽऽलोयण-चित्तणेहि य ॥५०॥

(कषाय छलते हैं) इसकारण सदा अप्रमत्त होकर उनके लक्षण का स्मरण करके आलोकन और चिन्तन के द्वारा निरीक्षण करे।

टिप्पण—१. निरीक्षण के प्रमुख साधन बुद्धि और स्मृति ही हैं। यदि ये दोनों भ्रमित हों तो वास्तविक निरीक्षण नहीं हो सकता है। इनमें भी

स्मृति की प्रधानता है । २. स्मृति की विशुद्धि के दो उपाय हैं—अप्रमाद और कषाय के लक्षण की असंदिग्ध याद । ३. आलोकन और चिन्तन ये दोनों कार्य बुद्धि से करने होते हैं । बुद्धि, प्रज्ञा, मति आदि प्रायः एकार्थक हैं । बुद्धि के द्वारा अन्तर्मुख दर्शन आलोकन है और श्रुत के माध्यम से सोचना चिन्तन रूप निरीक्षण है ।

दोनों प्रकार के निरीक्षण का स्पष्टीकरण—

दक्खेण जामिगेणेव, आलोयणं करेऽपणा ।

कहिं चि केण कम्हत्ति, आगया इइ चित्ते ॥५१॥

दक्ष यामिक—पहरेदार के (द्वारा किये हुए अवलोकन के) समान अपने द्वारा (अपना) आलोकन करे और किसमें, किसके द्वारा और किस कारण से (ये कषाय) आये हैं—यह (सूत्रानुसार) चिन्तन करे ।

टिप्पण—१. दक्ष प्रामाणिक चौकीदार के उदाहरण से आलोकन-निरीक्षण का स्पष्टीकरण किया है । प्रामाणिक चौकीदार की जितनी सूक्ष्म दृष्टि होती है, उससे अधिक सूक्ष्म दृष्टि से अपने भीतर अपना अवलोकन करना—आलोकन निरीक्षण है । २. जैसे चौकीदार की दृष्टि में स्वामी को हानि पहुँचानेवाला कोई भी व्यक्ति छिप नहीं पाता, वैसे ही अपने सूक्ष्म आलोकन से कषाय वृत्ति अंश मात्र भी छिपी न रहे । ३. यहाँ तीन कारकों का उल्लेख किया गया है—परन्तु षट्कारकों से ही चिन्तन करना समुचित है । जैसे—कौनसा कषाय है ? किसको आया है ? किसके द्वारा आया है ? किसलिये आया है ? किस कारण से आया है ? और किसमें आया है ? क्रोधकषाय, मूझको, अपने मलिन पर्याय के द्वारा, अपने आपके लिये, अपनी भूल के कारण अपने में आया है—यह आभ्यन्तर षट्कारकों का चिन्तन है । क्रोधकषाय का उदय, किसी बाह्य निमित्त से, कर्म को वेद लेने के लिये, कर्म की स्थिति पूर्ण होने से, कर्मणशरीरगत सत्ता में से आया है—यह पंचकारकों का बाह्यदृष्टि से चिन्तन है । परन्तु प्रमुख अधिकरण,

करण और अपादान ही हैं । ४. आलोकन के द्वारा कषाय को सही रूप में पहचानकर, उसे भली भाँति अपना अहितैषी जान लेना और चिन्तन के द्वारा उस भाव को पुष्ट करते हुए कषाय—प्रेरित प्रवृत्तियों का दृढ़तापूर्वक निर्णय करना—दृढ़ संकल्प करना ।

सावधानी से आलोकन करो—

आलोयणं कुणंतो णो, पक्खवायं करेज्ज भो !

कोहो ओयं हु माणो वि, दीसइ अप्प-गोरवं ॥५२॥

माया पईयए रक्खा, लोहो महु-हिंसणो ।

तम्हा अप्प-पमाएणं, कसाओ हिंसए गुणे ॥५३॥

हे आत्मन् ! आलोकन करते हुए पक्षपात नहीं करना ! (क्योंकि) क्रोध निश्चय ही ओज रूप में और मान भी आत्म-गौरव के रूप में दिखाई देता है। माया (आत्म—) रक्षा और लोभ मीठा हितैषी रूप में प्रतीत होता है। इस कारण कषाय अल्प-प्रमाद में भी (आत्मा के) गुणों की घात करता है।

टिप्पण—१. जीव आलोकन करते हुए पक्षपात कर सकता है। उसे अपने आपके प्रति अत्यधिक राग रहता है। दोष अपने होते हैं। अतः उनमें राग होना कोई अनहोनी बात नहीं है। जिसमें राग होता है उसमें पक्षपात होता ही है। २. दोषों में राग होने पर उनका आलोकन निष्पक्ष रूप से नहीं हो सकता है। अतः वे गुण रूप में ही दिखाई देते हैं। क्रोध ओज-अपने तेज की वृद्धि में हेतु रूप प्रतीत होता है। क्रोध से मनुष्य अन्य को प्रायः दबा देता है। लोग अपनी शान्ति की सुरक्षा के लिये उससे विवाद नहीं करते हैं—भय खाते हैं। अतः क्रोधी को लगता है कि मेरे क्रोध के कारण ये सभी दब गये हैं। क्षमा, शान्ति से अपनी उपेक्षा होते देखकर भी क्रोध परमशक्ति

के रूप में भासित होने लगता है। ३. मान में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा और बड़प्पन की वृद्धि दिखाई देती है। समाज में विनम्र मनुष्य की अवहेलना होती हुई देखी जाती है। जो अपनी महिमा बढ़वाता है, वह समाज पर छा जाता है—इतिहास में आलेख्य पुरुष बन जाता है। अतः मान के अभाव में गौरव की हानि दिखाई देती है और मान आत्मगौरव के रूप में ही लगने लगता है। ४. मायी जीव छल-कपट से अपना बचाव कर लेता है। अपने दुर्गुणों को पूर्णतः छिपा लेता है और ढोंग, माया-जाल की रचना करके लोक में पूज्य पुरुष बन जाता है। अतः साधक को माया सुरक्षा की ढाल—चातुर्य के विस्तार सदृश प्रतीत होने लगती है। ५. लोभ अर्थात् चाह-इच्छा से इष्ट पदार्थों का संयोग होता हुआ दिखाई देता है। संतोषी अकर्मण्य—हतभागी—सा अवहेलित होता है। जो इच्छा करता है वह जनसमुदाय और प्रकृति का दोहन करके अपने भण्डार को भरता है। बिना लोभ के उद्यम की प्रेरणा ही नहीं मिल सकती। संसार का अधिकतम विकास और व्यवहार लोभ की आधार-शिला पर ही टिका हुआ है। अतः लोभ से बढ़कर मधुर और हितैषी और कौन है? ५. ये भाव संसार के पक्ष से उत्पन्न होते हैं। संसार दुर्गुणों से उत्पन्न होता है और दुर्गुणों से ही चलता है। अतः संसारा-पेक्षी दृष्टि कषाय को महत्त्व देगी ही। साधक को यह समझ लेना चाहिये कि वह संसार का चलनी सिक्का नहीं है। वैराग्य आते ही जीव संसार के लिये खोटे सिक्के जैसा ही बन जाता है। यद्यपि संसार त्यागियों की पूजा करता है, फिर भी उनके पास त्याग की कोई कसौटी नहीं होती है। इसलिये अधिकांश संसारी जीव प्रायः त्याग के ढोंगियों को ही पूजते हैं। सच्चे त्यागी लोकैषणा से निरपेक्ष रहते हैं। ६. ओज, सुरक्षा, गौरव, यश आदि की उपलब्धि पुण्य के फल हैं। ये कभी भी कषाय-जनित नहीं हो सकते हैं। हाँ, कषाय की मंदता में तथारूप भावों से वे प्रकृतियाँ बंध सकती हैं। साधक को पुण्य का फल भी त्यागना है—उसकी वांछा भी नहीं करना है और

पाप का फल समभाव से भोगना है। ७. कषायों में ओज आदि भावों का आरोपण होने पर वे पुष्ट ही होते हैं—बढ़ते ही हैं; किन्तु दुर्बल और अल्प नहीं होते। यदि ये भाव कषायों में आरोपित हो रहे हों तो जाग्रत-प्रामाणिक चौकीदार के समान आलोकन के द्वारा लबादा ओढ़कर आये हुए इन कषायों को पहचान लेना चाहिये। ८. सम्यग्दृष्टि आत्मा त्याग नहीं कर पाने पर भी और संसारी में अव्रत में रहते हुए भी इन कषायों का पक्षपाती नहीं होता है। उसे कषाय आत्मघन के लुटेरे ही लगते हैं। देशविरत साधक कषाय के बीच रहते हुए भी उन्हें आत्मा को भव में भटकानेवाला ही मानता है। अतः सर्वविरत साधक को तो कषायों से सावधान रहना ही चाहिये। ९. साधक की थोड़ी गफलत भी घातक हो जाती है। जैसे युद्धभूमि में या उठाईगीरों के बीच जरा-सा प्रमाद प्राण-लेवा और धन-हरण का हेतु बनता है, वैसे ही कषाय-भाव के निरन्तर उदय में क्षण मात्र का अल्प-सा प्रमाद भी घातक हो जाता है।

ओजस्वी ! तेजस्वी !

प्रफुल्ल भाटी मुनियों के संपर्क में आया। उसका मन दीक्षा लेने का हुआ। वह वैरागी रूप में मुनिजी के पास रहा। मुनि राजस्थान की सीमा के गाँव में स्थिरवास थे।

प्रफुल्ल नवयुवक ही था। खाते-पीते घर का कुमार था। वह हंस-धवल उज्ज्वल वेश पहनता था। वह गले में सोने की चैन डाले हुए था और आधी चैन कुर्ते के बाहर और आधी कुर्ते के भीतर रखता था। वह बाहर झांकती चैन यह बताती रहे कि यह वैरागी गरीब घर का नहीं है। उसकी मुख-मुद्रा गर्व के भाव मण्डित आकर्षक थी। वह कड़कते स्वर से बोलता था।

एक मुनिदल राजस्थान से मालवा की ओर जा रहा था। वे उसी गाँव में आये। मुनियों ने कुछ दिन वहाँ रहकर विहार किया।

प्रफुल्ल ने गुरुजी से आज्ञा लेकर, मुनिराजों को मालवा के बड़े नगर तक पहुंचाने के लिये उनके साथ गया ।

मुनियों का मालवा की सीमा में प्रवेश हुआ । वे उज्जैन की ओर आगे बढ़ रहे थे । उज्जैन तक कोई-कोई गाँवों में ही जैनों की बस्ती थी । मुनि जिस गाँव में ठहरे थे, वहाँ से आगे आहार का पूरा योग बैठने जैसा नहीं था । इसलिये प्रातःकाल में विहार के समय कुछ आहार का योग बैठा तो साथ ले लिया । मुनियों के लिये वह आहार नाश्ते के लिये भी पर्याप्त नहीं था । मुनिजन आगे बढ़े ।

मर्यादित क्षेत्र में मुनियों ने आहार किया । प्रफुल्ल को यह अच्छा नहीं लगा । बहुत बुरा लगा उसे । उसने सोचा—“कैसे हैं ये मुनि ! बस, पेट भरे हैं ये ! इन्हें अपना ओज-तेज बताना होगा ।” वह मुनियों के साथ चल रहा था—मन में गुस्सा भरे हुए । वह कुछ रोब जमाते हुए बोला—“आप कैसे त्यागी साधु हो ?”

आश्चर्य से मुनि बोले—“भाई ! क्यों-क्या हुआ ?”

वह कुछ तैश में जरा तीखे स्वर में बोला—“आप अकेले ही माल उड़ा गये ! मैं भूखा ही बैठा रहा ! आपके गले उतरा कैसे ?”

मुनि ने शान्त स्वर में कहा—“भाई ! तुम अभी हमारी श्रेणि में नहीं आये हो ! तुम खुले हो ! तुम पर कुछ प्रतिबंध नहीं है । गृहस्थों को आहार देने का हमारा कल्प नहीं है—यह क्या तुम नहीं जानते हो ?”

वह लाल आँखों से मुनियों की ओर देख रहा था । जिसमें ये भाव भरे हुए-से थे—“ओह ! आये बड़े कल्पवाले !”

उज्जैन के समीप के ग्राम में मुनियों ने रात्रि-वास किया । उज्जैन से कोई भी उपासक खोज-खबर लेने नहीं आया । यह बात प्रफुल्ल वैरागी को खटकी । वह कोई बात का प्रसंग पाकर बोला—“मालवा के लोग ऐसे ही हैं । कुछ भी भाव-भक्ति नहीं है । कुत्ते हैं कुत्ते !”

एक मुनि ने टोंका—“ऐसा मत बोलो । तुम वैरागी हो ?”

“मैं क्या कहूँ ? वसुमुनि कह रहे थे । भक्ति कुछ नहीं । काटने दौड़ते हैं !” “वैरागी को ऐसा नहीं बोलना चाहिये । कोई भी ऐसी बात बोले; अनुचित है ।”

उज्जैन गये । एक श्रेष्ठी के घर भोजन करने गया । भोजन पीतल की थाली में परोस दिया गया । पारा एकदम ऊँचा चढ़ गया । भोजन किया, न किया और लाल-पीला होता हुआ स्थानक पहुँचा । चेहरा तमतमाया हुआ था । वह बड़बड़ा रहा था । मुनियों ने सुना—“मालवा के लोग टुच्चे हैं । क्या मैं हीन जाति का हूँ—गरीब घर का बेटा हूँ, जो पीतल की थाली में भोजन परोसा ?”

एक मुनि बोले—“भाई ! शान्त होओ । पीतल की हो या सोने की-थाली तो थी ही न ! जैसी जिसके घर की रीत ! करना भोजन था । फिर थाली किसी भी धातु की हो, क्या फर्क पड़ता है ?”

“मनोवृत्ति का फर्क पड़ता है । ऐसे स्वाभिमान-आत्मगौरव खोकर मैं नहीं रह सकता । मैं आज ही जाऊँगा !”

स्पष्टीकरण—प्रफुल्ल को धनिक-पुत्र के दिखावा रूप माया अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा, भोजन का लोभ हितैषी, क्रोध ओज और मान अपने हितैषी या तेज रूप में प्रतीत हुआ । इसप्रकार कषाय से वासित हृदयवालों का वैराग्य वास्तविक नहीं होता है ।

चिन्तन-निरीक्षण—

काऊण सुहुमं बुद्धिं सुद्धं चित्तिज्ज पासगो ।

पवित्तीए कसायस्स, तथा भासइ वक्कया ॥५४॥

पश्यक—दृष्टा (आत्मा) बुद्धि को सूक्ष्म करके शुद्ध रूप से चिन्तन करे । तब प्रवृत्ति में कषाय की वक्रता भासित होती है ।

टिप्पण—१. पासग शब्द से आलोकन के पश्चात् चिन्तन करने की सूचना दी है। क्योंकि आलोकन के द्वारा जानी हुई कषाय की विपरीत प्रतीति चिन्तन के द्वारा अधिक स्पष्ट होती है और अपनी प्रवृत्ति में रहे हुए दृष्टि-विपर्यास को पकड़ा जा सकता है। २. कषाय की वक्रता अर्थात् कषायों का गुण रूप में प्रतीत होना। जीव को कषाय में उपादेय भाव से कषाय-जनित प्रवृत्ति में गुणवत्ता लगने लगती है। ३. वह भ्रम स्थूल बुद्धि से पकड़ में नहीं आता। सूक्ष्म-बुद्धि शास्त्र-श्रद्धा से वासित न हो तो संसारोन्मुखी चिन्तन करती है। शास्त्र-श्रद्धालु भी यदि मात्र तार्किक ही हो तो वह बौद्धिक चिन्तन ही करता है, साधना-परक नहीं। अतः पश्यक होना चाहिये। चिन्तक को। अन्तरात्मा, जगत्-व्यवहार और तत्त्वार्थ का निरीक्षक ही पश्यक हो सकता है। ४. पश्यक आत्मा भी सतत जाग्रत रहकर शास्त्र-सापेक्ष कषाय-स्वरूप के चिन्तन-पूर्वक अपने भीतर की कषाय-प्रवृत्ति का सूक्ष्म बुद्धि से निरीक्षण करता हुआ लोक-व्यवहार को टटोलता रहे, तभी कषायों की विविध रंगी प्रवृत्तियों को समझ सकता है और उनमें होनेवाले भ्रम को पकड़ सकता है। यही चिन्तन का शुद्ध स्वरूप है। ५. पश्यक पश्यक रहे। कषायों में-कषाय प्रवृत्तियों में जुड़े नहीं। कषाय-उदय में कदाचित् बह जाय तो उसके पश्चात् निष्पक्ष बुद्धि से उनसे असंलग्न हो जाय और उसकी दोषरूपता को सोचे।

कषाय-प्रवृत्ति में विपर्यास के उदाहरण—

जहा देहाभिमाणो उ, सच्छया सभ्यया वरा ।

रायति किरियादंभो, सोक्ख-रूवो य दक्खया ॥५५॥

जैसे देहाभिमान स्वच्छता और श्रेष्ठ सभ्यता रूप में और सत्क्रिया का दंभ सौख्य और दक्षता रूप में विराजमान होते हैं।

टिप्पण—१. मैं 'देह हूँ'—इस प्रतीति से देह का अभिमान पैदा होता है। जिससे देह के वर्ण को निखारने, सौन्दर्य बढ़ाने, ज्यादा

मठारने आदि की क्रियाएँ स्वच्छता और सजाने, सँवारने, फैशन करने आदि की क्रियाएँ श्रेष्ठ सभ्यता लगती हैं। २. अपने में सत्क्रिया के न होते हुए भी उसकी दिखावट करना या सत्क्रिया का अभिमान करना क्रियादंभ है। यह सुखरूप और दक्षता प्रतीत होता है। ३. व्यक्ति इनका बहुमान करता है इसलिये उन्हें 'विराजमान होते हैं'—यह कहा है।

सच्चस्साग्रह-रूवेण, पण्णा-मओ पयट्टइ ।

चरित्त-हीलणा कंती, धिट्ठया उज्जुआ वरा ॥५६॥

कलहो वीरया वाओ, पंडित्तं संगहो पिया ।

उवओगी ति सोहिज्ज, दिट्ठि-विपरियासयं ॥५७॥

प्रज्ञामद सत्य के आग्रह रूप में परिवर्तित हो जाता है। चरित्र की अवहेलना क्रान्ति, धृष्टता श्रेष्ठ ऋजुता, कलह वीरता, वाद पाण्डित्य और संग्रह पिता-सा उपयोगी रूप में (अच्छा) लगता है। (चिन्तन के द्वारा) इस दृष्टि-विपर्यासता का शोधन करना चाहिये।

टिप्पण—१. श्रुतमद के ही अंश रूप में प्रज्ञामद है। निष्पक्ष चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित होने की लालसा जाग्रत होने पर प्रज्ञामद प्रकट होता है। जिससे श्रद्धा का भाव गौण हो जाता है और सत्य-शोध का आग्रह पैदा होता है। सत्यान्वेषण यद्यपि साधक के लिये आवश्यक है, फिर भी उसे अपनी बुद्धि की सीमा समझना चाहिये। अतीन्द्रिय पदार्थों में सत्यान्वेषण के नाम पर दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है। उस स्थिति में अपनी अल्पप्रज्ञा को पूर्ण प्रामाणिक मानने के कारण उसका उन्माद उत्पन्न होता है। जिससे सत्य-आग्रह के नाम पर सत्य की ही अवहेलना होने लगती है। यही प्रज्ञामद का सत्याग्रह रूप में परिवर्तित दृष्टि-विपर्यास है। २. नैतिक नियम और चरित्र

से सम्बन्धित आचार-पद्धति का निर्वाह न हो पाने पर वे बन्धन लगने लगते हैं । लम्बे समय से साधकों के द्वारा तथारूप आचार-पद्धति के पाले जाने के कारण समूह में भी वैसी चेतना का निर्माण हो जाता है । अतः उस आचार-पद्धति के भंग होने पर लोगों में टीका-टिप्पणी होने लगती है । और साथ ही हृदय में भी बात कसकने लगती है । अपने गौरव की सुरक्षा के लिये तब उन्हें परके लादे हुए बन्धन कहकर-उन्नति में बाधक और कुण्ठा की उत्पादक वर्जना बताकर, उन्हें तोड़ने में शौर्य दरसाकर क्रान्ति की नींव डाली जाती है । वस्तुतः यह मान, माया और क्रोध कषाय का मिला-जुला कार्य रहता है और जिसकी जड़ रहती है—इच्छा के परित्याग न कर पाने रूप लोभ में । ३. क्रान्ति की बात तो जोरावर व्यक्ति करते हैं । परन्तु जो ऐसा नहीं कर पाते हैं और अपनी दुर्बलता को छिपा भी नहीं पाते हैं, वे धीठता को सरलता का बाना औढ़ाकर अपने मान को बचाने की चेष्टा करते हैं । वे कहते हैं—‘हम छिपाकर पाप नहीं करते हैं, चौड़े-धाड़े करते हैं । कम से कम हम ढोंगी तो नहीं हैं ।’ फिर ऐसे व्यक्ति को प्रामाणिक साधक भी ढोंगी, मायी आदि प्रतीत होने लगता है और उनकी छिद्रान्वेषण की ही वृत्ति हो जाती है । वे नित्यानवे गुणों में एक दुर्गुण खोज ही लेते हैं । ४. मान आदि कषायों के कारण कलह, लड़ाई-झगड़े आदि होते हैं । उनपर सैद्धान्तिकता का मुलम्मा चढ़ाकर वीरता मानने की वृत्ति पैदा हो जाती है । सत्पक्ष की सुरक्षा का साहस अलग बात है । वह काषायिक वृत्ति नहीं होती । किन्तु कलह को शौर्य मानना अलग बात है । उसमें मेरा माना हुआ ही सच्चा है—यह वृत्ति रहती है । ५. वाद तत्त्व-उपलब्धि का माध्यम हो सकता है । वाद पारस्परिक चर्चा के रूप में स्वाध्याय रूप में तत्त्व-ज्ञान को दृढ़ करने का हेतु भी हो सकता है । किन्तु जब वह किसी को नीचा दिखाने के लिये किया जाता है, तब वह कषाय-प्रेरित हो जाता है । फिर उसमें पाण्डित्य का आरोपण हो जाता है और प्रत्येक से टकराने की वृत्ति होती है । वास्तविक पाण्डित्य गांभीर्य

प्रदान करता है—छिछोरपन नहीं और साधना के अंग रूप वाद भी किसीसे टकराने रूप नहीं होता है। वह तो तत्त्व का उद्घाटन करता है और जिज्ञासा की वृद्धि तथा ज्ञान का विकास करता है। ६. पदार्थों का संग्रह करना-परिग्रह है। वह लोभ कषाय से प्रेरित होता है। पदार्थों का संग्रह पितृ-तुल्य परिपोषक लगता है—अति उपयोगी लगता है। मनुष्य को परिग्रह गौरव रूप लगता है। जीवन-यापन के लिये संग्रह आवश्यक होता है। किन्तु संग्रह को अत्यधिक महत्त्व लोककषाय आदि के कारण प्राप्त हो जाता है। जिससे कलह आदि उत्पन्न होते हैं। ७. कषाय-प्रवृत्ति से सद्गुण दुर्गुण रूप में और दुर्गुण सद्गुण रूप में प्रतीत या परिवर्तित होने लगते हैं। यहाँ उनके कुछ उदाहरण दिये गये हैं। इनके लिये आलोकन निरीक्षण मात्र कारगर नहीं होता है, किन्तु चिन्तन निरीक्षण से ही दृष्टि-विपर्यास को पकड़ा जा सकता है। इसीलिये उसकी शोध करने की प्रेरणा दी गयी है।

निरीक्षण का फल बताया जाता है—

अप्ये णाणं कसायाणं, सरूवस्स सई धिई ।

मंदया अवसित्तं च, होंति निरिक्खणेण उ ॥५८॥

निरीक्षण से अपने आप में (होते हुए) कषायों के स्वरूप का ज्ञान, स्मृति, धृति, मन्दता और अवशित्व होते हैं।

टिप्पण—१. निरीक्षण के पाँच फल बताये हैं—कषायों का स्वरूप-ज्ञान, स्वरूप-स्मृति, कषाय-धृति, कषाय-मन्दता और कषाय-अवशित्व। आत्मा (= निरीक्षण कर्ता को अपने) में पाँच फल और पर में पहले के तीन फल होते हैं। २. निरीक्षण करने से अपने में कषाय के स्वरूप का ज्ञान होता है। 'ये-ये कषाय की वृत्तियाँ हैं और ये-ये आत्मवृत्तियाँ-कषायेतर वृत्तियाँ हैं'—यह बोध होता है। इसीप्रकार अन्य जनों की काषायिक वृत्तियों का भी ज्ञान होता है। जिससे

उनसे उलझने के भाव से छुटकारा मिलता है। ३. निरीक्षण करते रहने से कषायों के स्वरूप की स्मृति बनी रहती है। अतः कषायों के उदित होते ही—‘यह कषाय-प्रवृत्ति हो रही है’—यह भान प्रायः होने लगता है। यह भान यदि दृढ़ रूप से बना रहता है तो कषाय का प्रहार तीव्र नहीं हो पाता है। पर की कषाय-प्रवृत्ति का भान रहता है तो स्वयं में उसकी प्रतिक्रिया पैदा न हो-ऐसी सजगता पैदा हो सकती है। ४. कषायों का स्वरूप-ज्ञान और उसकी स्मृति से युक्त निरीक्षण चलता रहता है तो कषाय और कषाय-प्रवृत्ति का निःसंशया-त्मक होता है। ‘यह कषाय ही है?’ ‘यह कषाय-जनित ही प्रवृत्ति है’—यह कषाय-धृति अर्थात् कषायों की वास्तविक बौद्धिक पकड़ होती है। जिससे दृष्टि-विपर्यास दूर होता है और अन्य के विषय में यह धृति होती है तो उनकी अनुमोदना आदि से बचा जा सकता है—भ्रमनिवारण किया जा सकता है। ५. जब कषाय का उदय हो रहा हो और उसी समय में आलोकन प्रारंभ हो जाता है, तब या तो आगे उसकी प्रवृत्ति चल ही नहीं पाती है या बिल्कुल मंद हो जाती है। जिससे प्रतिक्रिया भी अत्यन्त हलकी रूप में स्व-तक की सीमित रह जाती है। ६. कषायों के निरीक्षण से बलवान नहीं हो पाते हैं वे। जिससे वे स्व-उपयोग को चुका नहीं सकते हैं। अतः उनका कुछ भी बस नहीं चलता है।

३. हानि - पश्यना - द्वार

कषायों के द्वारा होनेवाली हानि का चिन्तन इतना दृढ़ हो कि वे अनुभव-गम्य जैसे हो जायँ उसे हानि-पश्यना कहते हैं। जैसे-जहर के विषय में जीव की वृत्ति।

हानि-चिन्तन की प्रेरणा—

‘ण कसाया कया होंति, कथं वि य हिएसिणो ।’

इय जाणिय तेसि तु, हाणिं चित्तह साहगा ! ॥५९॥

हे साधको ! 'कषाय कहीं भी—कभी भी हितैषी नहीं होते हैं'—यह जानकर उनकी हानि का चिन्तन करो ।

टिप्पण—१. कषाय शब्द काल का और कत्थ शब्द क्षेत्र का सूचक है । जिसका आशय यह है कि कषाय किसी भी क्षेत्र में भूतकाल में किसी का हितैषी न हुआ, न वर्तमान में होता है और न भविष्य में होगा । यह निर्णय पक्का होना चाहिये । २. कषाय हितकर नहीं है, इतना ही निर्णय पर्याप्त नहीं है । किन्तु वे अहितकर हैं—यह भाव भी पक्का होना चाहिये । इसलिये उनकी हानि करना का चिन्तन करना भी अत्यावश्यक है । ३. समस्त साथकों के लिये यही मार्ग है । इसीलिये साहगा-यह बहुवचन संबोधन दिया गया है ।

(१) क्रोध-हानि-पश्यना

क्रोध का उत्तमांग पर प्रभाव—

सिरो तवइ नेत्ताइं, तण्णंते हण्णए सिरो ।

विडंबइ मुहं जेण, सरो फट्ठइ सो उ को ? ॥६०॥

जिससे सिर तप जाता है, नेत्र तन जाते हैं, श्री=शोभा नष्ट हो जाती है, मुंह विडंबित होता है और स्वर फट जाता है, वह कौन है ?

टिप्पण—१. इस गाथा में क्रोध से होनेवाली शारीरिक विकृतियों का वर्णन है । गले के ऊपर का भाग उत्तमाङ्ग हैं । क्रोध के कारण होनेवाली विक्रिया को बतलाकर यह जिज्ञासा की गयी है कि ऐसा करनेवाला कौन है ? क्योंकि ऐसा कार्य करनेवाला मित्र या सज्जन नहीं हो सकता है । ऐसे विकार-कर्ता के प्रति अशुचि जगाना ही इस जिज्ञासा का मुख्य हेतु है । २. जैसे लुटेरे दूर संदेश पहुँचाने

वाले साधनों को ही पहले अप्रभावी बना देते हैं । वैसे ही ज्ञान के केन्द्र और समस्त शरीर के सूचना-संग्राहक तथा प्रसारण-केन्द्र के सदृश मस्तक को ही जो तपा देता है—कार्य करने में अक्षम बना देता है, वह भाव कौन-सा हो सकता है ? ३. धूर्त-लोग ठग लोग उनकी क्रिया को कोई देख न लें—इसके उपाय करते हैं । लोचन उत्तमाङ्ग में ऐसा दिव्य प्रकाशक रत्न है कि उसके द्वारा अनिष्ट को देखकर तत्काल सावधान बना जा सकता है । परन्तु जो भाव उन्हें ही तान देता है, वह उत्तम कैसे हो सकता है । उपलक्षण से भौंहों का खिंचाव, कपाल पर सलवटें पड़ना, कानों का सुर्ख होना आदि भी गृहीत होते हैं । इसप्रकार वह भाव श्रवण-शक्ति को भी विकृत कर देता है । ४. श्री=मुख की शोभा, क्रान्ति । इष्ट जन या वस्तु का संयोग होने पर तथा प्रशस्त भाव के उदित होने पर मुख की शोभा द्विगुणित हो उठती है । परन्तु जिस भाव के मन में प्रविष्ट होने पर शोभा-क्रान्ति विनष्ट हो जाती है, वह भाव कैसा होगा ? ५. उस भाव के कारण मुखाकृति विकृत हो जाती है, जो किसी को प्रिय नहीं हो सकती । उसके कारण स्वर का माधुर्य भी लुप्त हो जाता है । फटे बाँस की आवाज़ से भी अधिक कर्कश आवाज हो जाती है । ६. इतने उत्तम भावों—उत्तमांग के समस्त वैभव को लूटनेवाला भाव अच्छा तो नहीं हो सकता । 'वह कौन है ?' इसका उत्तर अगली गाथा में है—'वह है क्रोध रूपी महापिशाच' ।

क्रोध से देह की हानि—

कोहो महापिसाओ सो, हियअ-रत्त-सोसओ ।

दुट्ठो देह-पविट्ठो हि, अणट्ठं न करेइ कि ॥६१॥

वह क्रोध रूपी महापिशाच हृदय के रक्त का शोषण करनेवाला है । देह में प्रविष्ट वह दुष्ट क्या अनर्थ नहीं करता है ?

टिप्पण—१. पिशाच व्यन्तर जाति के देव होते हैं । लौकिक दृष्टि से पिशाच का उत्पात भयंकर माना जाता है । क्रोध को महा-पिशाच कहा गया है । २. हृदय शरीर का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भीतरी अंग है । हृदय से ही रक्त का संचार होता है । क्रोध पिशाच उस हृदय पर ही अधिकार कर लेता है । वह उसके रक्त का ही शोषण कर लेता है । अतः शरीर के अन्य अंगों की उसके द्वारा क्या दुर्दशा होती है, इसका अनुमान सहज में ही लग जाता है । ३. क्रोध में हृदय का स्पन्दन तेज हो जाता है । वैसे ही हाथ-पैरों का संचालन भी तीव्र हो जाता है । जैसे देह-प्रविष्ट पिशाच देह को अपने अधीन कर लेता है, वैसे ही क्रोध भी देह को अपने अधीन कर लेता है । ४. वस्तुतः क्रोध कर्मण शरीर से स्थूल शरीर में व्याप्त होता है । उससे समस्त आत्मप्रदेश कंपायमान हो जाते हैं । ५. पिशाच अपने अधीन जीव को जल्दी नहीं छोड़ता है और उसे बेभान करके उससे विचित्र चेष्टाएँ करवाता है, वैसे ही क्रोध भी जीव की दुर्दशा करता है । ६. यहाँ क्रोध को महापिशाच की उपमा उसकी भयंकरता बतलाने के लिये दी गयी है । क्रोधाभिभूतता मोहावेश है और पिशाचाभिभूतता यक्षावेश है । सैद्धान्तिक दृष्टि यक्षावेश की अपेक्षा मोहावेश अत्यन्त भयंकर है । यक्षावेश सरलता से दूर हो जाता किन्तु मोहावेश नहीं । यह 'दुर्विभोयतर' है । क्योंकि यक्षावेश मात्र शरीरगत होता है, जबकि क्रोधावेश आत्मगत । ७. क्रोधावेश के लिये पिशाचावेश की उपमा हल्की पड़ती है । किन्तु लोक में पिशाचावेश की अतिभयंकरता प्रसिद्ध है और उसका नाम सुनकर ही लोग त्रस्त हो सकते हैं । अतः लोग क्रोधावेश की भयंकरता इस उपमा से सहज ही समझ सकते हैं और आत्मा भी इस स्थूल उदाहरण से क्रोध की हानिरूपता को समझ सकता है । ८. क्रोध से अनेक शारीरिक हानियाँ होती हैं ।

क्रोध से अभ्यान्तर हानियाँ—

पीड़-विणासणो कोहो, कोहो सुबुद्धि-नासणो ।

धिइ-एक्खाणलो कोहो, विवेग-सोसणोऽणिलो ॥६२॥

क्रोध प्रीति का विशेष रूप से नाश करनेवाला (तीक्ष्ण शस्त्र) है । क्रोध उत्तम बुद्धि को नष्ट करनेवाला (वज्र-सा) है । क्रोध धैर्य रूपी वृक्ष (को जलाकर भस्म करने) के लिये आग है । और विवेक (रूपी आर्द्रता का शोषण करने) के लिये शोषक वायु है ।

टिप्पण—१. क्रोध से अपने भीतर का प्रीति-भाव का रेशम-सा कोमल, किन्तु दृढ़ तार टूट जाता है । क्रोधी को कोई भी अपना मित्र नहीं लगता, उसे सभी शत्रु रूप में ही दिखाई देते हैं । उसे माता, पिता, भाई, बेटे आदि सभी वैरी ही लगते हैं । उसे इतने बड़े जीव-समूह में कोई भी अपना प्रतीत नहीं होता है । ज्ञानदृष्टि से ममता दूर होने पर आत्मा में शान्ति का भाव जाग्रत होता है । किन्तु क्रोध के कारण अपनापन खत्म होने पर अशान्ति-आकुलता उत्पन्न होती है और आत्म-हत्या करने का मन होता है । ऐसी स्थिति में मस्तिष्क की विकृति चरम-सीमा पर पहुँच जाती है । उसके सोचने की दृष्टि एकदम विपरीत हो जाती है । इसप्रकार क्रोध हृदय के माधुर्य को खाक कर देता है । २. जो दूसरे को प्रीति नहीं देता है, उसे कौन प्रीति देगा ? क्रोधी के क्रोध को सहना सबके बस की बात नहीं है । संसारी जीव भी साधारण जीव ही तो है । वे कब-तक क्रोध के बदले प्रीति दे पायेंगे ? इसप्रकार क्रोध से जीव चिढ़-चिढ़कर अपने को प्राप्त होनेवाली अन्य की प्रीति की सरसता भी समाप्त कर देता है । तब उसे संसार तपती हुई मरुभूमि जैसा ही लगता है । ३. क्रोध से सद्विचार की मूल सद्बुद्धि विनष्ट हो जाती है । बुद्धि अज्ञान-प्रवृत्ति और मूढ़ता के लिये तीक्ष्ण शस्त्र का कार्य करती है । किन्तु क्रोध उसके लिये वज्र-प्रहार का कार्य करता है । क्रोध में बुद्धि कार्य करती तो है, किन्तु उसकी गति वक्र हो

जाती है । अतः वह विनाशक विचार ही करती है । जब क्रोधी की सदबुद्धि नष्ट हो जाती है, तब वह दूसरे में सदबुद्धि कैसे जगा सकेगा ? क्रोध के कारण क्रोध की प्रतिप्रक्रिया स्वरूप अन्य जनों में भी असदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है । अतः अन्य जनों का चिन्तन भी उसके अनुकूल नहीं होता है और ज्ञानियों की उसके प्रति माध्यस्थ भाव से युक्त अनुकम्पा से प्रेरित बुद्धि रहती है । ४. धैर्य हरे भरे वृक्ष के तुल्य है । जिसकी छाया में जीव भवताप से त्राण पा सकता है और उसके तले अन्य गुण भी उपसर्ग, प्रतिकूलता आदि के ताप से झुलसते नहीं हैं । उस धैर्यद्रुम को ही क्रोध आग बनकर जला देता है । हरे वृक्ष को आग एकदम नहीं जला सकती है । वैसे ही धैर्य के अस्तित्व में क्रोध आत्मा में प्रभावशाली नहीं बन सकता है । परन्तु जब वह तेजी में होता है, तब वह पहले धैर्य को ही नष्ट करता है । ५. विवेक ऐसा तरल आद्रोष्ण गुण है कि जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व लचीला हो जाता है । योग्य व्यक्ति, स्थान, घटना आदि के प्रति झुकने, अनुकूल बनने, समभाव बहुमान रखने आदि के लिये नम्र भाव-मार्दव विवेक ही उत्पन्न करता है । क्रोध उस विवेक का वायु के सदृश बनकर शोषण कर लेता है और व्यक्ति को अत्यन्त कठोर बना देता है (क्रोधी अन्य जनों के विवेक को नष्ट करने में भी निमित्त बन सकता है ।

आराधना की हानि—

। लक्ख - देव - रुई - सत्तू, अप्प-गुरु - विभेयगो ।

भाव-धम्माहि कोहो खु, दूरं नेइ भवोयरे ॥६३॥

(आत्म—) लक्ष्य और देव की रुचि का शत्रु, आत्मा और सद्गुरु से विलगनेवाला क्रोध भाव (धर्म-) और (जिन-) धर्म से दूर निश्चय ही भव के उदर में ले जाता है ।

टिप्पण—१. क्रोध का तीव्रतम अंश मोक्ष की रुचि नहीं होने देता है । जीव का चरम और परम लक्ष्य मोक्ष है—यह समझने ही नहीं देता है । अतः आत्मलक्ष्य का-मोक्षरुचि का वह परम शत्रु है । या तो उन्हें होने ही नहीं देता है या उसकी मंदता में कदाचित् उनका उद्भव हो गया हो तो उन्हें नष्ट कर देता है । २. समस्त कषायों से रहित आराध्यदेव की पहचान, उनमें भक्ति और उनकी उपासना की रुचि क्रोधादि की मंदता में ही हो सकती है । क्रोध सुदेवार्चन का भी परम शत्रु है । ३. आत्मा की नियन्त्रण-शक्ति भी विलग कर देता है । क्योंकि वह आवेशात्मक भाव है । आत्म-नियन्त्रण संयम में ही शान्त अवस्था में ही सुदृढ़ रह सकता है । ये क्रोधादि भाव आत्मा की अपने पर संयम रखने की शक्ति से विचलित कर देते हैं । अतः वह आत्म-विभेदक है । ४. गुरु की शिक्षा को क्रोधी सहन नहीं कर सकता । माता, पिता, शिक्षक आदि लौकिक गुरु, आचार्य, वाचक, रत्नाधिक आदि लोकोत्तर गुरु से क्रोध परे हटा देता है । उन्हें पर मानने की वृत्ति पैदा करता है, उनके प्रति पूज्य बुद्धि पैदा नहीं होने देता है और उनकी संगति में अरति उत्पन्न कर देता है । 'गुरु' शब्द से उपलक्षण से वे सभी पुरुष ग्रहण कर लिये गये हैं जो भी पूज्य हैं । ५. क्रोध आत्मा के भाव धर्म क्षमा आदि का प्रत्यक्ष रूप से नाशक है ही । वह आत्म-भाव में लीनता नहीं होने देता है । क्रोधी जीव को अपने भावों के प्रति ही उच्चाट पैदा होने लगता है । ६. जिन प्रज्ञप्त धर्म कषायों को क्षय करने का मार्ग है । अतः वह उसके प्रति बहुमान पैदा कैसे होने देगा ? वस्तुतः वह जिनधर्म के असली स्वरूप के पास में भी नहीं फटकने देता है । इसप्रकार जिनधर्म से जीव को अति दूर ले जाता है । ७. कोई जीव असंसारी बनें—यह कोई भी कषाय नहीं चाहता । चारों कषायों में आक्रामक क्रोध ही है । अतः क्रोध जीव को भव के उदर में अत्यन्त गहराई में ले जाकर पटक देता है ।

सामूहिकता की हानि—

स-कुल-जाइ - रट्ठेसु, संघे भेयं करावइ ।

दाहेइ दुह-दावाए, कोहो मण -विहावसू ॥६४॥

मन की आग रूप क्रोध अपने कुल, जाति और राष्ट्र में तथा संघ में भेद उत्पन्न करता है और दुःख की दावा में जलाता है ।

टिप्पण—१. क्रोधी के हृदय में अपनापन दूर हो जाता है । जिससे वह कुल की शान्ति भस्म कर देता है । परस्पर विग्रह पैदा कर देता है । जैसे कौरव और पाण्डव में महायुद्ध हुआ । २. क्रोध के कारण जाति में विभेद पैदा हो जाता है । जैसे पिछले युग में राजपूत लोग जरा-जरा-सी बात में परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हो जाते थे । आज भी कई जन क्रोध के वश अपनी जाति में फूट डालते रहते हैं । ३. क्रोधी मनुष्य अपने देश-राष्ट्र का गौरव भी भूल जाता है । जयचन्द ने क्रोध के कारण अपने देश पर आततायी को आक्रमण के लिये आमंत्रित किया और जातीय आक्रोश के कारण भारत-देश का विभाजन हुआ । ४. क्रोध के कारण धर्म-संघ में भी कई बार विभेद हुए हैं । इसके उदाहरणों की कोई कमी नहीं है । ५. विभावसु = प्रकाश रूप वैभववाला-अग्नि । क्रोध मन का विभावसु है । वह व्यक्ति की उष्ण प्रभा को दरसाता है । बाहर की आग से भी यह मन की आग अधिक दाहक है । ६. विभा का आशय शीतल प्रकाश से है । किन्तु अग्नि शीतल प्रकाशवाला नहीं होता है । वैसे ही व्यक्ति समझता है कि क्रोध करके मैं शान्ति प्राप्त कर लूंगा । किन्तु उससे वह जो दुःख-दावानल उत्पन्न करता है, उसमें वह स्वयं भी उस आग में जलता है और कुल आदि को भी उस दुःख-दावानल में दग्ध करते हैं । ७. क्रोध सामूहिक ऐक्य-कर्तव्य को विनष्ट करता है ।

पारलौकिक हानि—

अग्नी अत्थेव दाहेइ, कोहो पुण भवे भवे ।

कमढो कोह-भावेण, विदड्ढो केत्तिए भवे ॥६५॥

आग यहीं—इस भव में ही जलाती है। किन्तु क्रोध तो भव-भव में जलाता है। कमठ क्रोधभाव से कितने भव में जलता रहा !

टिप्पण—१. भगवान श्री पार्श्वनाथजी के चरित्र में यह बात प्रसिद्ध है कि उनका पूर्व भव का भाई कमठ उनके प्रति दश भव तक क्रोध में दग्ध होता रहा। २. क्रोध के संस्कार इसी भव में समाप्त नहीं हो जाते हैं। किन्तु कई भवों तक साथ चलते रहते हैं। ३. जबतक क्रोध की आग जीव स्वयं शान्त नहीं करता है, है, तबतक क्रोध से क्रोध उत्पन्न होता ही रहता है। ४. क्रोध के कारण पाप का-अशाता का विशेष रूप से बन्ध होता है। चरित्र-मोहनीय का भी बन्ध होता है। जिससे दुःख और चरित्रहीनता की परम्परा चलती है। ५. चरित्रहीनता भव-परम्परा का हेतु है। क्रोध जहर है और उसका उत्पादक भी है—

धिद्धी! विसस्स कोहस्स, जो हिच्चा संजमं धणं ।

पेसेइ साहागं दुट्ठो, रुहे दिट्ठिविसे भवे ॥६६॥

(उस) क्रोध रूपी जहर को धिक्कार हो—धिक्कार हो, जो दुष्ट, साधक को (उसके) संयम धन का अपहरण करके रौद्र दृष्टिविष (साँप) के भव में भेज देता है।

टिप्पण—१. क्रोध तीव्र जहर है। क्योंकि वह संयम रूपी जीवन-धन को तत्काल समाप्त कर देता है। २. क्रोध शरीर में विष को उत्पन्न करता है। ३. अति क्रोधी व्यक्ति क्रोध में मरकर भयंकर जहरीला सर्प बन सकता है। ४. इस विषय में भगवान महा-वीरदेव के चरित्र से संलग्न चण्डकौशिक का उदाहरण प्रसिद्ध है। जो पूर्वभव में शिष्य पर क्रोध करके ज्योतिषी देव बना। वहाँ से च्यवकर कौशिक नामक ऋषिपुत्र बना और वहाँ भी पूर्व के संस्कार

के कारण तीव्र क्रोध करके दृष्टिविष सर्प के भव में उत्पन्न हुआ । वह दृष्टिविष सर्प ही चंड कौशिक था । ५. इसप्रकार क्रोध से जहर के उत्पन्न होने की परम्परा बनती है ।

क्रोध की दानवता—

करेइ निट्ठुरं चित्तं, संघंगुणाण दाहइ ।

उरं जणाण फाडेइ, कोहो दानव-सारिसो ॥६७॥

क्रोध चित्त को निष्ठुर करता है । गुणों के समूह को जलाता है । मनुष्यों के हृदय को फाड़ता है । (सचमुच में) वह दानव के समान है ।

टिप्पण—१. जो स्वयं निष्ठुर होता है वही अपने निष्ठुर व्यवहार से दूसरे को निष्ठुर बनाता है । २. नैष्ठुर्य, विनाश, हृदय फाड़कर रक्त-पान करना आदि दानव के कार्य हैं । क्रोध यही तो कार्य करता है । इसलिये वह दानव है ।

उपसंहार और उपदेश—

एवं सुणिज्ज जाणिज्ज, कोहं चित्तिज्ज पासह !

इह-पारत्त-हीणत्तं, करत्तं अमियं दुहं ॥६८॥

इसप्रकार ऐहिक और पारलौकिक हीनता तथा अमित दुःख करते हुए क्रोध को सुनो, जानो, विचारो और देखो ।

टिप्पण—१. पश्यना के चार चरण-श्रवण, ज्ञान, चिन्तन और दर्शन । २. सद्गुरु या क्रोधादि के स्वरूप के विशेषज्ञ से क्रोधादि के स्वरूप, फल आदि को सुनना श्रवण है । जैसे इस भव में अपनी मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं होता है । परन्तु अपनी मृत्यु के

विषय में मात्र सुनकर ही व्यक्ति को मृत्यु का ज्ञान अनुभव की सीमा तक हो जाता है । इसीप्रकार क्रोधादि के विषय में भी श्रवण करने से ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है । ३. क्रोध आदि के विषय में जानकारी का मस्तिष्क में संग्रह करना ज्ञान है । श्रवण के बाद यदि ज्ञान का संग्रह-संधारण नहीं हुआ तो श्रवण निष्फल हो जाता है । ४. जाने हुए क्रोधादि के स्वरूप, फल आदि के विषय में सोचना-चिन्तन है । ज्ञान के बाद चिन्तन से ही ज्ञान स्थायी और दृढ़ होता है । ५. संसार में क्रोध आदि से होनेवाली हानियों को देखना दर्शन है । दर्शन के दो प्रकार समीपस्थ और दूरस्थ । समीपस्थ दर्शन चक्षुरिन्द्रिय-गम्य होता है, किन्तु यह अत्यन्त सीमित है । चक्षुरिन्द्रिय-गम्य दर्शन में भी मानसिक-दर्शन होता ही है । क्योंकि क्रोध मानसिक विकार है । बाहर तो उसके द्वारा होनेवाली दुष्क्रिया मात्र देखी जा सकती है । मानसिक चिन्तन और दर्शन से ही क्रोधकृत भाव प्रत्यक्ष होते हैं । दूरस्थ-दर्शन में मानसिक दर्शन ही होता है । मानसिक दर्शन ही व्यापक होता है और वही अनुभव में परिणत होता है । ५. **इह पारत्त...** यह गाथार्थ इस प्रकरण के उपसंहार रूप है । क्रोध के द्वारा होनेवाले दुःख को मोह के कारण जीव देखकर भी नहीं देख पाता है । क्रोध न इस लोक में सुखद है—न परलोक में और जीव ने क्रोध कषाय से अनादि काल से जो दुःख देखे हैं, उसका गणित करना छद्मस्थ की बुद्धि की सीमा के बाहर है ।

तुच्छो होऊण कोहेण, भो ! वयसिअहे अहे ।

सव्वट्ठं नासगं तंप्पि, ता न खिवसि किं अहे ॥६९॥

हे (जीव ?) (तू) क्रोध से तुच्छ होकर नीचे-नीचे चला जाता है, तो फिर उस सर्व अर्थ के नाशक को ही नीचे क्यों नहीं फेंक देता है ?

टिप्पण—१. क्रोध के कारण सज्जन व्यक्ति भी तुच्छ=गुण-वैभव से खाली हो जाता है-अधम हो जाता है । २. तुच्छ व्यक्ति का व्यवहार अत्यन्त निम्नस्तर पर चला जाता है । अहे शब्द की पुनरावृत्ति से अति घृणित भाव सूचित होता है । ३. सर्व-अर्थ अर्थात् चारों ही पुरुषार्थ । क्रोध पुरुषार्थों का नाशक है । ४. यहाँ खिच् घातु अन्तरात्मा से दूर करने के अर्थ में प्रयुक्त है अथवा 'उसे कुचलने के लिये चरण के नीचे क्यों नहीं फेंक देता है अर्थात् उसके उदय रूप चरण से दबकर तू अनादिकाल से अपने भाव वैभव का नाश करता रहा है, अब उसे सच्चरण=सम्यक् चरित्र से क्यों नहीं कुचल देता है'-यह अर्थ भी ध्वनित होता है ।

(२) मान-हानि-पश्यना

मान के दूरगामी दुष्फल-मान से देव-गुरु की आशातना

जिनं माणेण हीलित्ता, गोसालो किं लहिस्सइ ।

सीलधरो जमाली वि, माणेण खलु लज्जिओ ॥७०॥

गौशालक अभिमान से जिनदेव की अवहेलना करके क्या लाभ पायेगा ? और शील-सम्पन्न जमालीजी भी मान से लज्जित हुए ।

टिप्पण—१. मान से जीव सुदेव और सुगुरु की आशातना करता है । २. गौशालक स्वयं सर्वज्ञ तीर्थंकर न होते हुए भी अपने आपको इसी रूप में घोषित करता रहा और फिर जिनसे ज्ञान प्राप्त कर उसने तेजोलेश्या प्राप्त की थी, उन्हीं सद्गुरु भगवान महावीरदेव पर उसी तेजोलेश्या का प्रयोग किया । यह मान की पराकाष्ठा थी । ३. इससे उसे क्या फल मिला ?—भव भ्रमण और अपार दुःख । भविष्य काल की क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि अभी तो गौशालक बारहवें देवलोक में है । परन्तु इसके बाद उसे अभिमान का दुष्फल प्राप्त

होगा । ४. जमालीजी राजकुमार थे । ग्रन्थों के अभिप्रायानुसार वे संसारपक्ष में भगवान महावीरदेव के भानजे और दामाद थे । वे अपार वैभव को त्यागकर भगवान के श्रीचरणों में दीक्षित हुए । परन्तु 'मैं सर्वज्ञ हो गया हूँ और भगवान महावीर के सिद्धान्त की त्रुटि मैंने पकड़ी है'—इस अभिमान से उन्होंने भगवान की आशातना की । अपना मत अलग स्थापित किया । परन्तु भगवान इन्द्रभूतिजी गौतम के प्रश्न से निश्चिन्त होकर उन्हें लज्जित होना पड़ा । ५. देव-गुरु की आशातना के कारण रूप मान के कारण भव-परम्परा की वृद्धि होती है और जीव कई भवों तक अवहेलना का पात्र बनता है । ६. मान से मेरी कैसी हीन दशा हो रही है?—मानी इस बात को न देख पाता है और न सोच सकता है ।

मान में धर्म की हानि—

माणो सच्चं ण मण्णेइ, दूरं तत्तं तु खिप्पइ ।

दूरे धम्माउ थंभेइ, खणम्मि तं च नासइ ॥७१॥

मान सत्य को नहीं मानता है । तत्त्व को दूर फेंक देता है । (जीव को) धर्म से दूर रोक देता है और क्षण में उसको नष्ट कर देता है ।

टिप्पण—१. सत्य की प्रतीति और स्वीकृति धर्म की नींव है । हृदय में स्थित मान सत्य को मानने ही नहीं देता है । अतः जीव मिथ्या बातों और भाव में ही रमण करता रहता है । उन्हें सत्य मानता रहता है । २. तत्त्वज्ञान धर्म का सिंचन करता है । तत्त्वज्ञान के दो कार्य हैं—हेय-उपादेय का स्वरूप बतलाना और उन्हें त्यागने-ग्रहण करने की विधियुक्त लालसा पैदा करना । मान ये दोनों कार्य नहीं होने देता है । वस्तुतः जीव मान के वशीभूत होकर या तो तत्त्व के समीप ही नहीं फटकता है या पुण्ययोग से उपलब्ध तत्त्वज्ञान

को तिरस्कार से अपने हृदय से निकाल फेंकता है। ३. 'मैं उच्च-स्तर का मनुष्य धर्म-आराधना कैसे करूँ, 'मैं धर्म-आराधना करूँगा तो पिछड़े युग का माना जाऊँगा' 'इन तत्त्वज्ञों से अधिक ज्ञान हमें है। ये अज्ञानी हमें क्या मार्ग बतायेंगे' 'हम युवा लोग हैं, हम क्यों धर्म करें' अर्थात् सभ्यता, प्रगतिशीलता, शिक्षा, वय, फैशन आदि का मान व्यक्ति को धर्म से अति दूर कर देता है—धर्म करने से रोक देता है। ४. पुण्ययोग से धर्म-आराधकों का सत्संग पाकर जीव धर्म-आराधना करने लग जाता है और देशविरत या सर्वविरत बन जाता है। किन्तु किंचित् अपमान पाकर या यश न पाकर या यश पाने के लिये या अपनी अवहेलना की कल्पना मात्र से जीव धर्माचरण को छोड़ देता है—व्रतों को भंग कर देता है।

मान से भाव की हानि—

विनय-नासणो माणो, भक्ति-वच्छल्ल-नासणो ।

कारणोऽसुह-हासस्स, कोहस्स जणगो वि सो ॥७२॥

मान विनय का नाश करनेवाला, भक्ति-वात्सल्य का नाश करनेवाला और अशुभ हास्य का हेतु है तथा वह क्रोध का पिता अर्थात् उत्पादक है।

टिप्पण—१. भावों की हानि दो प्रकार की—शुभ भावों का नाश और अशुभ भावों का उत्पादन। मान से दोनों प्रकार की हानियाँ होती हैं। २. मान से शुभ भाव के नाश के तीन उदाहरण दिये हैं। अपने से बड़ों को विनय और भक्ति-भाव समर्पित किया जाता है। मान प्रमुख रूप से विनय का नाशक तो है ही और वह भक्ति भावना को उत्पन्न नहीं होने देता है या उसे नष्ट कर देता है। अपने से छोटों को वात्सल्य प्रदान किया जाता है। मान वात्सल्य का निरोधक और विनाशक है या उसका दिखावा मात्र ही करवाता

है। ३. अशुभ भाव के उत्पादन के दो उदाहरण दिये हैं। अशुभ हास्य अर्थात् किसी तुच्छ बताने के लिये की जानेवाली हँसी-तिरस्कार से युक्त उपहास। यह भाव प्रायः मान से ही उत्पन्न होता है। जैसे द्रौपदी ने दुर्योधन का उपहास किया। लोक-व्यवहार में ऐसे हास्य के उदाहरण बहुत मिल सकते हैं। ४. मान क्रोध को भी उत्पन्न करता है। क्योंकि व्यक्ति जरा से अपमान से भी उबल पड़ता है। जैसे संभूतमुनि ने नमुचि के द्वारा अपमान होने के कारण तेजोलेश्या का प्रयोग किया। ५. मान से उपहास उच्च, नीच और मध्यम तीनों स्तर के व्यक्तियों के प्रति और क्रोध पूज्य-अपूज्य सभी के प्रति हो सकता है।

मान से इहलौकिक हानि—

तणं माणेण थद्धं तु, चित्त-भावा तणंति हि ।

माणेण दुहिओ रोगी, सव्व-सुहं पि नस्सइ ॥७३॥

मान से शरीर स्तब्ध=तना हुआ रहता है और चित्त में भाव भी अवश्य ही तने हुए रहते हैं। मान से जीव दुःखी और रोगी (भी हो जाता) है और (उससे) सर्व सुख भी नष्ट हो जाता है।

टिप्पण—१. मान से व्यक्ति अकड़ा रहता है। उस अकड़पन के कारण उसका शरीर तना रहता है। २. चित्त में भावों का तनाव अधिकांशतः मान के कारण ही होता है अर्थात् व्यक्ति को अपनी मानहानि के कारण क्रोध आता है। अपने से विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष जाग्रत होता है। अभावों के कारण दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है और अपने साथियों को आगे बढ़े हुए देखकर प्रतिस्पर्धा के भाव होते हैं। इसप्रकार चित्त में तनाव बना रहता है। ३. पुण्य की कमी के कारण मनुष्य किसी न किसी अपेक्षा से समाज में अपने पिछड़ेपन का अनुभव करता है। अतः वह मन ही मन में दुःखी रहता

है । पुण्य के सदभाव में भी व्यक्ति प्रायः आतंकित रहते हैं । कहीं मेरी मानहानि न हो जाय-इस चिन्ता से वे घिरे रहते हैं । ४. मान से शारीरिक और मानसिक तनाव बने रहने के कारण स्नायु स्तब्ध रहने लगते हैं । जिससे वे स्नायविक और अन्य कई बिमारियों से घिर जाते हैं । ५. मान के कारण जीव अति व्याकुल रहता है । उसे सर्वत्र दुश्मन ही दुश्मन दिखाई देते हैं । उसके पास सुख के साधन होते हुए भी वह उनका सुख नहीं भोग पाता है । इसप्रकार त्रस्त रहने के कारण उसके समस्त सुख विनष्ट हो जाते हैं । यों भी मानी सुख के साधनों को घमण्ड से नष्ट करता रहता है ।

माणेण कुविओ साहू, भमिऊण इओ तओ ।

गुरुं संघं च छड्डित्ता, महुरो होइ एगगो ॥७४॥

मान से कुपित साधु मधुर मुनि इधर-उधर भ्रमण करके, गुरु और संघ को छोड़कर अकेला हो जाता है ।

टिप्पण—१. इस गाथा में मान से साधु की हानि बतायी गयी है । २. संयम सहयोग से सुख शान्ति-पूर्वक पलता है । ३. मान के कारण क्रोध उत्पन्न होने पर साधु भी भटक जाता है और गुरु और संघ का भी त्याग कर देता है । जिससे संयम में हानि होती है । यह साधु की इहलौकिक हानि है ।

अकेला ही रह लूंगा

इंद्रपुर में संघ के प्रमुख मुनि का वर्षावास था । उनके शिष्यों में दो मुनि थे—मधुरमुनि और शशिमुनि । दोनों में कुछ कलह हो गया । शशिमुनि ने मधुरमुनि पर व्रतभंग का दोषारोपण किया । परन्तु दोषारोपण पूर्णतः सिद्ध न हो सका । अतः उन्होंने लोगों में दोष का प्रचार करना शुरू किया ।

गुरुदेव ने कहा—“मधुरमुनि ! तुम से अंशतः व्रत-विराधना हुई है और शशिमुनि ! तुमने इनपर पूर्णतः व्रत-भंग का आरोप लगाया है तथा लोगों में इन्हें लांछित करने का कार्य किया है । अतः तुम दोनों को प्रायश्चित्त आता है ।”

शशिमुनि ने आक्रोश से कहा—“मैं किस बात का प्रायश्चित्त लूँ ! मैं दोषी हूँ ही नहीं ।” मधुरमुनि बोले—“मैं भी प्रायश्चित्त क्यों लूँ ? मैं बिल्कुल निर्दोष हूँ । इन्होंने मुझे वृथा ही बदनाम किया है ।”

गुरुजी ने बहुत समझाया । पर वे नहीं माने । मधुरमुनि क्रोध में अकेले ही विहार करके आचार्य के पास गये । वे वहाँ पर भी तीव्र आवेश में बोलते रहे—“निर्दोष हूँ मैं । न्याय कीजिये । नहीं तो लीजिये यह आपकी मुखवस्त्रिका और रजोहरण ।” आचार्य ने शान्ति से कहा—“आप जरा-सी बात को बहुत तान रहे हो, आयुष्मन् ! आप तीव्र मान कषाय से पीड़ित हो रहे हो । आप स्वर्णिग के परित्याग की बात कर रहे हो । यह साधारण बात नहीं है । इससे तो यह सिद्ध होता है कि आप में चरित्र के परिणाम नहीं रहे ।” यह सुनकर मधुरमुनि को अनुभव हुआ कि मेरा घोर अपमान किया गया है । वे रोष के साथ वहाँ से चल दिये—“आप तो सर्वज्ञ जैसी बातें कर रहे हैं । संयम तो मुझे पालना है न ! धरा रहे आपका संघ और समाज । मैं अकेला ही रह लूँगा ।”

मधुरमुनि न संघ में रहे और न गुरु के पास ही गये । उधर शशिमुनि अभिमान के कारण गुरु-चरणों का परित्याग करके चले गये । मधुरमुनि आवेश में अकेले हो तो गये । परन्तु अकेले विचरण करना उन्हें कठिन पड़ने लगा । वे अपने एक पूर्व के अनुरागी ग्राम में आकर टिक गये । वहाँ उनके स्वजन भी थे । अतः पहले तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई । गुरु के अनुरागी श्रावक उन्हें मनाने आये । तब वे बोले—“अब जो होना था सो हो गया । अब मैं पुनः नहीं लौट सकूँगा ।”

बाद में उन्हें गृहस्थों से सेवा लेना पड़ी। अतः उन्हें पश्चाताप भी हुआ।

पारलौकिक हानि—

इह-लोइय - माणट्ठा, उभय-भट्ठ साहुणी ।

आलोयणं अकाऊण, भवे भमेइ रुपिणी ॥७५॥

इह लौकिक मान (की रक्षा) के लिये उभय लोक से भ्रष्ट साध्वी रूपिणी आलोचना न करके भव में भ्रमण करती रही।

टिप्पण—१. मानव अपने अपयश के भय से अपराध को स्वीकार नहीं करता है और अपने हृदय में शल्य रखता है। २. अपने दोष को स्वीकार नहीं करने से माया का प्रवेश हो जाता है। कदाचित् क्रोध भी आ सकता है। ३. मान और माया के कारण मृषावाद आदि दोषों का सेवन होता है। अतः संयम गृहित हो जाता है। जिससे परलोक और उससे अगला जन्म भी गृहित होता है। यों वह उभय भ्रष्ट हो जाता है। ४. माया तीन शल्यों में एक है। जिसके कारण मोक्षमार्ग में गति का प्रतिघात होता है। यह मान-जनित माया है। ५. इस विषय में रूपी साध्वी की कहानी जैन-साहित्य में प्रसिद्ध है।

मान की मोहिनी

राजा की एक ही प्रिय संतान राजकुमारी थी रूपिणी। राजा ने उत्तम ढंग से उसका पालन-पोषण किया। युवावय में श्रेष्ठ राजकुमार से उसका विवाह कर दिया। किन्तु अल्प समय में ही राजकुमार का देहान्त हो गया। रूपिणी को बड़ा दुःख हुआ। उसने पति के शव के साथ सती होने की इच्छा प्रगट की। पिता ने समझाया—“मोह में दग्ध मत होओ। पति का साथ इसी भव तक का होता है।

फिर अपने कर्मानुसार गति होती है। कहां उनका संयोग होगा ? अग्नि में देह जलाने की अपेक्षा तप में अपने कर्म दग्ध करो-यही उत्तम मार्ग है ।” रुप्पिणी समझी। उसका मोहावेश मंद हुआ। उसने पिता की बात मान ली। वह सती नहीं हुई।

वह पिता के यहाँ रहने लगी। तप करने लगी। पिता की प्रेरणा से वह पुरुष-वेश में रहने लगी। क्योंकि पिता की एक मात्र सन्तान वही थी। पिता का राज्य उसे ही सम्हालना था। उसने शासन करने योग्य शिक्षण पाया। एक दिन पिता परलोक प्रयाण कर गये। तब रुप्पिणी ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली। वह रुप्पी राजा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

उसके मंत्री कुशल थे। मंत्री के युवापुत्र का नाम था शीलसनाह। वह यथानाम तथा गुण-सम्पन्न था। उसे शील सदाचार अत्यन्त प्रिय था। उसके यौवन ने उसे अनूठे सौंदर्य से अलंकृत कर दिया था। वह मंत्रीजी की प्रेरणा से राजसभा में आने लगा। एक दिन रुप्पी राजा उसे एकटक निहारने लगी। वह उसके सौंदर्य से अभिभूत हो गयी। पुनः-पुनः शीलसनाह के मुख पर दृष्टि जाने लगी। मन में विकार उत्पन्न होने लगा। मंत्री-पुत्र यह बात ताड़ गया। वह सोचने लगा—‘यह राजा है। युवावय है। सत्ता-सम्पन्न है। इसका मेरे प्रति मोह उत्पन्न हो गया है। यह सर्व-तन्त्र-स्वतंत्र स्त्री राजा है! यह क्या अनर्थ कर गुजरेगी—कुछ कहा नहीं जा सकता। मेरे शील भंग का क्षण आया ही समझो। मेरे साथ मेरे कुटुम्ब पर भी संकट आ सकता है.....’ यह सोचते हुए शीलसनाह ने एक निर्णय कर लिया। सभा समाप्त होते ही वह घर न जाकर विदेश की ओर रवाना हो गया।

शीलसनाह अन्य राजा की सेवा करने लगा। वहाँ कुछ निमित्त को पाकर उसके हृदय में वैराग्य तीव्र रूप से प्रकट हो गया और वह दीक्षित हो गया। शीलसनाह मुनि गुरुचरणों में सानन्द रत्नत्रय की आराधना करने लगे। वे गुणसम्पन्न मुनि बन गये। गुरु उन्हें आचार्य-

पद प्रदान करके अन्तिम आराधना करने में जुट गये। वे देह त्याग-कर उत्तम गति में गये।

शीलसनाह आचार्य विचरण करते हुए रुपी राजा की नगरी में पधारे। उपदेश सुनकर रुपी राजा का हृदय भी वैराग्य-वासित हो गया। योग्य व्यक्ति को राज्य देकर रुपी राजा दीक्षित हो गयी।

रुपी साध्वी ने संयम की आराधना की। शरीर की दुर्बलता समझकर संलेखना की और अनशन करने के लिये आचार्य के समक्ष आलोचना की। किन्तु अपने चक्षु-दोष की आलोचना नहीं की। आचार्य के द्वारा इस विषय में संकेत किये जाने पर अपने पूर्व के प्रसिद्ध निर्मल जीवन पर अपयश का धब्बा न लग जाय-इस भय से साध्वी ने कहा—“मैंने तो आपकी परीक्षा करने के लिये आपकी ओर देखा था।” साध्वी ने अपना दोष स्वीकार नहीं किया।

रुपी साध्वी ने उत्कट तपस्या भी की। संयम-साधना भी की। उत्साह से अन्तिम आराधना भी की। किन्तु मान-अपमान की मिथ्या कल्पना में फँसकर शुद्ध आलोचना नहीं की। अपना दोष छिपाया। अतः उनका संयम दूषित हो गया। उन्हें दीर्घ काल पर्यन्त भव-भ्रमण करना पड़ा। ऐसी भुल-भुलैया से भरी है—मान की मोहनी।

मान मधुर जहर है—

महुरं च विसं मंदं, सणियं - सणियं भिसं ।

हरइ मोहगो माणो, णरस्स भाव-जीवियं ॥७६॥

मान मधुर और मंद विष है। (यह) मोहक मान मनुष्य के भाव-जीवन का शनैः-शनैः बहुत अधिक हरण कर लेता है।

टिप्पण—१. मान कटु विष के तुल्य नहीं है, किन्तु मधुर विष के सदृश है। तीव्र विष नहीं है अर्थात् तत्काल उग्र फल बतानेवाला

जहर नहीं है। क्योंकि तीव्र जहर का जहरपन जल्दी समझ में आ जाता है, मंद का नहीं। जैसे धूम्रपान मंद जहर है। जो उसके फंदे में फँस जाता है, उसे वह जहर रूप में दिखाई नहीं देता है। वैसे ही मान भी मंद विष-सा होने के कारण उसकी मारकता प्रतीत ही नहीं होती है। २. जहरीला पदार्थ मधुर होता है तो कोई भी स्वाद-लोलुप अज्ञान के कारण उसे खा सकता है। जैसे किंपाक फल। मान जीव को अति मधुर लगता है। अतः जीव उसका निर्वाह बड़े शौक से करता है। ३. भावजीवन अर्थात् रत्नत्रय की आराधना अथवा ज्ञान, शक्ति, सुख और सत्ता रूप भाव-प्राण। मान इनका शनैः शनैः नाश करता है। जब भाव-जीवन का वह नाशक है तब द्रव्य जीवन का नाशक वह है ही। ४. मनुष्य को मान-कषाय अति आकर्षक लगता है। परन्तु उसका वह आकर्षण ही तो दुःखद है।

मान मान का अपहारक है—

भर्गहिं होंति उम्मत्ता, गारवेणैव उस्सिआ ।

तम्हा सो ते भमावेइ, माणं हिच्चा नराण खु ॥७७॥

मदों से (मनुष्य) उन्मत्त होते हैं और गौरव से ही ऊँचे उठे हुए अर्थात् अति उन्नत। इसकारण वह मनुष्यों के मान का निश्चय ही अपहरण करके उन्हें (भव में) भमाता है।

टिप्पण—१. मानव मद से उन्मत्त हो जाता है और गौरव से वह अपने आपको उच्चता के शिखर पर आरूढ़ बना हुआ देखता है। २. मद से व्यक्ति बेभान हो जाता है और गौरव से व्यक्ति विपरीत रूप से सोचने लग जाता है। उन्मत्त व्यक्ति न दूसरे की सुख-सुविधा का ही ध्यान रखता है और न अपने शरीर का ही। वैसे ही मद में फँसा हुआ जन अन्य जनों के अपने प्रति व्यवहार और अन्य के प्रति अपने व्यवहार में लापरवाह हो जाता है। ३. गौरव के उच्च शिखर

पर स्थित मनुष्य अन्य को तुच्छ रूप में देखता है। वह अपने ही को महान समझता है। वह अपने सन्मान की उपलब्धि और सुरक्षा के लिये कुछ भी कर सकता है। ४. सन्मान पाने की तीव्र लालसावाला जन अपमान के गहरे गर्त में गिरकर भी सन्मान पाने के लिये विग्रह खड़ा कर देता है। वह दयनीय अवस्था में पहुँच जाता है। ५. वस्तुतः मान यश-कीर्ति का नाशक है।

मान की प्राप्ति और सुरक्षा के लिये मनुष्य पाप करता है—

माणस्स रक्खणट्ठाए, सेसे तस्स सजाइए ।

अण्णे वि बह्वे पावे, जीवा करंति पत्तु य ॥७८॥

जीव मान की रक्षा और प्राप्ति के लिये उसके स्वजातीय शेष पापों को तथा अन्य भी बहुत सारे पापों को करता है।

टिप्पण—१. स्वजातीय पाप अर्थात् क्रोध, माया और लोभ ये मान के स्वजातीय पाप हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि कषायेतर पाप हैं। मान दोनों प्रकार के पाप करवाता है। २. पाप से जीव का धार्मिक-जीवन विनष्ट होता है। निज धर्म का विनाश अति भयंकर हानि है। ३. पाप-भीरु आत्मा को पाप से भय लगता है। वह मान की पापरूपता को भली भाँति जानता है। अतः उसे मान-कषाय का उदय ही अत्यन्त हानिप्रद लगता है। ४. कदाचित् मान-कषाय के उदय से तथा रूप भाव आ जाते हैं तो पाप-भीरु आत्मा को तप्तलौह पर पैर पड़ जाने के सदृश प्रतीत होता है। ५. ऐसा आत्मा अन्य कषायों और उससे इतर अन्य पापों का सेवन, मात्र मान के लिये, कितना हानिप्रद समझता होगा ?

उपसंहार और उपदेश—

एवं सुणिज्ज जाणिज्ज, माणं चित्तिज्ज पासह ।

इह - पारत्ता - हीणत्तं, करंत अमियं दुहं ॥७९॥

इसप्रकार इहलौकिक और पारलौकिक हीनता करते हुए मान के विषय में सुनो, जानो, चिन्तन करो और देखो । तथा वह (सुख नहीं) सीमा से रहित दुःख (उत्पन्न) करता है (यह भी देखो) ।

टिप्पण—१. सुनना और जानना दो प्रकार से होता है—स्वतः और परतः । अपने कानों को सुनाई दे ऐसे पढ़ना—स्वतः श्रवण है और गुरुदेव आदि के मुख से परतः श्रवण है। वैसे स्वयं श्रुतज्ञान के अभ्यास से जानना स्वतः ज्ञप्ति है और ज्ञानियों से श्रुत का अभ्यास करके जानना परतः ज्ञप्ति है । अपने-अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व है । परन्तु विनय सहित गुरुदेव से श्रवण करना और जानना-जिनशासन का प्रमुख अंग है । जिससे मानकषाय का विसर्जन प्रवृत्त्यात्मक रूप से होता है । २. चिन्तन और दर्शन स्वतः ही होता है, परतः नहीं । ये श्रवण और ज्ञान की उत्तरावस्था हैं । चिन्तन और दर्शन से मान-विसर्जन की साधना सफल होती है । ३. मान-जनिता दुःख अनन्त है ।

जस्स वि उब्भवे माणो, तं खु सिग्घं विणस्सइ ।

हवइ पस्स भो भव्व ! माणेण अहमा गई ॥८०॥

जिस (विषय या पदार्थ या भाव) का भी मान उत्पन्न हो जाये, वही शीघ्र विणष्ट हो जाता है । हे भव्य ! देख, मान से अधम गति होती है ।

टिप्पण—१. मान हीनता का उत्पादक है । २. जिस विषय से संबन्धित मान होता है, वही हीन-तुच्छ हो जाता है । जैसे किसी को रूप का मान होता है तो उसका रूप हीन या कुरूप हो जाता है अथवा श्रुत का मद होता है तो वह श्रुत विहीन या कुश्रुतवाला हो जाता है । ३. भव्य सम्यक् भाव में परिणत होने की योग्यतावाला । इस संबोधन से यह सूचन किया है कि 'हे आत्मन् ! मान एक अधम

भाव है, उसे करना तुम्हारे स्वभाव के अनुसार अयोग्य है।' ४. मान का भाव आता है तब मनुष्य उन्नत सिरवाला हो जाता है, परन्तु बाद में अधोमुख होना पड़ता है । ५. मान से जीव की बुरी दशा हो जाती है ।

मान का कटु विपाक

गुणसुन्दर और सोमसुन्दर उद्यान में केवली भगवान का पदार्पण सुनकर, वन्दन करने के लिये रवाना हुए । उन्होंने मार्ग में एक करुणा-जनक दृश्य देखा ।

एक सुन्दर पुरुष मार्ग के किनारे पड़ा था । बड़ी दुर्दशा हो रही थी उसकी । सौन्दर्य अत्यधिक आकर्षक, किन्तु शरीर उतना ही परवश । हाथ थे ठूँठ जैसे ! पैर छोटे-छोटे ! जिह्वा कटी हुई ! बोलना चाहकर भी बोल नहीं पाता । देह में कई रोग ! स्वयं न उठ सकता है, न बैठ सकता है । फटे-चिथरे कपड़े ! मक्खियाँ भिन-भिना रही हैं । वह उन्हें उड़ा भी नहीं सकता है ।

गुणसुन्दर का हृदय अनुकम्पा से द्रवित हो उठा । उसकी आँखों में अश्रु छलक आये । उसे विचार आया—'अहा ! कैसी दयनीय दशा ? कैसी पस्वशता ! कितना दुःख ! यह भी एक मनुष्य है ! बेचारा यहाँ मार्ग पर पड़ा है । कोई कुचल न दे इसे ? उठाकर एक तरफ क्यों न रख दें !' गुणसुन्दर उसे उठाने गया । उसने उस अपंग के हाथ लगाया । इतने में ही वह गुरा नि लगा । उसने उसे उठाने का प्रयत्न किया । तब उसने गुणसुन्दर को जोर से लात मारी । गुणसुन्दर कटे वृक्ष के समान गिर पड़ा । वह धूल झाड़ने हुए उठ बैठा । परन्तु मन में करुणा का वेग तीव्र था । उसे लगा कि हो सकता है । इस दुःखी जीव को मेरा स्पर्श असुहाना-दुःखद लगा हो ! यदि कोई अन्य इसे यहाँ से उठाकर सुरक्षित स्थान पर रख दें तो अच्छा !'

उसने सोमसुन्दर से कहा—“बेचारा कितना दुःखी है यह ! लगता है कि मेरा स्पर्श इसके लिये प्रतिकूल है। इसलिये आप कृपा करके इसे मार्ग से दूर वृक्ष की छाया में रख दें ?”

सोमसुन्दर भी कृपा से द्रवित था ही। वह उसे उठाने गया। लेकिन, आश्चर्य ? उसने अपनी वृश्चिक-वृत्ति का ही परिचय दिया। उसने सोमसुन्दर को भी जोर से लात टिकायी। मानों वह इसे अपना तिरस्कार समझ रहा था। उसे पहले ही ज्यादा क्रोध आ रहा था। लात जोर की लगी कि सोमसुन्दर भी चारों खाने चित्त गिर पड़ा। उन्हें लगा कि इसे ऐसे रहने देने में ही सुख है। वे उसे वहीं छोड़कर आगे बढ़ गये।

वे केवली भगवान की सभा में पहुँचे। भक्ति-उल्लास पूर्वक वन्दन किया और उपदेश श्रवण करने के पश्चात् गृणसुन्दर ने पूछा—“हे अन्तर्यामिन् ! हे प्रभो ! हमने मार्ग में दुःखी मनुष्य को देखा। कितना दुःखी है वह ? इस बात के स्मरण मात्र से रोम खड़े हो जाते हैं। प्रभो ! उसकी ऐसी दुर्दशा क्यों हुई ? अपने हितैषियों के प्रति भी इतने क्रोध से क्यों भर जाता है ?”

केवली भगवान् ने धीर-गंभीर वाणी में फरमाया—“देवानुप्रिय ! यह मान कषाय का कटु विपाक है। ताम्रलिप्ति नगरी के राजा का पुत्र था—गृणवर्धन। राजकुमार ने उद्यम से ज्ञानार्जन किया। वह बुद्धिमान था। राजा यशोवर्मा को अपने पुत्र पर गौरव था। राजकुमार भर यौवन में मस्त था। उसे अवधिज्ञानी मृनिराज का सत्समागम प्राप्त हुआ उनके उपदेश ने उसकी आत्मा पर गहरा असर किया। वह बड़े उल्लास से आत्म-साधना के मार्ग पर चलने के लिये लालायित हो उठा। उसने अपने पिता से बड़ी मुश्किल से आज्ञा प्राप्त की और उत्साह से परिपूरित हृदय से मंगलमय वातावरण में बड़े ठाठ से दीक्षित हो गया।

ऐसे विशिष्ट त्यागी की प्रशंसा होना स्वाभाविक ही है। जनजन गुणवर्धन के त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। स्थविर मुनि और अन्य मुनिजन भी उनकी महिमा करने में भाग लेते थे। लेकिन यह प्रशंसा उनके लिये हित रूप में परिणत नहीं हुई। गुणवर्धन मुनि भी अपने आपको महान् समझने लगे। इसका नशा उन पर छाने लगा। वे किसी की शिक्षा की बात को सुनने की क्षमता भी खो बैठे। उन्हें किसी की हितकर संयम-प्रेरक बात भी अति कटु लगने लगी। वे जरा-जरा-सी बात में चिढ़ने लगे। रत्नाधिकों की अवहेलना करने से भी नहीं चूकते। गुरु भगवान् की भी आशातना कर डालते। फिर अन्य साथी मुनियों की तो गिनती ही क्या थी। वे संघ में अति अप्रिय हो गये। उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगे, वहाँ तक ठीक और उसमें भी कब उनका पारा ऊँचा चढ़ जाय-इनका कोई पता नहीं। अतः सभी उनसे दूर रहने और कुछ नहीं बोलने में ही कुशल समझने लगे। गुणवर्धन मुनि संयम का पालन करते रहे। किन्तु गुरुजनों-संयमियों की आशातना करते रहे। संयम-प्रेरक हितकर सारणा-वारणा का तिरस्कार करते रहे। वहाँ से कालघर्म करके देवगति पायी, परन्तु प्रशस्त नहीं। वहाँ से च्यवकर अब इस रूप में जन्म मिला है। चरित्र का पालन किया था, इसलिये रूप सुन्दर पाया। किन्तु जिह्वा का दुरुपयोग किया, गुरुजनों की आशातना की, इसलिये जिह्वा कटी हुई पायी। मान से सदा अकड़े-अकड़े रहे। अतः देह के अवयव भी पूरे और सक्षम नहीं पाये। उठने-बैठने की शक्ति भी छिन गयी। ऐसे पाप के दुष्फल को भोगते हुए भी वह पूर्व भव की मान की वृत्ति नहीं गयी है, ज्यों की ज्यों बनी हुई है; क्योंकि उसका अभ्यास दृढ़ जो हो गया है। अतः अभी वह कोई उसे शाता पहुँचाने आता है तो उन पर गुराँदा है-क्रोध करता है। ऐसा है यह मान का दुर्विपाक !”

जनता और वे गुणसुन्दर और सोमसुन्दर दोनों यह कर्म-कहानी सुनकर काँप उठे।

मान से हानि के विषय में कुछ शेष बात कहते हैं—

माणचायस्स माणो वि, अप्पसत्थो दुहंभरो ।

ण सो कयावि कायव्वो, अप्प-संति-सुहेसिणा ॥८१॥

मान के परित्याग का मान भी अप्रशस्त और दुःख का पोषक है । इसलिये आत्मशान्ति और आत्मसुख का इच्छुक उसे कभी नहीं करें ।

मानत्याग का मान

मध्यदेश में संघराज्य चल रहा था । प्रभावशाली प्रमुखों के नेतृत्व में राज्य उन्नति करता रहा । सम्प्रति प्रमुख थे—जीवराज । वे अति वृद्ध हो चुके थे । यद्यपि प्रमुख के द्वारा नये प्रमुख की नियुक्ति की अभी तक कोई परम्परा नहीं थी, फिर भी कुछ लोगों ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि वर्तमान प्रमुख की विद्यमानता में ही नये प्रमुख का चयन कर दिया जाय । लेकिन प्रमुख ऐसा करने में समर्थ नहीं थे । क्योंकि काफी दल-बंदियाँ हो चुकी थीं ।

प्रमुख पद के उम्मीदवारों के कई नाम आ रहे थे । सूरचन्द्र विज्ञ और नितिज्ञ पुरुष थे । कुछ लोग उनका नाम आगे बढ़ा रहे थे तो कई लोग मुक्तिचन्द्र को । यों आठ-दस नाम आ गये । पत्रकार कौलाहल मचा रहे थे कि प्रमुखपद के लिये आठ-दस जने लड़ रहे हैं । बहुत ही निम्नस्तर का लेखन हो रहा था । उन उम्मीदवारों में एक नाम लघुचन्द्र का भी था । परन्तु वह उम्मीदवारी के चक्कर में था नहीं । मात्र कुछ लोगों ने ही उम्मीदवारों की पंक्ति में उसका नाम लगा दिया । उसे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था । इसलिये उसने सम्पर्क में आये हुए एक पत्रकार से कहा भी सही—“भाई ! आपने प्रमुखपद के उम्मीदवारों में मेरा भी नाम लगा दिया । उम्मीदवार तो

उसे कहते है, जिसे कुछ उम्मीद हो। मैंने तो प्रमुखपद की कोई उम्मीद की ही नहीं।”

संघ-प्रमुख जीवराज को विचार आया कि—‘प्रमुखपद के लिये मुख्य रूप से संघर्ष तो दो ही जनों में है—सूरचन्द्र और मुक्तिचन्द्र में। सूरचन्द्र का पक्ष कमजोर नहीं है तो मुक्तिचन्द्र का पक्ष भी न्यून नहीं है। किन्तु मैं किसी भी एक को नियुक्त कैसे कर सकता हूँ! और मुझे इसका अधिकार ही क्या है? अतः संघ-मुख्यों को ही यह कार्य सौंप दूँ।’

संघ-मुख्यों और उम्मीदवारों को आमंत्रित किया गया। पत्रकार विविध बातें लिख रहे थे। लोगों में अफवाह थी कि ‘क्यों बुलाया गया, इन सबको? क्या लाभ? ये परस्पर खूब लड़ेंगे!’

संघ मुख्यों में कई विचार थे। कुछ सोच रहे थे—‘सूरचन्द्र ठीक हैं’ तो कुछ सोच रहे थे—‘मुक्तिचन्द्र ठीक हैं, किन्तु उनमें पद-योग्य गांभीर्य नहीं है।’ कुछ कह रहे थे—‘सूरचन्द्र आये भले ही, परन्तु उन्हें निर्विरोध नहीं आने देना चाहिये।’ कुछ यों भी सोच रहे थे कि ‘दो में से किसी एक की नियुक्ति संघ में फूट पैदा कर देगी। इसलिये दोनों सन्तुष्ट हो-ऐसा मार्ग निकालना चाहिये।’ परन्तु कई संघ मुख्यों को यह विचार पसंद नहीं था। अतः वे लघुचन्द्र को मनाने में लगे थे। उन्हें ऐसी आशा थी कि यदि लघुचन्द्र प्रमुखपद के लिये अपनी स्वीकृति दे दे तो सब कुछ शान्त हो जायेगा और संघ में कोई भी दरार नहीं पड़ेगी। किन्तु लघुचन्द्र देख रहा था कि बुद्धि-स्वातन्त्र्य के वातावरण में शासन सम्हालना सरल नहीं है। जिसका हम निर्वाह नहीं कर सकें, उस पद को लेने में क्या लाभ? यह मान-सन्मान की बात नहीं है। यह तो उत्तरदायित्व के निर्वाह की बात है। फिर सभी को सन्तुष्ट रखना अपने वश की बात नहीं है। अतः उसने मुख्यों से विनम्रतापूर्वक कहा—“मेरे प्रति आपकी सद्भावना के लिये

आभारी हूँ। किन्तु मैं इस पद का भार वहन कर सकूँ-इतनी सामर्थ्य मुझे अपने में प्रतीत नहीं होती। इसलिये आप मुझे क्षमा करें।” संघमुख्य निराश हो गये। कुछ ने उसे उपालंभ दिया तो कुछ ने प्रशंसा भी की।

आखिर में सूरचन्द्र प्रमुख और मुक्तिचन्द्र उपप्रमुख रूप में स्थापित किये गये। दोनों का खूब जय-जयकार हुआ।

पत्रकारों ने दोनों की महिमा के गीत गाये। अन्य जनों ने भी पद नियुक्ति और तत्संबन्धी समारोह के विषय में काफी लिखा। कई दर्शकों ने भी इधर-उधर से बातें लेकर रिपोर्टिज लिखे। किन्तु किसी ने भी लघुचन्द्र के विषय में एक पंक्ति भी नहीं लिखी। इस बात का लघुचन्द्र को बहुत बुरा लगा। वह सोच गया—‘क्या मैंने कुछ भी त्याग नहीं किया? इतना मान-सम्मान मुझे वरण करने आ रहा था! पर मैं उसके प्रति लालायित नहीं हुआ तो क्या यह मेरा कुछ भी त्याग नहीं है? कहाँ पर गये वे पत्रकार, जो खर्दबीन लगाकर मुझ में जो नहीं था वह देख रहे थे और जो है उसे खुली आँखों से भी नहीं देख सकते? . . .’ इस चिन्तन से लघुचन्द्र तिलमिला गया। उसी समय उसे एक गंभीर अन्तर्नाद सुनाई दिया—‘क्या सोच रहे हो तुम? मानत्याग का मान कर रहे हो! तुमने मानत्याग किसलिए किया—आत्मशान्ति के लिये ही न! आत्मसुख के लिये ही न? फिर अशान्त और दुःखी क्यों हो रहे हो?’

टिप्पण—१. मान के त्याग का मान भी कषाय ही है। २. उससे भी दुःख ही पुष्ट होता है। वह आकुलता का जनक ही है। ३. जो आकुलता का घर है और आत्मशान्ति का हनन करता है, वह प्रशस्त कैसे हो सकता है? ४. लोगों की प्रशंसा से त्याग का क्या लेना-देना? प्रशंसा पाने के लिये किया गया त्याग त्याग ही नहीं है। ५. त्याग लोगों के लिये नहीं, आत्मकल्याण के लिये किया जाता है। अतः किसी भी त्याग की प्रशंसा की चाह आत्महित की भावना

को मन्द करती है। ६. वस्तुतः किसी भी दुर्गुण के त्याग का मान उसी दुर्गुण को आमन्त्रित करता है तो सद्गुण का मान उसी गुण को मलिन और विनष्ट करता है। ७. जबतक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो, तबतक साधना को पर्याप्त या पूर्ण समझना और उससे विराम लेना—साधना का मान ही है। यद्यपि यह तीव्र मान नहीं है, फिर भी यह साधना का अवरोधक और दोषों का आविर्भाव-कारक है।

(३) माना-हानि पश्यना

माया से धर्म आदि की हानि

माया सल्लंघि मग्गम्मि, जोगे करेइ वक्कयं ।

पिहेइ धम्म-दारं च, गुणे सन्वे वि दूसइ ॥८२॥

माया (मोक्ष-) मार्ग में शल्य-काँटा ही है। वह योगों-शुभ क्रिया में वक्रता कर देती है, धर्म के द्वार को बन्द कर देती है और सभी गुणों को दूषित कर देती है।

टिप्पण—१. जैसे अंग में पैठकर काँटा कसकता है और चलने में बाधक होता है, वैसे ही हृदय में पैठी हुई माया भी खटकती है और मोक्ष-साधना में विघ्न पैदा करती है। २. योग शब्द के दो अर्थ—मन, वचन और काया की क्रिया और स्वाध्याय, ध्यान आदि सत्क्रियाएँ या निर्जरा-तपोऽनुष्ठान। माया से मन आदि की क्रिया वक्र हो जाती है और स्वाध्याय आदि भी पूर्णतः निर्जरा के हेतु न रह पाते हैं। ३. धर्म के दो भेद—सूत्रधर्म और चरित्रधर्म। माया के कारण ये दोनों धर्म रूप में परिणत नहीं हो पाते। ४. माया के कारण क्षमा आदि गुण दूषित होकर, उसी के पोषक बन जाते हैं। ५. इस गाथा में

माया से चार हानियाँ बतायी है—गतिरोध, योग वक्रता, धर्मद्वार-
पिधानता, गुण-दूषणता इसी बात को और स्पष्ट किया जाता है—

विसंसेण पयं दुट्ठं, महु - घयाइ - मिस्सियं ।

तहा मायंस - मित्तेण, किरिया मइलिज्जइ ॥८३॥

(जैसे) मधु, घृत आदि से मिश्रित दूध विष के अंशमात्र से दुष्ट =
जीवों के प्राणों का द्वेषी होता है, वैसे ही माया के अंशमात्र से क्रिया
मलिन-खराब हो जाती है—

टिप्पण—१. मधु, घृत, केशर, मेवा आदि से युक्त कढ़ा हुआ
दूध भी अंशमात्र जहर से मारक बन जाता है अर्थात् जहर के कारण
शक्तिप्रद पदार्थ की शक्तिप्रदता-जीवन-प्रदायकता समाप्त हो जाती है।
वैसे ही अंशमात्र से सत्क्रिया दूषित हो जाती है—उसकी तारकता
विनष्ट हो जाती है। २. माया से युक्त भाव दंभ रूप में परिणत
हो जाता है। वह सत् पुरुषार्थ को हीन बना देती है—इतना नहीं,
किन्तु संसार-वृद्धि का हेतु बना देता है। ३. माया मोक्षपुरुषार्थ की
परम घातक है।

माया से ऋजुता और मैत्री का नाश—

गहीरे वसए माया, ण बाहिरं लहिज्जइ ।

उज्जुत्तं सयलं ताए, मेत्तीभावो य णस्सइ ॥८४॥

माया अत्यन्त गहरे में रहती है। वह बाहर लब्ध ही नहीं
होगी-पकड़ में ही न आयेगी। वह सकल ऋजुता और मैत्रीभाव को
नाष्ट करती है।

टिप्पण—१. माया का वास पेट में माना गया है। अतः उसका
निवास गहराई में बताया है अर्थात् मायाचार निगूढ होता है। उसे

पकड़ पाना सरल नहीं है । २. ऋजुता के प्रमुख दो भेद हो सकते हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक । संसार के व्यवहार में अवञ्चकता अथवा कुटिलता, छल और वक्रता से रहित भाव व्यावहारिक ऋजुता है । इसके अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं । नैतिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, औद्योगिक आदि । साधना में प्रवृत्त साधक का अपनी साधना के प्रति प्रामाणिक भाव-अवञ्चकभाव पारमार्थिक ऋजुता है । साधक के प्रमुख दो प्रकार—मोक्षमार्गाभिमुख और मोक्षमार्गप्रतिपन्न । तदनुसार ऋजुता के भी दो प्रकार हो जाते हैं—मार्गानुसारिणी—ऋजुता और मार्गगत-ऋजुता । द्वितीय ऋजुता को उत्तम ऋजुता कहा गया है । ३. इन सभी प्रकार की ऋजुता को माया नष्ट करती है । इसीलिये उज्जुत्त का सखल विशेषण दिया गया है । ४. मैत्रीभाव के दो रूप-दूसरे के प्रति अपना मैत्रीभाव और अपने प्रति दूसरों का मैत्रीभाव । माया दोनों प्रकार के मैत्रीभाव को नष्ट करती है । दूसरों के प्रति अपने मन में वञ्चक-वृत्ति प्रकट होने पर उसके प्रति मैत्रीभाव कैसे टिक पायेगा और जब वह अपना मायाचार जानेगा, तब उसकी मैत्री अपने प्रति कैसे रह सकेगी । ५. इस गाथा में माया से होने-वाली तीन हानियाँ बतलायी हैं—दुराशय से युक्त गोपनता, ऋजुता-नाश और मैत्री-नाश ।

माया से किसकी हानि होती है ?—

णेव वंचिज्जए अण्णो, भायी वंचिज्जए सयं ।

सो य वेसासिओ णेव, घिणा-यत्तो हविज्जइ ॥८५॥

(माया के द्वारा) दूसरा नहीं ठगा जाता है, किन्तु (अपने द्वारा) मायी स्वयं ठगा जाता है और वह निश्चय ही विश्वासपात्र नहीं होता है, किन्तु घृणा-पात्र हो जाता है ।

टिप्पण—१. निश्चयनय की अपेक्षा से कोई किसी को नहीं ठग सकता । क्योंकि ठगे जानेवाले जीव तद्रूप कर्मों का उदय हो, तभी

वह ठगा जा सकता है और यदि उसके वैसे कर्मों का उदय हो न हो, तो उसपर अन्य के वंचन का उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं होता ।

२. प्रश्न—जब मायी की वंचना से किसी की कुछ हानि नहीं होती है तो फिर उसे पाप क्यों लगता है ? उत्तर—माया-वृत्ति मायी की ही होती है । उसमें अन्य को छलने के भाव रहते हैं—वक्राचार होता है । अतः उसकी माया से अन्य की हानि हो या नहीं, किन्तु उसे पाप लगता ही है । क्योंकि वह उसीका दूषित भाव है । जैसे कोई अपने हाथ में आग लेकर किसी को जलाना चाहता है तो भले अन्य कोई जले या नहीं जले, किन्तु उसका हाथ तो जलता ही है । ३. मायी जीव माया करके आत्म-वञ्चना करता है । क्योंकि उसके वैसे कर्मों का बंध होता है और वे कर्म उसे भोगने होते हैं । अतः वह अपने द्वारा स्वयं ही ठगा जाता है । ४. मायी जन का विश्वास लोगों में से उठ जाता है । यद्यपि कई बार मायी किसी को कोई हानि नहीं पहुँचाता है, फिर भी सर्प के समान वह अविश्वसनीय हो जाता है । ५. जैसे विष्ठा खानेवाला सूअर मनुष्यों में घृणा-पात्र हो जाता है । कुत्ते के पिल्लों से खेलनेवाले बच्चे भी उनके बच्चों से नहीं खेलते हैं । परन्तु उन्हें दूर भगाते हैं । वैसे ही मायी जन लोगों में घृणा-पात्र हो जाते हैं । ६. इस गाथा में माया से उत्पन्न तीन हानियाँ बतलाई हैं—आत्मवंचना, अविश्वसनीयता और घृणापात्रता ।

माया की दस हानियाँ बताने के बाद माया की व्यापकता सूचित करने के लिये अगली तीन गाथाओं में उसकी पुनः परिभाषा की जाती है, जिससे उसके दोषों की विपुलता का भी बोध हो जाय ।

‘माया’ शब्द सब कषायों का वाचक भी है—

सर्वे कोहाइ-भावा य, मोक्खमग्गस्स वक्कया ।

तम्हा मायत्ति सद्देण, ते सर्वेवि गहिज्जइ ॥८६॥

सभी क्रोध आदि (कषाय के) भाव मोक्षमार्ग से वक्रतारूप ही हैं। इसकारण माया शब्द से उन सभी का ग्रहण होता है।

टिप्पण—१. जब व्यक्ति क्रोध, मान आदि कषायभाव से युक्त हो जाता है, तब वह मोक्षमार्ग से कुछ न कुछ दूर हट जाता है। २. मोक्षमार्ग से दूर हटना अर्थात् उससे कुछ फिसल जाना। इस-प्रकार वह मार्ग से कुछ विपरीत हो जाता है और ऐसा होना वक्रता ही है। ३. इस दृष्टि से चिन्तन करने पर सभी कषायों में माया की प्रधानता प्रतीत होगी। अतः 'माया' शब्द से अन्य कषायों का ग्रहण करना अनुचित नहीं है।

माया और अन्य कषायों की अन्योन्य-आश्रयता—

जया वि होइ आवेसे, उज्जुयं नासए तया ।

होइ जया वि वक्को वा, आवेसं गच्छए तया ॥८७॥

जब भी जीव आवेश में होता है, तब ऋजुता का नाश होता है या जब भी जीव वक्र होता है, तब वह आवेश में प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् आवेश और वक्रता अन्योन्याश्रित हैं।

टिप्पण—१. क्रोध आदि कषाय के भाव आवेश हैं। २. क्षमा आदि धर्म ऋजुता के आश्रित हैं अर्थात् ऋजुता हो तभी क्षमा आदि धर्म टिक सकते हैं। यथा—सोही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ—ऋजुभूत आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है। ३. ऋजुता का नाश अर्थात् मोक्षमार्ग का नाश। ऋजुता से रहित होना अर्थात् वक्र होना। ४. जब भी आत्मा वक्र होता है, तब उसमें किसी न किसी रूप से आवेश होता ही है। ५. वक्रता आवेशमय है और आवेशवक्रतामय है। अतः 'माया' शब्द से समस्त कषाय का ग्रहण होना योग्य ही है।

अब माया और मिथ्यात्व—इस विषय में आगम—प्रमाण दिया जाता है—

लोवेइ सा जहत्यत्तं, मिच्छाभावं च दंसइ ।

माइं तु मिच्छदिट्ठिहि, वेइ प्ह जिणेसरो ॥८८॥

वह (माया) यथार्थता को लुप्त करती है और मिथ्याभाव को दरसाती है। इसलिये प्रभु जिनेश्वरदेव (श्रमण भगवान महावीरदेव) फरमाते हैं कि 'मायी तो मिथ्यादृष्टि ही है'।

टिप्पण—१. माया 'जो वास्तव में है उसका गोपन—लोपन करती है और जो नहीं है उसे दरसाती है; अतः वह मिथ्यात्व का प्रवेश द्वार है। २. भगवतीसूत्र में भगवान ने फरमाया है—“माई मिच्छद्दिट्ठी, अमाई सम्मद्दिट्ठी अर्थात् मायी मिथ्यादृष्टि है और अमायी सम्यक्दृष्टि है। ३. मिथ्यात्व-प्राप्ति से बढ़कर अन्य कोई हानि क्या हो सकती है? मिथ्यात्व तो समस्त साधना को ही धूल-धानी कर देता है और उससे अनन्त संसार की वृद्धि हो सकती है।

इस विषय से संबन्धित दृष्टान्त—

हुकुमो छल-मायाए, वक्कयाए य सीलवं ।

चरित्त-भट्ठयं धिट्ठा, मिच्छं पावेंति ते पुणो ॥८९॥

छल-माया से हुकुममुनि और वक्ता से शीलवान—मुनि वे धृष्ट बने हुए चरित्रभ्रष्टता और मिथ्यात्व को पाते हैं।

टिप्पण—१. माया से चरित्र-भ्रष्टता और मिथ्यात्व की प्राप्ति भी होती है। २. चरित्रसम्पन्नमुनि होते हैं। चरित्र भाव-ऐश्वर्य है। चरित्रसम्पन्न सम्यक्विवान होता ही है और ज्ञानसम्पन्न भी हो सकता है। ये ही तो त्रिरत्न हैं। ३. मायी जीव ढीठ हो जाता है। वह गुरुजनों की अवहेलना करने से भी नहीं हिचकिचाता है।

चरित्र से आपने क्या पाया ?

वर्धनापुर में एक किशोर रहता था। नाम था हुकुमचन्द। उसे सन्त-समागम से वैराग्य-भाव जागा। उसने पिता से दीक्षा की आज्ञा माँगी। पिता ने पहले तो उसे समझाया-बुझाया, डाटा और अन्त में कहा—“तू मेरे गुरु के पास दीक्षा ले तो आज्ञा दे सकता हूँ।” हुकुम को तो दीक्षित होना था। उसे किसी से कोई मोह नहीं था। उसने पिता की बात मान ली। वह पिता के गुरु के पास चला गया। वहाँ उसका बहुत सम्मान किया गया। उसने वहाँ कुछ अध्ययन किया और एक दिन बड़ी धाम-धूम से उसकी दीक्षा सम्पन्न हो गयी।

गुरु का संघ विशाल था। सम्पन्न लोग भक्त थे। प्रायः उनके भक्तों की यह आदत थी कि अपने गुरु के गुणों की महिमा खूब करना और उनके शिष्यों की विद्वता, शीलसम्पन्नता, क्रिया-सम्पन्नता आदि की बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना। साथ ही वे भक्तिराग में वैया-वृत्य के मिस आधाकर्मी, औद्देशिक आदि दोषों से दूषित आहार आदि बहरा देते थे। दूर-दूर प्रदेश तक गुरु की वैयावृत्य के लिये जाते थे। कई बार सन्त उन दोषों को जान भी लेते थे। किन्तु भक्तिराग में वे इन बातों को प्रायः नजर-अन्दाज कर देते थे। यों अन्यत्र वे कड़क आचार का पालन भी करते थे।

हुकुममुनि आनन्द से संयमी-जीवन जी रहे थे। वे ज्ञानार्जन में भी प्राणप्रण से जुट गये। सत्क्रिया में भी निष्ठा थी। अपने संघ के अन्य सन्तों के समान ही वे दृढ़ आचार का पालन कर रहे थे। अपने गुरु की महिमा के गीत गाते थे। दूसरे संघ के मुनियों के शिथिलाचार की डटकर निंदा करते थे।

वे स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त के ज्ञाता बनें। दूसरे संघ के मुनि तो उन्हें ढोंगी और पाखण्डी रूप में ज्ञात करवा दिये गये थे।

अब अपनी ओर भी दृष्टि गयी तो अपने संघ में से भी श्रद्धा उठने लगी—‘इतने समय से हम ज्ञान-ध्यान कर रहे हैं ! चारित्र्य पाल रहे हैं ! क्या विशेषता हुई इससे ! मन के विकार तो मरे ही नहीं ! कोई लब्धि भी प्राप्त हुई ही नहीं ! लगता धर्म-ग्रन्थों में अतिरंजना है...वृथा है संयम-पालन ! खैर, मैं तो कुछ समय का दीक्षित हूँ ! परन्तु ये बड़े-बड़े महात्मा ! क्या मीर मार लिया इन्होंने ?’ उनमें ऐसे विचार पनप रहे थे । उधर संघ में उनके तेजस्वी ज्ञान की धाक जम रही थी । भक्त लोग उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते थे । कई सन्त भी उनमें भावी संघ-प्रमुख को घड़े जाते हुए देख रहे थे ।

परन्तु मुनिजी की आन्तरिक दशा विचित्र थी । भीतर ही भीतर उनका मन उन्हें कुतर रहा था । उनके विचार हो रहे थे — ‘यह धर्म दंभ है और धार्मिक दंभी हैं । धर्म-पालन से कोई लाभ नहीं !’ उनके चरित्र-परिणाम पतित हो रहे थे । वे वहाँ से पलायन करने की सोच रहे थे । ‘किन्तु संसार में धन के बिना पूछ नहीं होती है । पहले आगे की व्यवस्था करनी होगी ।’ उन्होंने बड़े गुप्त और असंदेहास्पद ढंग से पूरी व्यवस्था कर ली और फिर अपना असली स्वरूप दिखाना प्रारंभ किया ।

वे कहने लगे — ‘धर्म मात्र आदर्श की उड़ान है । उसे व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता । ऐसे अपने को और लोगों को ठगने से क्या लाभ...’ उनकी ऐसी बातें सुनकर संघ में चिंता व्याप्त हो गयी ।

गुरु ने समझाया—बहुत समझाया । पर उन्होंने एक नहीं मानी । प्रत्युत् गुरु से ही प्रश्न किया — “इतने लम्बे समय के संयम-पालन से आपने क्या पाया है ? क्या हुआ है आपको अवधिज्ञान या मनःपर्यवज्ञान ? हुई है कोई लब्धि प्राप्त ?”

“भाई ! यह पंचमकाल है । श्रद्धा रखो—गुरु ने कहा ।”

उन्होंने तेजी से कहा — “नहीं, ये सब बनावटी बातें हैं । मैं इनको नहीं मानता । चतुर्थकाल में ये ज्ञान हो सकते हैं तो पंचमकाल में क्यों नहीं

हो सकते हैं। चतुर्थकाल के समान आज भी सूर्य पूर्व में ही उगता है और पश्चिम में ही अस्त होता है। चतुर्थकाल में जहर मारता था और आज भी मारता है। आज भी लोग मुँह से ही खाते हैं और अन्न खाकर ही जिंदा हैं। नहीं, मैं श्रद्धा के चक्कर में नहीं पड़ सकता ? मैं अपनी जिंदगी को यों ही बरबाद नहीं कर सकता न इधर के रहे, न उधर के। न माया मिली, न राम ! ऐसी त्रिशंकु जैसी जिंदगी किस काम की....?”

गुरु देखते ही रह गये और वे आ गये अपने घर। फिर इन्द्रपुर के एक श्रेष्ठी की कन्या के साथ उसका विवाह हो गया। पिता आदि के रात्रि-भोजन के त्याग आदि नियम भी उसने भंग करवा दिये। वह कहता — “क्यों कष्ट उठाते हो—उन नियमों को पालन करके ? धर्माचरण मात्र दिखावा है। कौन है आज सच्चा संयमी ? आज के साधु ढोंगी हैं—भ्रष्ट है।”

धार्मिक जन उसके संपर्क में आना भी अच्छा नहीं समझते थे और कोई-कोई दढ़ता से प्रतिवाद भी करते थे — “अपनी भ्रष्टता दूसरे पर आरोपित मत करो ! भोग के कीड़े ! तुम क्या जानों धर्म को ?”

इसप्रकार चरित्र से संबन्धित यत्किञ्चित् छल से हुकुमचन्द्र का मिथ्यात्व तक गमन हुआ।

धर्म की रुढ़ियाँ दफनायी ?

तरुणकुमार शीलवान कैशोर अवस्था को पार करते-करते ही दीक्षित हो गया। वे अब शीलवान मुनि के नाम से पहचाने जाने लगे। उनमें अध्ययन की तीव्र रुचि थी। उन्होंने अच्छी विद्वता अर्जित की। जिससे गुरुजी और अनुयायी प्रसन्न थे। तत्कालीन विज्ञ साधुवर्ग के समान उनका भी साधना की अपेक्षा विद्वता की ओर अधिक झुकाव था। अतः साधना अत्यन्त गौण हो गयी। उन्हें अपने विकास में संयम बाधक प्रतीत होने लगा। एक दिन वे किसी मुनिजी से कह बैठे — “देखो, न ! समाज ने हमारी सभी इन्द्रियों को बाँध दिया है !”

वे मुनिजी साश्चर्य उनकी ओर निहारने लगे । फिर कुछ क्षण मौन रहने के बाद वे बोले — “क्या कहा ? समाज ने बाँध दिया है हमें ? हमारी इन्द्रियों को बाँध दिया है ?” “हाँ ! ऐसा ही तो है !”

“संयम इन्द्रियों का बन्धन है क्या ? समाज ऐसे बन्धन में क्यों बाँधने लगा हमें ? क्या हम स्वयं साधना से बँधे हुए नहीं हैं ?”

शीलवान मुनि के मुखपर मुस्कान फैल गयी । वे हठ से बोले — “हम साधना से बँधे हैं ! कौसी बात करते हो, मुनिजी ! हम तो मात्र धर्मप्रचारक हैं और समाज ने हमें संयम के नाम पर बाँध दिया है ! जरा भी हमसे कोई ऊँची-नीची बात हुई नहीं कि कोलाहल होने लगता है !”

“मुनिजी ! आपका चिन्तन मुझे विपरीत लगता है ।”

मुनि शीलवान यह चाहते थे कि मेरे नाम की धूम, कश्मीर से कन्या-कुमारी तक—अटक से कटक तक मच जाय ।

इसके लिये उन्होंने उपाय सोचे और किसी इतर प्रसिद्ध मुनिजी के पीछे पड़ गये । उनके खण्डन की धूम मचा दी । लोगों को भी मजा आ गया और वे भी प्रसिद्ध मुनियों की पंक्ति में आ गये ।

इतनी-सी प्रसिद्धि से क्या होता ? यह तो अपने घर में पुजाने जैसी बात हुई ! उन्होंने अपने पीछे भीड़ जमा हो—ऐसे उपाय तलाशे । वे प्रसिद्ध-मनोमोहक प्रवचनकार हुए । उन्होंने कई प्रकार के सम्मेलनों की धूम मचा दी । शोधपीठों के स्थापन की बिगुल बजायी । उनके पीछे लोगों की भीड़ जमा होने लगी । वे यशः-कीर्ति के मैदान में दौड़ रहे थे । वे बड़ा क्रान्तिकारी चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे और लोग भी उनके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे ।

उन्होंने विचार प्रस्तुत किये — ‘धर्म रूढ़ियों से बँध गया है । धर्म का निर्मल प्रवाह गंदा हो गया है । बन्धन तोड़ने होंगे । रूढ़ियाँ दफनानी होंगी । आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा । नींव से क्रान्ति करनी होगी....’ उनके इन स्वरो का विरोध भी होने लगा ।

किसी ने उन्हें समझाने के मिस टिप्पणी की — ‘मुनिजी ! यह चिन्तन सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है । जिन्हें आप रूढ़ियाँ कहते हो, उन्हीं नियम-उपनियमों के माध्यम से जीवन में धर्म को मूर्तिमान किया जाता है । वे साधना के अविच्छिन्न अंग हैं । इनके पालन के बिना साधना ओजस्वी नहीं हो सकती है । आपका चिन्तन वक्र है ।’

शीलवान मुनि ने इस बात का खण्डन किया — ‘नियम वे ही हैं—जो धर्म में—धर्म के प्रसार-प्रचार में सहायक हों और जो धर्म की प्रगति में बाधक हैं, वे सब रूढ़ियाँ हैं । इन रूढ़ियों से बँधकर जैन साधु उपाश्रय की चहार-दीवारी में कैद हो गया है । मैं उनसे आह्वान करता हूँ । उन्हें धर्म-प्रचार के लिये खुलकर मैदान में आना चाहिये । समस्त आधुनिक साधनों को उन्हें अपनाना चाहिये ।’

उनका प्रतिवाद भी तीव्रता से हो रहा था ।

शीलवान मुनि को लगा कि बिना चमत्कार के धर्म का प्रचार नहीं हो सकता है । अतः वे मंत्र-साधना की ओर झुके । किन्हीं प्राचीन मुनि के स्मृति-मंदिर में वे साधना करने गये । अब उन्हें विश्व संत बनने की धुन जागी । भारत के बाहर धर्म-प्रचार करने की इच्छा हुई । अतः वे कुंडिलिनी-योग, ध्यान-योग, ज्ञानयोग आदि योगमार्ग की साधना में लगे ।

उनके भक्तों का एक बड़ा झुण्ड हो गया था । वे उन्हें उल्टी-सीधी बातें समझाने लगे — ‘जैनधर्म विश्वधर्म है । आज वह एक कोने में दब गया है — मुनियों की नादानी के कारण । आज विश्व में धर्म-प्रचार की बड़ी आवश्यकता है । क्योंकि भौतिक विज्ञान के प्रवाह में बहता हुआ विश्व आज विनाश के कगार पर खड़ा है । विज्ञान और धर्म में समन्वय साधना होगा । उठ, बंदे ! कस कमर....’

भक्त कहते — ‘आप बिल्कुल ठीक फरमा रहे हैं । हाँ, ऐसा होना ही चाहिये । दुनिया को शान्ति का पैगाम देना ही होगा । पधारिये आप विदेश

में ! ये रूढ़िवादी लोग तो बकते ही रहेंगे । करिये न क्रान्ति ! बजाइये, धर्म-प्रचार का विगुल ! हम आपके साथ में हैं....'

शीलवान मुनि कल्पनालोक में अपने को विश्व-मसीहा के रूप में निहारने लगे । एक दिन वे उड़ चले, विदेश की ओर । फिर तो वे संघ से पूरी तरह कट गये । साधुवेश में रहते हुए भी अधिकांश साध्वाचार का परित्याग कर दिया ।

इसप्रकार शीलवान मुनि की वक्रता रूप माया ने उन्हें मोक्षमार्ग से अति दूर फेंक दिया । इस झेंप को मिटाने के लिये उनका चिन्तन और मोड़ खा गया — 'मार्ग पंथ है । पंथ और धर्म दोनों अलग-अलग हैं । पंथ अशाश्वत् है और धर्म शाश्वत् । पंथ संकुचित होता है और धर्म विशाल....' यों वे उत्सूत्र-प्रतिपादन करके धर्मक्रान्ति का रास्ता साफ करने लग गये ।

स्पष्टीकरण—ये दोनों साधु की माया के उदाहरण हैं । साधु उत्तम कोटि के साधक हैं । माया से धर्महानि का उदाहरण उत्तम कोटि के साधक का देना ही योग्य है । मध्यम और जघन्य कोटि के साधक श्रावक और अव्रती सम्यक दृष्टि होते हैं । ये भी माया से धर्म में हानि करते हैं । वे श्रावकाचार से पतित होकर मिथ्यात्व में जा सकते हैं ।

माया से गति की हीनता—

इत्थि-कीव-तिरियाइं, मायाए होंति देहिणो ।

माया-गइ-पडिग्घाओ, ताए हवीअ थी प्ह ॥९०॥

जीव माया से स्त्री, नपुंसक और तिर्यञ्च हो जाते हैं । (इसप्रकार) माया से गति का प्रतिघात (= अवरोध, विनाश) होता है । इस (माया के) कारण प्रभु (= भगवान मल्लिनाथजी) स्त्री हुए ।

टिप्पण—१. सिद्धान्त-विज्ञ कहते हैं कि छल-कपट से जीव की दुरवस्था होती है । क्योंकि आचार-विचार की उलझी हुई अवस्था है और उलझन

जीव को उन्नत नहीं होने देती है, पीछे-अधोगति में धकेल देती है । २. पुरुष माया से स्त्रीवेद का, स्त्री नपुंसक वेद और नपुंसक तिर्यञ्चगति का बन्ध करते हैं । तिर्यञ्चगति के बन्ध का कारण माया ही है । पुरुष आदि भी माया से तिर्यञ्चगति का बन्ध कर लेते हैं । ३. गति का प्रतिघात अर्थात् विकास का रुकना और पीछे हटना । जैसे कोई गतिशील पदार्थ किसी अवरोध से टकराता है तो उसकी गति रुक जाती है और वह कुछ पीछे लौट जाता है । वैसे ही जीव की गति के प्रतिघात का आशय है कि उसके विकास का अवरुद्ध हो जाना और निम्न गति में जा पड़ना । ४. देहिणो अर्थात् देहधारी जीव । देहधारी तो सभी संसारी जीव होते हैं । अतः इस शब्द से समस्त संसारी जीव ग्रहण हो सकते हैं । यह आशय भी यहाँ लिया जा सकता है । क्योंकि शरीरी जीव ही माया आदि कषाय करते हैं—अशरीरी नहीं । लेकिन यहाँ देही शब्द का विशिष्ट अर्थ लेना उचित है, धनी शब्द के समान । देही अर्थात् विकसित या विकसित होते हुए शरीरवाला । क्योंकि हानि विकास में ही हो सकती है । जहाँ विकास हीनहीं है, वहाँ क्या हानि होगी ? ५. महाबलमुनि ने तपश्चरण में आगे रहने के लिये अपने मित्रों के साथ कपट किया । यद्यपि उनकी क्रिया प्रशस्त थी, फिर भी उसमें माया कषाय का विष घुल गया था । इसलिये उन्हें स्त्रीवेद का बन्ध हुआ । अतः उन्हें इस कर्म का दुष्फल तीर्थकर भव में भी स्त्री होकर भोगना पड़ा । ६. शुभ क्रिया में किया हुआ कषाय कषाय ही है । वह उस शुभ क्रिया को दूषित कर ही देता है । ऐसा ही शुभ उद्देश्य से किये गये कषाय के विषय में भी समझना चाहिये । क्योंकि शुद्ध साध्य के अनुरूप साधन भी शुद्ध ही होना चाहिये ।

उपसंहार और उपदेश—

एवं सुणिज्ज जाणिज्ज, मायं चित्तिज्ज पासह ।

इह-पारत्त-हीणत्तं, करंति अमियं दुहं ॥९१॥

इसप्रकार ऐहिक-पारलौकिक हीनत्व और अमित दुःख करती हुई माया (की हानि) को सुनो, जानो, सोचो और देखो ।

टिप्पण—१. निन्दा, अपयश, मित्रनाश आदि माया से होनेवाली ऐहिक हीनता है और स्त्रीत्व, तिर्यञ्चता आदि की प्राप्ति पारलौकिक हीनता है। २. साधक अपने साधना-गत दोषों को छिपाने के लिये और आलोचना में अपने यश की सुरक्षा के लिये माया करता है तो उसके तीन भव गंहित होते हैं। ३. माया को छिपाने के लिये भी माया होती है और मूषावाद के साथ माया विश्वासघात का रूप भी ले सकती है। जिसका अति निष्कृष्ट फल होता है। ४. माया के कारण जीव घृणापात्र हो जाता है और अन्य हीनता को प्राप्त होता है, तब वह शोक-सागर में निमग्न हो जाता है। वह माया-जनित पाप फल तो भोगता ही है। किन्तु वह माया-वृत्ति भी बनी रहती है, जिससे वह अपने दुःख के कारणों को समझने की बुद्धि भी खो देता है। अतः उसके दुःख की कोई सीमा भी नहीं रहती है। ५. जिन-आगमानुसार माया की हानि को सुनने से अर्थात् जिसने माया के दुष्फलों को भलीभाँति जाना है, उनसे सुनने से माया के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। ६. माया आभ्यन्तर विकार भाव है। शब्दों के द्वारा उसके स्वरूप और उसके द्वारा होनेवाली हानि को पकड़ना एकदम सरल नहीं है। पुनरपि पुनः सुनने से वह भाव ग्रहण होता है। उस भाव को बुद्धि के द्वारा ग्रहण कर लेना ही ज्ञान है। ७. गृहीत भावों के विषय में—उनकी हानि आदि के सम्बन्ध में पुनः उन्हीं भावों को बुद्धि में लाकर विविध दृष्टियों से सोचना चिन्तन है। ८. पुनरपि पुनः माया आदि की हानियों का चिन्तन करके, उस बुद्धि को दृढ़ बनाना पश्यना है। अन्य जीवों में भी माया आदि के दुष्फलों को देखना भी पश्यना है। उसे अनुभव भी कह सकते हैं। ९. माया को माया रूप में सुनने, जानने, सोचने और देखने से वह कुछ न कुछ दुर्बल होती ही है।

माया-चायस्स मग्गम्मि, ण गुणट्ठा वि तं करे ।

सा पावो एव तं चिच्छा, कुज्जा अप्पेरइं बिऊ ॥९२॥

माया के परित्याग के मार्ग में (चलनेवाला साधक) गुण के लिये भी उसे नहीं करे। क्योंकि वह पाप ही है। अतः विज्ञ पुरुष माया का परित्याग करके आत्मा में रति करे।

टिप्पण—१. माया के परित्याग का मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग । क्योंकि माया मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होने देती है । सन्मार्ग को उन्मार्ग बना देती है और जीव को सन्मार्ग पर सीधा नहीं चलने देती है । अतः उसके आंशिक त्याग से जीव मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है । जीव ऋजु होता है, तो मोक्षमार्ग पर शान्ति से चल सकता है । इस दृष्टि से माया-त्याग के उपाय मोक्ष के उपाय ही हैं । २. माया इतनी निगूढ़ रहस्यमयी है कि वह उसके त्याग के उपायों में भी उभर सकती है । ३. माया के दो हेतु—पाने के लिये और दिखाने के लिये । भौतिक पदार्थ, गौरव और गुण — ये तीन प्राप्य हैं । अतः इन तीनों के लिये माया की जा सकती है । दिखाना दो प्रकार का—अपना और पराया । अपना बुरा नहीं, अच्छा दिखाना और दूसरे का अच्छा नहीं, बुरा दिखाना । अपने और पराये के दो-दो भेद व्यक्ति और समूह । अपनी इकाई—स्वयं और स्व-जन । अपना समूह—बाह्य कारणों से जिनमें अपनत्व आरोपित हो ऐसा मानव-समूह । जैसे—जाति, देश आदि । पराई इकाई—अपने या अपनों से भिन्न कोई भी व्यक्ति । पराया समूह—जिनमें अपनत्व न हो ऐसा जन-समूह । जैसे परजाति आदि । इनसे संबन्धित माया भी हो सकती है । ४. समस्त माया करना निषिद्ध है । किन्तु यहाँ गुण-प्राप्ति के लिये माया करने का विशेष रूप से निषेध किया गया है । गुण-प्राप्ति का उद्देश्य शुभ है । लेकिन शुभ उद्देश्य से कृत माया भी प्रशस्त नहीं है । अतः अशुभ उद्देश्य से कृत माया तो अप्रशस्त ही है । ५. शुभ उद्देश्य से की गयी माया भी पाप ही है । पाप जीव को बहिर्मुख बनाता है । अतः वह हेय है । ६. आत्मा में रति अर्थात् आत्म-भाव में रमणता । माया पर-रति का परिणाम है । माया का परित्याग अर्थात् पर-रति की आंशिक निवृत्ति । इससे आत्मरति का प्रारंभ हो सकता है ।

(४) लोभ-हानि-पश्यता

लोभ का दासत्व—

सुहृदो परो लोहो, जीवे णिवो व सासइ ।

त्रिभुवणस्मि घोसेइ, दासा सव्वेवि मे पया ॥९३॥

लोभ परम सुखरूप होकर जीवों को नृप के समान शासित करता है और त्रिभुवन में यह घोषणा करता है कि सभी (जीव) मेरी प्रजा हैं—दास हैं।

टिप्पण—१. जीवों को लोभ, आशा, चाह, आवश्यकता आदि रूप में अति आकर्षक और सुखरूप लगता है। लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—‘आशा अमरघन’ ‘चाह वहाँ राह’, ‘आवश्यकता आविष्कार की जननी है’, ‘माँगोगे तो मिलेगा’ आदि। २. लोभ आकर्षक रूप में अपना साम्राज्य फैलाये हुए है। तीन कषाय तो कदाचित् बुरे लग सकते हैं। किन्तु अनेक सुखमुद्राओं को धारण करके लोभ इतना आकर्षक, सुमधुर और इष्ट लगता है कि लोभ की बुराइयों के ज्ञाता भी ‘यह लोभ का ही रूप है’—यह बात ही भूल जाते हैं। ३. लोभ एक ऐसा शासक है, जो अपनी प्रजा को एक ऐसे मधुर नशे में डाल देता है कि प्रजा—जीव ‘हम लोभ के समक्ष अदने दास से अधिक नहीं हैं’—यह समझ ही नहीं पाते हैं। ४. लोभ के वश में पड़ा हुआ जीव सबका दास होता है।

अन्य हानियाँ—

नच्चावेइ जगे लोहो, भमाडेइ इओ तओ ।

छुडावेइ कुडुं बिणो, भुक्खतिण्हाहि तावइ ॥९४॥

लोभ (जीवों) को जगत में नचाता है, इधर-उधर भटकाता है, कुटुम्बियों को छुड़ा देता है और भूख एवं प्यास से संतप्त करता है।

टिप्पण—१. नचाने के तीन अर्थ—अभिनय-नाटक करवाना, दाव करवाना-लगवाना, विविध शारीरिक चेष्टाएँ करवाना। चौथा अर्थ नृत्य करवाना प्रसिद्ध ही है। यहाँ चारों अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। २. लोभ के वश में पड़ा हुआ जीव कई प्रकार के नाटक करता है। परवश होकर नाटक करना हीनता का सूचक है। लोभ के कारण जीव अनेक दाव-पेंच

करता है और शारीरिक कुचेष्टाएँ भी करता है। ३. भटकाने के दो अर्थ—देश-विदेश, अच्छे-बुरे स्थान आदि में भ्रमण करवाना और भवों में परि-भ्रमण करवाना। दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। ४. कुटुम्ब का छुड़वाना दो कारण से होता है—धनार्जन के लिये कुटुम्ब से दूर करना और स्वार्थ में बाधा पड़ने पर कुटुम्ब का परित्याग करवाना। ६. भूख, प्यास आदि शारीरिक कष्ट भी लोभ के वश जीव सहन करता है। 'भूख-प्यास' शब्द से गर्मी, सर्दी आदि सभी प्रतिकूलताएँ, दुःख और वेदनाओं को ग्रहण कर लेना चाहिये। जीव लोभ में मारणान्तिक कष्ट तक सहन करता है। मानव धनार्जन के अर्थ—पुरुषार्थ के नाम पर विपरीत आचरण से अनेक रोगों का शिकार हो जाता है।

लोभ से उत्तम भाव का नाश और अशुभ भावों का उत्पादन—

संतोसं च सुहं संति, हरइ गुण-नासणो ।

लोहो करेइ दोसे वि, पावाण जणगो हु सो ॥९५॥

लोभ संतोष, सुख और शान्ति का अपहरण करता है, क्योंकि (वह) गुणों का नाशक है और (वह) (क्रोध आदि अनेक) दोषों को (उत्पन्न) करता है, क्योंकि वह पापों का जनक है।

टिप्पण—१. लोभ प्रमुख रूप से संतोष और शान्ति का नाश करता है। २. 'सुह' शब्द के दो अर्थ—सुख और शुभ। यहाँ दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। ३. संतोष आदि के सिवाय लोभ समस्त सदगुणों का नाश करता है। ४. लोभ दुर्गुणों का उत्पादक भी है। लोभी अठारहों पापों में प्रवृत्त हो सकता है। ५. लोकभाषा में लोभ को पाप का बाप कहा है।

लोभ से दुष्कर्म में प्रवृत्ति—

लोहेण पेरिया जीवा, दुट्ठं कम्मं करंति हि ।

ते किं कज्जं ण कुव्वंति, जे उ तेण विमोहिंया ॥९६॥

लोभ से प्रेरित जीव निश्चय ही दुष्ट कर्म करने लग जाते हैं। जो भी उससे विमोहित होते हैं, वे क्या कार्य नहीं करते हैं ?

टिप्पण—१. गाथा ९३, ९४ और ९५ में प्रमुख रूप से आभ्यन्तर हानियाँ—परवशता, विडम्बना, वियोग, दुःख-प्राप्ति, गूण-नाश, दुर्गुण-उत्पादन आदि हानियों को गिनाया। अब इस गाथा से लोभ के निमित्त से बाह्य क्रिया-जन्य हानियों का वर्णन किया जा रहा है। २. इस गाथा में लोभ-प्रेरित सामान्य अशुभ क्रिया का निर्देश किया है और लोभ से दिग्-भ्रमित के लिये किसी भी कोटि का दुष्कर्म अकरणीय नहीं होता है अर्थात् लोभी जीव समाज-द्रोह, देश-द्रोह, संघ-विभेद, विश्वसित-वंचन, चौर्य-कर्म, व्यभिचार, प्राणिघात, भ्रष्टाचार आदि कोई भी निष्कृष्ट दुष्कार्य कर सकता है। ३. लोभ से बुद्धि की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतः शुभ-अशुभ का विवेक ही लुप्त हो जाता है। फिर तो दुष्कर्म स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है।

लोभी का अपना कोई नहीं—लोभ में स्व-पर में शत्रुता—

ण लोहिणो पियो कोई, ण मित्तं ण कुडुं बिणो ।

णेव पुत्त-कलकत्ताइं रिऊ हि अप्पणो वि सो ॥९७॥

लोभी के (मन में) कोई प्रिय नहीं होता है। उसको न कोई मित्र, न सगा-सनेही या कुटुम्बी और न ही स्त्री-पुत्र होते हैं। वस्तुतः वह अपना भी शत्रु होता है।

टिप्पण—१. लोभी का मानदण्ड परिग्रह ही होता है। अतः उसके सिवाय अन्य कोई प्रिय नहीं होता है। २. लोभी का आराध्यदेव लोभ ही होता है। इसलिये वह उसके लिये सब कुछ समर्पण कर सकता है। उसके लिये कोई भी सम्बन्ध महत्वपूर्ण नहीं है। वह लोभ में मित्र के साथ विश्वास-घात कर सकता है। कुटुम्बियों से नाता तोड़ सकता है और पिता, पुत्र

आदि से वैर कर लेता है । ३. वह अपने आपको भी खान-पान, सुख-सुविधा आदि से वंचित कर लेता है । अपने प्रति मानों आप ही शत्रु हो—ऐसा व्यवहार करने लग जाता है । लोभ में जीव मृत्यु की भी परवाह नहीं करता है । ४. लोभ में दुष्कर्म करने के कारण वह दुर्गति में जाता है । अतः इस दृष्टि से भी वह अपना शत्रु ही बनता है । इसप्रकार वह अपने आपका भी नहीं होता है । जैसे वह किसी का नहीं बन सकता है, वैसे ही उसका भी कोई नहीं बन पाता है । ५. इस गाथा में तीन प्रकार के सम्बन्धों के प्रति और अपने आपके प्रति बेपरवाही का वर्णन है । मानषिक सम्बन्ध दो—प्रियता और मैत्री । देहजन्य सम्बन्ध दो—कौटुम्बिक और अपत्य-सम्बन्धी और भोगजन्य सम्बन्ध एक—पत्नी या पति से सम्बन्धित ।

लोभी न माने सम्बन्ध सगाई

दो भाई अपनी पूज्य माँ और प्रिय बहिन को छोड़कर, विदेश में धनार्जन के लिये गये । एक नगर में डेरा जमाया । खूब श्रम किया और काफी सम्पत्ति अर्जित की । वे धन को स्वर्णमुद्राओं में परिणत करके अपनी जन्मभूमि की ओर चल पड़े । उन्होंने स्वर्णमुद्राओं को एक नौली में भर लिया था । क्रमशः पारी के अनुसार नौली को सुरक्षित रूप से अपनी-अपनी कमर में बाँधकर चल रहे थे । उन्हें अपार हर्ष हो रहा था ।

वे अपने नगर के समीप पहुँचे । वहाँ एक ग्राम था । वे नदी के किनारे आम्रवृक्ष के नीचे ठहर गये और भोजन की व्यवस्था करने लगे । नदी भी पास में ही बह रही थी । हरा-भरा प्रदेश था । प्रकृति की छटा मन को लुभा रही थी । बड़े भाई ने छोटे भाई को किसी काम से गाँव में भेजा । छोटे भाई के मन में आया — ‘बड़े भाई को मारकर मैं ही सब मुद्राएँ क्यों न ले लूँ ।’ बड़े भाई ने भी सोचा ‘दो भाग करने होंगे—धन के । यदि मैं छोटे भाई को मार डालूँ तो यहाँ कौन देखनेवाला है । तब तो सब धन मेरा हो जायेगा ।’

छोटा भाई ग्राम की ओर से आ रहा था । वह इसी उधेड़बुन में लगा हुआ था कि मैं भाई को कैसे मारूँ ? उसने देखा कि उसके बड़े भ्राता उसकी

प्रतीक्षा कर रहे हैं। उसके मन ने पलटा खाया—‘क्या ऐसे वत्सल-पिता के तुल्य पूजनीय बड़े भाई को मार डालूं ? किसलिये ? इन सोने के टुकड़ों के लिए ? क्या ये इन पूज्य से भी विशेष हैं....’

ज्यों-ज्यों वह समीप पहुँच रहा था, त्यों-त्यों उसका पश्चाताप तीव्र होता जा रहा था। जैसे ही उसके समीप पहुँचा, वैसे ही वह छोटा भाई बड़े भाई के चरणों में गिर पड़ा और जोर-जोर से रोने लगा। बड़ा भाई उसे मारना चाह रहा था। परन्तु उसे रोते हुए देखकर वह विचार में पड़ गया। उसका हृदय भी दुःखी होने लगा। उसने भाई के मस्तक पर हाथ फिराते हुए पूछा — “क्यों रो रहे हो ? क्या हुआ ? कहो तो सही।”

छोटा भाई रोते-रोते बोला — “मुझे माफ करो ! मैं हत्यारा हूँ ! पापी हूँ। आपको मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ !” बड़े भाई ने अनायास ही उसके सिर को ऊपर उठाते हुए कहा — “मैं समझा नहीं। क्यों रो रहे हो ? तुमने मेरा क्या अपराध किया है, जो तुम्हें माफ करूँ ?” छोटे भाई ने अपने मन में उठी हुई बात कह सुनाई और वह पुनः पुनः क्षमा-याचना करने लगा।

अब तो बड़े भाई के भी पश्चाताप का पार न रहा। वह सोचने लगा — ‘ऐसे विनीत भाई को मारने के लिये उद्यत हुआ मैं ? धिक्कार है मुझे....’ वह भाई के आँसू पोंछते हुए बोला — “तुम भी मुझे माफ करो, भैया ! मेरे मन में भी ऐसे कुविचार आये थे। इस अनर्थ की जड़ यह धन ही है....” फिर उसने यह कहते हुए उस नौली को नदी में फेंक दिया कि — “इस अनर्थ की जड़ का क्या प्रयोजन, जो भाई-भाई में वैर कराती है। सचमुच में लोभ दुःखदायी है।”

छोटे भाई को धन नदी में फेंके जाने पर, कुछ भी रंज नहीं हुआ। उसने कहा — “अच्छा किया, भाई ! आपने अनर्थ की जड़ ही काट दी।”

वे दोनों घर पहुँचे। माता और बहिन बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने दोनों भाइयों का स्वागत किया। विशेष रूप से भोजन बनाया जा रहा था। बहिन मच्छीमार के यहाँ से खरीदकर एक बड़ी मच्छी लायी। वह रसोई-

घर के बाहर बैठकर मच्छी पर शस्त्र प्रयोग कर रही थी। माँ रसोईघर में कार्य कर रही थी।

बहिन के द्वारा मच्छी का पेट विदीर्ण करने पर बर्तन में खन-खन करती हुई आवाज हुई। उसने देखा कि स्वर्ण मुद्रा है वह। उसने उसे कंचुकी में दबा ली। तभी मच्छी के उदर से और भी मुद्राएँ गिरिं। वह उन्हें बीन-बीनकर कंचुकी में दबाती जा रही थी। माँ का ध्यान उस ओर गया। उसने बेटी की चालाकी जानली। अतः उसने पूछा — “क्या है ?” बेटी ने बात दबायी — “कुछ नहीं।”

माता को बेटी के छल पर बड़ा क्रोध आया। उसने हाथ में जलती हुई लकड़ी उठायी और वह उसे मारने के लिये दौड़ती हुई बोली—“झूठी कहीं की ! बात दबाती है ! सोने की अकेली ही मालकिन बनना चाहती है !” वह बेटी के पास पहुँच गयी। उसने जलती हुई लकड़ी का बेटी पर प्रहार किया। उसे मर्म स्थान पर चोट लगी। वह तिलमिला उठी। उसने जोर-से चिल्लाते हुए—“तू भी लेती जा !” कहकर छुरी फेंकी। वह सीधी जाकर माता के हृदय में घुस गयी। “हाय बाप रे !”—कहती हुई दोनों एक साथ लुढ़क गयी। दोनों ने तड़पते हुए प्राण त्याग दिये।

दोनों भाई चिल्लाहट सुनकर भीतर आये। वे यह दृश्य देखकर स्तब्ध रह गये। वे इसका कारण जानने के लिये इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा कि जिस नौली को नदी में फेंका गया था, वह मत्स्य के उदर में दिखाई दे रही है। उन्हें माता और बहिन की पारस्परिक हत्या का कारण समझते देर नहीं लगी। बड़ा भाई दुःख भरे स्वर में बोला—“अहा ! इस डाइन को हम पानी में फेंक आये। परन्तु इसने यहाँ आकर अपनी माता और बहिन को ही खा डाला।”

छोटे भाई को यह दृश्य देखकर अत्यन्त विरक्ति हुई। वह उद्वेग से बोला—“लोभी ना माने-ना माने प्रेम-सगाई !”

इस प्रकार लोभ से सब नाते टूट जाते हैं ।

लोभ से प्रामाणिकता और धर्म का नाश—

सेट्टिणो दस्सुया होंति, उक्कोचिया उ कम्मगा ।

धम्मिणोऽधम्मिया होंति, लोहो दोसो दुरंतओ ॥९८॥

(लोभ के कारण) श्रेष्ठी दस्यु-लुटेरे हो जाते हैं । कर्मचारी रिश्वत खोर हो जाते हैं और धार्मिक जन अधार्मिक हो जाते हैं । अहो' लोभ दुरन्त दोष है ।

टिप्पण—१. 'श्रेष्ठी' शब्द से वे सभी जन गृहीत हो जाते हैं, जो आजीविका के लिये स्वाश्रित कार्य करते हैं । वे स्वयं संस्थापक और व्यवस्थापक भी हो सकते हैं । वे व्यक्ति रूप में या एक वर्ग रूप में भी हो सकते हैं । श्रेष्ठी अर्थात् श्रेष्ठ या सज्जन व्यक्ति । २. 'दस्यु' अर्थात् डाकू । श्रेष्ठी लोभ में डाकू बन सकता है । इस शब्द से कूट तोल-कूट-माप, मिलावट, न्यासापहार आदि भी ग्रहण कर लेने चाहिये । ये सभी कार्य दुर्जनता रूप ही हैं । लोभ में श्रेष्ठता के त्याग में मनुष्य को अनौचित्य नहीं लगता । ३. कर्मक अर्थात् कार्यकर्ता—कर्मचारी, वेतन से कार्य करनेवाले मनुष्य । कर्मक वैयक्तिक भी हो सकता है और किसी व्यवस्था के अधीन भी । व्यवस्था प्रमुख रूप से चार प्रकार की हो सकती है—शासनिक, सामाजिक, सहकारी और सांघिक । शासनिक व्यवस्था के प्रमुख रूप से तीन भेद—सत्तारूप, पौरजनरूप और पंचायतरूप । इन व्यवस्थाओं के अधीन रहकर आजीविका करनेवाला कर्मचारी भी कर्मक है । ४. उत्कोच = घूस, रिश्वत । व्यवस्थागत नियमों को भंग करके अनुचित रूप से धन प्राप्त करना—उत्कोच शब्द से गृहीत है । ५. 'धर्म' शब्द से नैतिकता और पारलौकिक आराधकता दोनों को ग्रहण करना चाहिये । ६. दुरन्त = बड़ी कठिनाई से विनष्ट होनेवाला । लोभ को यदि घटाया नहीं जाता है तो वह और दुरन्त होता जाता है । अथवा दुरन्त अर्थात् बुरे अन्त-

वाला । लोभ बुरे अन्त या खराब परिणामवाला ही है । क्योंकि वह भले जनों की भलाई को—सज्जनों की सज्जनता को नष्ट ही करता है । इस शब्द के 'क' प्रत्यय लगाकर लोभ की अत्यन्त हीनता को सूचित किया है । लोभ से प्रिय की घात—

लोहा सूरियकंताए धम्मी पई हु मारिओ ।

हिय-चिंतअ-रूवोत्ति, लोहो बंचइ जंतुणो ॥९९॥

लोभ के कारण रानी सूर्यकान्ता के द्वारा धर्मी पति मारा गया । हित-चिन्तक के रूप में लोभ जीवों को ठगता है ।

टिप्पण—१. लोभ अपना रूप पलटता है । वह जगत, समाज, देश आदि की हितचिन्ता के रूप में भी उदित हो सकता है । २. रूप बदलकर प्रविष्ट लोभ अधिक भयावह होता है । क्योंकि उससे जीव छला जाता है । वह उससे प्रेरित होकर अनर्थ को भी एक पावन कर्तव्य के रूप में समझने लगता है । ३. राजा पएसी जब नास्तिक से आस्तिक / श्रमणोपासक बन गया, तब उसकी महारानी सूर्यकान्ता को वह राज्य के लिये अहितकर प्रतीत हुआ । अतः उसने उसका अंत कर दिया ।

लोभ से परलोक की हानि—

चइऊण सुरा होति, एगिंदिया-त्ति तव्वसा ।

णरा वि जत्थ आसत्ता, तत्थुप्पज्जंति मूढणा ॥१००॥

उस (आसक्ति रूप लोभ) के वश में पड़े हुए देव (देवत्व से) व्यवहार एकेन्द्रिय (के रूप में) हो जाते हैं और मनुष्य भी जहाँ आसक्त होते हैं, वहाँ वे (लोभ के वश में) मूढ़ (बने हुए) उत्पन्न हो जाते हैं ।

टिप्पण—१. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और दूसरे देवलोक तक के वैमानिक देव अपने आभूषणों वाक्छियों आदि में आसक्त हो जाते हैं ।

वे देवगति के सुख को छोड़ना नहीं चाहते हैं। अतः वे देव-सौख्य में लुब्ध होने के कारण पृथ्वी, पानी और वनस्पति के रूप में पैदा हो जाते हैं। २. मनुष्यों की भी ऐसी ही दशा होती है। वे जहाँ आसक्त होते हैं, क्वचित् वहीं पैदा हो जाते हैं। ३. दो श्रेष्ठ गतिवाले जीवों की ऐसी दशा है, तब तिर्यञ्चों के लिये तो कहना ही क्या? यद्यपि तिर्यञ्च गति में लोभ की अति विपुलता प्रतीत नहीं होती, तदपि लोभ की मात्रा और आसक्ति आदि उनमें भी होती ही है। अतः वे भी लोभवशात् पञ्चेन्द्रियत्व आदि उच्च दशा से पतित हो सकते हैं। फिर भी एकेन्द्रियादि रूप तिर्यञ्च गति और नरक गति तो अपने आप में हीन गतियाँ ही हैं। इन गतियों से निकले हुए जीव लोभ के कारण अगली गति में अल्प साधनवाले हो सकते हैं।

राजा आसक्ति से कीड़ा हुआ

एक राजा अपने गुरु के सन्मुख बैठा था। गुरु बार-बार उसके मुख की ओर देख रहे थे। उसने इसका रहस्य जानने की इच्छा प्रकट की। गुरु ने कहा—“इसका रहस्य जानकर तुझे दुःख होगा।” राजा ने रहस्य जानने की हठ की। तब गुरु ने कहा—“अब तेरा आयुष्य कुछ ही दिन का है।”

यह बात जानकर राजा को कुछ आघात हुआ। उसने पूछा—“सच, कितने दिन बाद मेरा अन्त होगा? कैसे होगा?” गुरु ने कालावधि और मृत्यु का हेतु भी बता दिया।

राजा कुछ देर मौन रहा। फिर अपने मन को दृढ़ करके बोला—“गुरुदेव! यह तो एक ध्रुव सत्य है कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा। कोई जल्दी तो कोई देर से। पर मेरी एक जिज्ञासा और है। मैं मरकर कहाँ जन्म लूँगा?”

“राजन्! इतना भेद जानना ही पर्याप्त है। आगे का रहस्य जानने में कोई सार नहीं है!” राजा जिद के स्वर में बोला—“गुरुदेव! गुरुदेव!! आपको आगे रहस्य बताना ही होगा।”

“तू नहीं मानता है तो सुनले—अपनी छाती मजबूत करके। तू अपनी रानी के मलकूप में रंग-बिरंगे कीड़े के रूप में पैदा होगा।”

यह बात सुनकर राजा की दशा खजूर के पेड़ से गिरे हुए मनुष्य जैसी हो गयी। वह भयभीत-सा क्रन्दन के स्वर में बोला—“भगवन् ! मैं राजा.... मैं राजाSS....मेरी ही महारानी के मल में कीड़े के रूप में पैदा होऊँगा !”

“होनी को कौन रोक सकता है, राजन् !” “मैं आपका भक्त....”

“राजन् ! अपने हृदय को टटोलो !”

राजा का मुख एकदम श्याम हो गया। वह भारी मन से उठ रहा था। उसके हृदय में एक विचार कौंध गया। उसने गुरु के समक्ष ही अपने मंत्री से कहा—“मंत्रीजी ! आपने सब बात सुन ही ली है। मैं आप से एक निवेदन करना चाहता हूँ। बोलो, जो मैं कहूँगा वह करोगे !”

“कहिये राजन् ! मुझसे शक्य होगा वह मैं अवश्य करूँगा।” मंत्री ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—

राजा कह रहा था—“मंत्रीवर्य ! गुरुदेव जानी हैं। उनके वचन अन्यथा नहीं हो सकते हैं। मरकर कुछ समय बाद मुझे मलकूप में कीड़े के रूप में पैदा होना ही पड़ेगा। किन्तु आप एक काम करना। मुझे पैदा होते ही मरवा डालना, जिससे मैं उस पाप-योनि से मुक्त हो जाऊँ। मुझे वचन दो, मंत्रीजी !” मंत्री ने वचन दिया।

यथासमय राजा की मृत्यु हुई। उस मलकूप के आसपास सैनिकों को नियुक्त कर दिया गया। कुछ घण्टों बाद उस मलकूप में एक रंग-बिरंगा कीड़ा प्रकट हुआ। मंत्री के आदेशानुसार सैनिकों ने उस कीड़े को मारने का प्रयत्न किया। किन्तु वह कीड़ा कहीं छिप गया। अति प्रयत्न करने पर भी वह पकड़ में नहीं आया। सैनिक हैरान हो गये। मंत्री भी वहाँ खड़ा-खड़ा थक गया।

मंत्री ने आकर गरुदेव से निवेदन किया। तब गुरुजी ने कहा—
“मंत्रीजी ! अब रहने भी दीजिये। राजा अपनी महारानी के शरीर में अति आसक्त था। अतः वह मरकर उसके मलकूप में पैदा हुआ है। अब उसे वहीं सुख है। वह आपके प्रयत्न से नहीं मरेगा।”

इस प्रकार भोग-लालसा से भव-हानि होती है।

रस-लालसा से चरित्र और भव की हानि—

रसगिद्धी वि लोहंसा, वंचइ मंगु-आरियं ।

हा ! गुणसिहरारूढं, लोहो पाडेइ भूयले ॥१०१॥

लोभ की अंशरूपा रसगृद्धी ने आर्य मंगु (आचार्य) को छल लिया।
हा ! लोभ गुण-शिखर पर आरूढ़ (जीव) को भूमि-तल (मिथ्यात्व गुणस्थान) पर ला पटकता है।

टिप्पण—१. रसगृद्धि—जिह्वा की लोलुपता। शेष चारों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति भी लोभ के अंश रूप ही है। २. रसासक्ति भी वंचना करती है। रस की लालसा सामान्य-सी बात प्रतीत होती है। किन्तु वह अति भयंकर दोष है। ३. रस-लोलुपता साधारण-सा दोष लगने के कारण और संयमियों के द्वारा इसका सरलता से सेवन किये जाने के कारण पाँचों विषयों की आसक्ति में इसे प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। ४. उत्कृष्ट संयमी, ज्ञानी और ध्यानी में गिने जाते हुए भी इस दोष का सेवन किया जा सकता है। ५. आर्य मंगु एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। जो रसासक्ति के कारण शिथिलाचारी हो गये और कालधर्म पाकर व्यन्तरदेव हुए। फिर उस देव ने अपने पूर्व-पर्याय के शिष्यों को प्रतिबोध दिया। ६. रसलोलुपता के सदृश किसी भी विषय की लोलुपता से जीव पतित हो सकता है। ७. गुणशिखर अर्थात् गुणों का उच्चतर स्तर। गुण के दो अर्थ—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक गुणों के ज्ञान, विज्ञान, विद्वता, नैतिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, जातीय आदि अनेक भेद हो सकते हैं। लोकोत्तर गुण

के दो भेद—आचारगत और गुणस्थान = आरोहण । इन गुणों की सम्पन्नता गुणशिखरारूढ़ता है । ८. लोभ का जिस स्तर तक वश चलता है, वहाँ से वह गुणी आत्मा को गुण से पतित कर देता है । ९. भूतल के दो अर्थ—निम्न क्षेत्र अर्थात् अधोलोक—सातवीं नरक तक और अधम-अवस्था । अधम-अवस्था के तीन रूप—दुर्जनता, दुर्भव = नरक, निगोद आदि और मिथ्यात्व गुणस्थान ।

उपसंहार और चेतावनी—

एवं सुणिज्ज जाणिज्ज, लोभं चित्तिज्ज पासह ।

इह-पारत्त-हीणत्तं, करतं अमियं दुहं ॥१०२॥

इसप्रकार ऐहिक और पारलौकिक हीनत्व और असीमित दुःख (उत्पन्न) करते हुए लोभ (से होनेवाली दुर्दशा) को सुनो, जानो, सोचो और देखो ।

टिप्पण—१. लोभ के कारण स्नेह-सम्बन्धों का टूटना, नैतिकता का ह्रास होना, समाज-देशादि को हानि पहुँचाना आदि इहलौकिक हानियाँ हैं और नरक आदि दुर्गति में जाना अगले भव में दरिद्रता पाना आदि पारलौकिक हानि हैं । २. लोभ से चरित्रनाश या पंचाचार से भ्रष्टता से उभय लोक में हानि होती है । संतोष के नाश से आत्मिक हानि होती है और मोक्ष का द्वार अवरूढ़ होता है । ३. लोभ के स्वरूप और उससे होनेवाली हानियों को सुनने से उसकी हेयता का ज्ञान होता है । उसकी हेयता को जानने से उसकी दुःखरूपता का पुनः-पुनः चिन्तन होता है और चिन्तन से उसे छेदने की तीव्र दृष्टि उत्पन्न होती है । ४. श्रवण बाह्य है और ज्ञान, चिन्तन और पश्यना आभ्यन्तर हैं । ज्ञान और चिन्तन पराभिमुख और आत्माभिमुख दोनों प्रकार का होता है । परन्तु अपने में दोषवृत्ति (लोभ आदि) को जानने और सोचने के लिये उन्हें आत्माभिमुख बनाना परम आवश्यक है । पश्यना तो आत्माभिमुखा ही होती है । पर के प्रसंग, उदाहरण

आदि से कृपायों की हानि का प्रेक्षण भी आत्माभिमुख वृत्ति से ही होता है ।
 ५. अपने आपको सुनाई दे-इसप्रकार आत्मा का अनुशासन करना भी श्रवण का एक रूप है । आत्मानुशासन के रूप में चिन्तन भी किया जाता है । आज की भाषा में इसे आत्म-सूचन कहा जाता है । ६. लोभ का प्रकरण होने से श्रवण आदि चारों अंगों को उससे संयोजित किया गया है ।

णेहं नीइं मइं धम्मं, लोयं नासइ सो रिउ ।

‘महासत्तू’-जिणा बित्ति-‘लोहो सव्व-विणासणो’ ॥१०३॥

जो स्नेह, नीति, बुद्धि, धर्म और लोक (में से एक) का (भी) नाश करता है, वह शत्रु है । किन्तु जिनेश्वरदेव कहते हैं कि —‘लोभ महाशत्रु है, क्योंकि वह सर्व विनाशक है ।’

टिप्पण—१. ‘जिन’ शब्द बहुवचन है । अतः उससे त्रैकालिक समस्त जिनेश्वर देवों का ग्रहण होता है । २. लोभ सर्व-विनाशक है—यह त्रैकालिक सत्य है । ३. लोक अर्थात् इहभव, परभव और तदुभय भव या लम्बी भवपरम्परा ।

हियमिसेण लोगस्स, मुणी कयाइ चुक्कइ ।

चुक्कावेइ गुरुं सड्ढा, लोह-माहण्ण केरिसं ॥१०४॥

लोक के हित के बहाने कदाचित् (कोई) मुनि चूक जाते हैं और श्रद्धालु जन भी गुरु से चूक करवाते हैं । यह लोभ का कैसा माहत्म्य है ।

टिप्पण—१. त्यागी मुनि लोक-हित के बहाने लोभ में पड़ जाते हैं । अनुकम्पा, संस्था, उपकार, धर्म-प्रचार आदि आकर्षक संज्ञाओं के तले मुनि परिग्रही बन जाता है । २. लोक-हित की संज्ञा प्रदान कर देने के कारण लोभ-जनित कार्य दोष रूप लगता ही नहीं है । उसी के साथ सुखशीलियापन

साधना में आ घुसता है। ३. श्रावक तो पाँचवें व्रत में परिग्रह की मर्यादा करता है। किन्तु लोक-कल्याण के प्रेमियों (मुनि साधकों) में मर्यादा का प्रश्न ही नहीं उठता है। 'कौन अधिक दान देगा'—इस बात का गणित चलता ही रहेगा। ४. तथाकथित लोक-कल्याण में बाधक जन मूढ़, मूर्ख, अज्ञानी, समय की गति को नहीं पहचाननेवाला आदि रूप में प्रतीत होने लगता है। ५. ऐसे लोक-पूजित महापुरुष धर्म को आमूल-चूल बदलने का बीड़ा उठा लेते हैं। उनकी ओर से महाव्रतों की परिभाषा ही परिवर्तित होने लगती है। ६. लोक-कल्याण, लोक-संग्रह, शासन-प्रभावना आदि के मिस लोकैषणा रूप लोभांश में फँस जाते हैं और धर्म से स्खलित हो जाते हैं। ७. वैसे ही भक्तजन अपने ऐहिक सुख की लालसा में अपने गरुजनों को मंत्र, तंत्र, चमत्कार आदि की ओर प्रेरित करके उन्हें योगभ्रष्ट कर देते हैं।

(५) तीसरे द्वार का उपसंहार

विविहाए य दिदृठीए, वित्थरेण हु साहणा !

कसायाणेह—पारत्तं, फलं मुणह पासह ॥१०५॥

और भी विविध दृष्टि से, हे साधको ! कषायों के ऐहिक और पार-लौकिक फल को विस्तार-पूर्वक निश्चय ही जानो और देखो।

टिप्पण—१. इस द्वार में कषायों की हानि-पश्यना उदाहरणस्वरूप ही प्रस्तुत की गयी है। इनके सिवाय अन्य दृष्टियों से भी कषायों की हानि-पश्यना की जा सकती है। अतः साधक अपनी दृष्टि को परमार्जित करते हुए इस विषय में अन्य रूप से भी चिन्तन कर सकते हैं। २. अन्य दृष्टि के दो अर्थ—अध्यात्म-दृष्टि और अध्यात्मेतर-दृष्टि। 'य' शब्द से अध्यात्म-दृष्टि में भी अन्य अवान्तर दृष्टियों का ग्रहण होता है और 'विविह' शब्द से अध्यात्मेतर दृष्टियों का ग्रहण होता है। ३. अन्य आध्यात्मिक दृष्टियाँ अर्थात् प्रस्तुत वर्णन में जिन दृष्टि-बिंदुओं से कषाय की हानि-पश्यना हुई

है, उनके सिवाय अन्य दृष्टि-बिंदुओं का आविर्भाव साधक जन कर सकते हैं। ४. अध्यात्मेतर दृष्टियाँ अर्थात् दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक आदि प्राचीन-नवीन विज्ञान आदि के ज्ञाता विबुध साधक उन-उन दृष्टियों से भी कषाय की हानि का चिन्तन कर सकते हैं। ५. दोनों प्रकार की दृष्टियों में प्रधानता आध्यात्मिक-दृष्टि की ही होना चाहिये। क्योंकि अन्य दृष्टियों से ये दोष उपादेय भी सिद्ध किये जा सकते हैं। इनमें उपादेय-बुद्धि बन जाने पर ये दुर्बल नहीं हो पायेंगे। अतः दृष्टि भी सम्यक् नहीं रह पायेगी और ये दोष प्रयोज्य हो जायेंगे। ६. फल का अर्थ यहाँ पर हानि ही समझना चाहिये।

ताए लेसा पसत्था य, अज्झवसाणयं दढं ।

विवागावाय-धम्माइं, होति कसाय-मंदया ॥१०६॥

उस (हानि-पश्यना) से लेश्या प्रशस्त, (प्रशस्त) अध्यवसाय दृढ़ और विपाक तथा अपाय विचय धर्मध्यान होते हैं। (अतः) कषाय की मन्दता होती है।

टिप्पण—१. कषायों की हानि-पश्यना से उनमें रसवृत्ति समाप्त होने लगती है तथा आत्मनिंदा के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। जिससे अधर्म लेश्याओं का क्रमशः अभाव होने लगता है। २. जब अप्रशस्त लेश्या खत्म होती है और प्रशस्त लेश्या का उदय होता है, तब शुभ परिणामों की धारा निरन्तर प्रवहमान होती है। जिससे शुभ परिणाम स्थिर और दृढ़ होने लगते हैं। ३. कषायों के दोष-दर्शन से अपायविचय और उनके दुष्फलों के चिन्तन से विपाकविचय नामक दो प्रकार के धर्म-ध्यानों की सिद्धि होती है। ४. तथारूप प्रशस्त लेश्या, शुभ दृढ़ अध्यवसाय और धर्मध्यान से कषाय अवश्यमेव दुर्बल होते हैं।

४. हेयत्व-पर्ययना-द्वार

कषाय छोड़ने योग्य हैं—

तेहिं हाणिं तु पासिज्जा, ते णच्चा दुह-कारणा ।

जहियव्वा कसाया ते, इत्थ ण कोइ संसओ ॥१०७॥

उन (कषायों) से हानि को देखो । अतः उन्हें दुःख के कारण जानकर—
'वे छोड़ने योग्य हैं'—इसमें कोई संशय नहीं है—(यह देखो) ।

टिप्पण—१. हानि-कारक पदार्थ या जन छोड़ने योग्य होता है ।
२. कषाय-हानिकारक भाव है । ३. जो हानिकारक होता है, वह दुःख का हेतु होता है । दुःख के कारण भी छोड़ने योग्य हैं । ४. अतः कषाय भी छोड़ने योग्य है । ५. कषायों में चैतन्यरूपता प्रतीत होती हैं । अतः उन्हें हेय मानने में संशय हो सकता है । उस संशय के निवारण की इस गाथा में प्रेरणा दी गयी है । ६. यहाँ 'तु' शब्द द्वार-परिवर्तन का सूचक है ।

कषाय हेय अर्थात् घृणा के योग्य है—

देहमलं च तज्जायं, गेज्झं णरो ण मण्णइ ।

जीवजायं कसायं पि, मण्णेज्जा हु दुगुंछियं ॥१०८॥

और देह के मल को, उससे उत्पन्न होने पर भी, मनुष्य ग्रहण करने योग्य नहीं मानता है, (प्रत्युत घृणित मानता है), वैसे जीव से जन्य (होने से) कषाय को भी (ग्राह्य नहीं, किन्तु) निश्चित रूप से घृणा के योग्य मानना चाहिये ।

टिप्पण—१. हेय शब्द का दूसरा अर्थ—घृणा के योग्य है । इस गाथा में इसी आशय को स्पष्ट किया है । २. आँख, कान, नाक आदि का मैल और विष्ठा अपने ही देह से उत्पन्न होते हैं । परन्तु इतने मात्र से वे ग्राह्य

नहीं हो जाते हैं। क्योंकि ग्रहण के योग्य उनका स्वभाव ही नहीं है। वस्तुतः वे देह में रुककर पीड़ा करते हैं। ३. वैसे ही कषाय जड़ में नहीं, जीव में ही पैदा होता है। किन्तु जीव-जनित होने मात्र से वह उपादेय नहीं हो सकता है। मल तो देह में रुकने पर पीड़ा करता है, परन्तु कषाय तो उदय मात्र से जीव को पीड़ित करता है। ४. मल देह का स्वाभाविक अंश नहीं है। वैसे ही कषाय भी जीव का स्वाभाविक अंश नहीं है। ५. मल घृणित होता है, वैसे ही कषायों को भी घृणित मानना चाहिये—वैसा अनुभव करना चाहिये।

अमुई देह-गेहेसु, ठिया करेइ सा दुहं ।

तहा सव्व-कसायावि, ठियायंक-करा मणे ॥१०९॥

अशुचि देह और घरों में पड़ी रहती है तो वह दुःख (उत्पन्न) करती है। उसी प्रकार सभी कषाय मन में टिके रहते हैं तो आतंक उत्पादक हो जाते हैं।

टिप्पण—१. देह में रुका हुआ अशुचि पदार्थ रोग उत्पन्न करता है और वह घर में पड़ा हुआ सडान्ध फैलाकर वातावरण खराब करता है। २. मन में स्थित कषाय मन को विकृत करता है—रुग्ण बनाता है। ३. घर में व्याप्त कषाय पारस्परिक व्यवहार में विकृति पैदा करता है। ४. हेय शब्द के 'त्यागने योग्य' अर्थ की अपेक्षा १०७वीं गाथा में और दूसरे अर्थ—'घृणा के योग्य' की अपेक्षा १०८वीं-१०९वीं गाथा में कषाय के साथ संयोजित की है।

कषाय के हेयत्व के अन्य हेतु—

कम्मं करंति दुच्चिण्णं, कसाया न पुणो सुहा ।

नासणा पुरिसत्थाण, हेयत्तं तेस्सि नो कहं ॥११०॥

कषाय कर्म को दुश्चीर्ण-अशुभ बना देते हैं। इसलिये कषाय शुभ नहीं हैं और (वे) पुरुषार्थों को नष्ट करनेवाले हैं। अतः उनका हेयत्व कैसे नहीं है?

टिप्पण—१. कर्मों का ग्रहण काय योग से होता है। किन्तु उन्हें अशुभ बनाने में कारण रूप कषाय हैं। २. जो अन्य को अशुभ बनाता है; वह स्वयं शुभ कैसे हो सकता है? ३. यद्यपि मंद कषाय से शुभ कर्म का बन्ध होता है, फिर भी कषाय शुभ नहीं हो सकते हैं। क्योंकि कर्मों की शुभता में हेतुरूप कषाय नहीं, किन्तु उनकी मंदता है। ४. मंद कषाय से बद्ध अधिकांश शुभ कर्म आत्म-कल्याण के हेतु नहीं बनते हैं और पुण्य फल के भोग से प्रायः अशुभ कर्म का ही बन्ध होता है। ५. कषाय तीव्र रूप में होने पर चारों पुरुषार्थों के नाशक हैं।

ज्ञाणं असुह-कत्तारा, भत्तारा दुग्गुणाण य ।

हेया भवम्मि णेयारा, कसाया अघ-सायरा ॥१११॥

ध्यान को अशुभ करनेवाले, दुर्गुणों के स्वामी भव में भ्रमण कराने वाला और पापों के सागर कषाय हेय हैं।

टिप्पण—१. कषाय की हेयता को सिद्ध करने के लिये इस गाथा में चार हेतु बताये गये हैं। यथा—ध्यान-अशुभ-कर्तृत्व, दुर्गुण-भर्तृत्व, भव-नेतृत्व और अघ-निधित्व। २. कषाय के आवेश में भी चित्त की एकाग्रता होती है—वह ध्यान रूप में परिणत हो जाती है। परन्तु वह आर्त या रौद्ररूप अशुभ ध्यान होता है। इसप्रकार वह मूल में ही ध्यान को अशुभ कर देता है। ३. धर्मध्यान में आरूढ़ आत्मा में किसी निमित्त से कषाय का उदय होने पर वह ध्यान को अशुभ रूप में बदल देता है—श्री प्रसन्नचन्द्ररार्जुनि के ध्यानवत्। ४. भर्तार शब्द के दो अर्थ—स्वामी और पोषक। कषाय दुर्गुणों के स्वामी भी है और पोषक भी हैं। क्योंकि कषायों के अस्तित्व में ही दुर्गुण

रहते हैं और तीव्र कषाय में पुष्ट होते हैं। ५. नेता अर्थात् अग्रगामी या ले जानेवाला। कषाय भव के हेतुओं में अग्रगामी हेतु है और संसार में घसीटने-वाला भी है। क्योंकि कषाय के उपशम या क्षय का प्रारंभ होने पर भव-भ्रमण घटने लगता है। ६. सागर=जल का बहुत बड़ा संग्रह। कषाय भी पापों के बहुत बड़े खजाने हैं और पाप ही जीवों के लिये दुःखों के हेतु हैं। ७. इन चारों कारणों से भी कषाय छोड़ने योग्य ही सिद्ध होते हैं।

द्वार का उपसंहार और फल—

कषाय-हेयया-चिन्ता, अवाय-ज्ञाण-रूषिणी ।

चाय-रुइ-गरा जिट्टा, ते हु करेइ दुब्बले ॥११२॥

अपाय-विचय धर्मध्यान स्वरूपवाली, त्यागरुचि को उत्पन्न करनेवाली और (गुणों में) ज्येष्ठ कषाय-हेयत्व-चिन्ता (पश्यना) निश्चय ही उन (कषायों) को दुर्बल करती हैं।

टिप्पण—१. इस द्वार में विस्तार-भय से समुच्चय रूप से ही कषायों की हेयत्व-चिन्तना की गयी है। एक-एक कषाय की हेयत्व-पश्यना भी की जा सकती है और वह प्रत्येक कषाय का तुच्छत्व प्रकट करने के लिये आवश्यक भी है। २. यह चिन्तना स्थूल है और दिशा-निर्देशक मात्र है। साधक स्वयं उनका उपयोग-पूर्वक निरीक्षण करे और उनकी हेयता की शोध करे। ३. कषाय-हेयत्व-पश्यना धर्मध्यान के अपाय-विचय नामक भेद का ही एक अंश है। जब हेयत्व-चिन्तना गहरी होती है, तब वह धर्मध्यान में परिणत हो जाती है। ४. इस हेयत्व-पश्यना से कषायों में ममत्व-बुद्धि और निज-स्वरूपता की बुद्धि का अभाव होता है। वे पर रूप हैं—आत्मा के विभाव हैं। अतः 'वे मेरे नहीं हैं और न मैं ही उनका हूँ'—ऐसे भाव होने पर उन्हें त्यागने की रुचि उत्पन्न होती है। वस्तुतः कषायों में हेयत्व सकल त्यागरुचि की जननी है। ५. कषाय में हेय-बुद्धि होने के बाद ही अन्य आत्मगुणों का आविर्भाव होता है। अतः कषाय-हेयत्व-पश्यना आराधना-गत समस्त

गुणों में अग्रजा है—ज्येष्ठा है । ६. इस पश्यना से कषायों में दुर्बलता अवश्य आती है ।

५. अनुपादेयता—पश्यना—द्वार

प्रश्न—उपादेयता अर्थात् ग्रहण करने योग्य रूप भाव । हेयत्व के कथन से अनुपादेयत्व के भाव ग्रहण हो जाते हैं या हेयत्व और अनुपादेयत्व शब्द पर्यायवाची हैं । फिर दोनों पश्यनाओं को भिन्न क्यों कहा ?

उत्तर—यद्यपि ये दोनों शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर दोनों के अर्थ में कुछ भिन्नता प्रतीत होगी । हेयत्व शब्द त्यागभाव का सूचक है और अनुपादेयत्व शब्द अग्राह्यभाव का । अतः कषायों के प्रति तुच्छता और त्यागभाव जगाने के लिये हेयत्व-पश्यना का और कषायों में ग्राह्य बुद्धि और उपकारी बुद्धि छुड़ाने के लिये अनुपादेयत्व-पश्यना का विधान है । इस प्रकार ये परस्पर पूरक हैं । हेयत्व-बुद्धि होने पर ही अनुपादेयत्व बुद्धि होती है और फिर वह हेयत्व बुद्धि से उत्पन्न वृत्ति को कार्यक्षम बनाने में सहयोगिनी बनती है ।

अनुपादेयत्व-पश्यना का स्वरूप और उद्देश्य—

‘**कहिं कथं वि ते गेज्झा, तँहि हु मे हियं हवे**’ ।

ताअ बुद्धीइ नासट्ठाऽणुवादेयत्त-पस्सणा ॥११३॥

‘किसी समय में किसी स्थान पर वे (कषाय) ग्राह्य हैं । क्योंकि उनसे मेरा हित हो सकता है’—इस बुद्धि का नाश करने के लिये अनुपादेयत्व-पश्यना है ।

टिप्पण—१. ‘बिना आँखें दिखाये कुछ नहीं होता है’ ‘मान-सन्मान के बिना जीवन निर्माल्य है’ ‘कुछ अन्यथा कार्य किये बिना संसार में पेट

नहीं जम सकती है' तथा 'लाभ की लालसा कोई दुर्गुण नहीं है'—ऐसे या कुछ इसप्रकार के भाव कषाय की उपादेयता के मूल में रहते हैं। २. सामान्य जन को तो कषाय गौरव रूप लगते ही हैं। परन्तु बड़े-बड़े विज्ञान जन भी इस भाव से ग्रस्त रहते हैं। साधक जन में भी कहीं बुद्धि की गहरी तहों में कषाय की उपादेयता के भाव छिपे रहते हैं। ३. कषाय में हित-बुद्धि की स्वीकृति ही उन्हें ग्राह्य बनाती है—आत्मीय सिद्ध करती है। ४. बुद्धिगत इस सूक्ष्म-दोष की खोज करना—और उसे दूर करने का आन्तर पुरुषार्थ करना ही अनुपादेयत्व-पश्यना का कार्य है। ५. कषायों की अनुपकारिता, आकुलता-उत्पादकता आदि सोचते हुए उनकी उपकारिता आदि को भ्रम रूप चिन्तन करना अनुपादेयता पश्यना है, जिससे उन्हें ग्रहण करने योग्य मानने की बुद्धि का अभाव हो। ६. जीव उन्हें हेय मानकर भी देश-कालानुसार करणीय मान लेता है—यही जीव की भूल है।

कषाय की मोहरूपता—

कसाया मोह-पज्जाया, सोसंसारस्स मूलओ ।

भव-माला हि संसारो, णोवादेया क्याविते ॥११४॥

कषाय मोह के ही पर्याय हैं। वह (मोह) संसार का मूल है और संसार भव-माला रूप ही है। अतः वे (कषाय) कदापि उपादेय नहीं हो सकते हैं।

टिप्पण—१. कषाय मोह के ही अंश हैं। जैसे किसी को हिताहित का बोध देना—यह विवेक-बुद्धि है, किन्तु आवेश में आ जाना क्रोध कषाय है। मान-सन्मान पाना—शुभ नामकर्म का उदय है। किन्तु उसकी चाह करना—अपने को महान बताने की चेष्टा करना आदि मान कषाय है। ऐसे ही अन्य कषायों के विषय में भी समझना चाहिये। २. मोह अर्थात् श्रद्धा और चरित्र की विकृति। मोह है तो संसार है—अगणित भवों की चक्र-माला है। उसी मोह के अंश रूप ही तो कषाय हैं। ३. मोह जीव का उपकारी नहीं है। अतः

कषाय भी उपकारी नहीं हैं। ४. अनुपकारी-अहितकारी से दूर रहना—उसका संग नहीं करना ही उत्तम है। अतः कषाय भी ग्राह्य नहीं है।

कषाय से आकुलता—

आउलया कसायत्तो, दुहरूवा हि सा सया ।

विउल-पुण्ण-संजोगे, सोगतत्ते करे जिए ॥११५॥

कषाय से आकुलता होती है और वह सदा दुःख-रूप ही होती है। यह संभव है कि वह विपुल पुण्य-संयोग में (भी) जीवों को शोक से संतप्त कर दे।

टिप्पण—१. कषाय से निष्पन्न भाव-विकृति आकुलता रूप ही होती है। २. आकुलता दुःख है; अनाकुलता समतारूप है, अतः वह सुख है। ३. आकुलता ममता की सहजन्मा है। अतः वह समता को—सुख को नष्ट करती है। ४. बहुत अधिक पुण्य-जनित अनुकूल संयोगों में भी कषायवशात् आकुलता हो सकती है। अतः जीव अकारण ही शोकाकुल हो सकते हैं—अनावश्यक रूप संतप्त हो सकते हैं। ५. सुख का नाशक, दुःख-उत्पादक और अनुकूल संयोग को निःस्वाद बनानेवाला उपकारी कैसे हो सकता है।

कषाय से लाभ नहीं—

ण लाभो अंसमित्तो वि, लोउत्तरो य लोइओ ।

कसाएहिं तु जो दिट्ठो, दिट्ठिभमोत्तिसो मुण ॥११६॥

कषायों से लोकोत्तर या लौकिक लाभ अंशमात्र भी नहीं है। किन्तु (उसमें) जो (लाभ) देखा गया है, वह दृष्टिभ्रम है—यह (अच्छी तरह से) समझ।

टिप्पण—१. लोकोत्तर = धर्म-आराधना से संबन्धित। लौकिक = संसार-संबन्धी। कषायों से सांसारिक या धार्मिक कोई भी लाभ नहीं है। २. दृष्टिभ्रम अर्थात् बाह्य वातावरण से उत्पन्न परिस्थिति विशेष से विपरीत

दिखाई देना । जैसे मरुभूमि की धूप से चिलचिलाती हुई रेत में जलाशय दिखाई देना । जलाशय न होने पर भी उसका प्रतीत होना चक्षुर्गत दृष्टि का भ्रम है । वैसे ही कषायों से लाभ न होने पर भी उनमें लाभ प्रतीत होना आत्मगत दृष्टिभ्रम है । ३. यह ज्ञान से ही जाना जा सकता है ।

कषाय में राग छोड़ो—

तेसुं रागो तहा दोसो, गुणे तम्हा भवे गई ।

तदुवादेयया-भावं, मिच्छत्तं ति वियाणिया ॥११७॥

उन (कषायों) में राग और गुण में द्वेष है । इसी कारण भव में गति-संसार में परिभ्रमण है । वस्तुतः कषाय की उपादेयता के भाव को मिथ्यात्व समझो (और उसे छोड़ो) ।

टिप्पण—१. जीव कषायों में रागी है । क्योंकि वह उनसे लाभ मानता है । २. कषायों में राग के कारण गुण (= धर्म आराधना और धार्मिक जनों) में द्वेष है । ३. ये दोनों भाव ही भवराग और मुक्तिद्वेष के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । ४. भवराग और मुक्तिद्वेष से कषायों में उपादेयबुद्धि दृढ़ होती है । जिससे भव-भ्रमण की वृद्धि होती है । ५. कषायों की उपादेयता का भाव मिथ्यात्व है । ६. इस मिथ्यात्व को ज्ञपरिज्ञा से जानना और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागना चाहिये ।

द्वार का उपसंहार—

ताच्चिताए सुहं तेसु, पक्खवाओ वि नस्सइ ।

गहण-रक्खणाभावा, सो किं ण होइ दुब्बलं ॥११८॥

उस (अनुपादेयता—) चिन्तना से उन (कषायों) में सुख और पक्षपात नष्ट हो जाता है । ग्रहण और रक्षण के अभाव के कारण वह (कषाय) क्या दुर्बल नहीं होता है ?

टिप्पण—१. कषायों में सुख-भाव की प्रतीति होती है। परन्तु उसके अग्राह्यत्व के चिन्तन से वह नष्ट हो जाती है। २. अपने कषायों में जीव पक्षपाती बन जाता है। उसे अपने कषाय बुरे नहीं लगते हैं—भले ही लगते हैं। अतः उन्हें क्षन्तव्य भी मानता है। अनुपादेयत्व-पश्यना से इस पक्षपात-वृत्ति का अभाव हो जाता है। ३. पक्षपात के अभाव में उनकी पकड़ और बचाव की भावना भी मरने लगती है। जिससे कषाय दुर्बल होते ही हैं।

६. अनात्मता-पश्यना-द्वारा

चेतना की विकृति के हेतु—

चेयणप्प-सरूवं हि, णाण-दंसण-वेयणा ।

तं चेव वियडं किच्चा, कसाओ किल मोहइ ॥११९॥

ज्ञान, दर्शन और वेदन रूप चेतना आत्म-स्व रूप ही है। कषाय उसको ही विकृत करके मोहित करता है।

टिप्पण—१. आत्मा का स्वरूप क्या है—इस विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। किन्तु जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप चेतना है; क्योंकि यह आत्मा का असाधारण गुण है और इसी गुण के कारण इसका जड़ पदार्थों से पार्थक्य है। २. चेतना के तीन रूप हैं—ज्ञान=विशेष बोध, दर्शन=सामान्य बोध और वेदन=अनुभव, भोगना।

प्रश्न—वेदन चेतना का अंश होते हुए भी आत्मा का निजस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि जो निजस्वरूप होता है, वह त्रिकाल विद्यमान रहता है। किन्तु वेदन का सिद्धावस्था में अभाव हो जाता है। इसलिये वह स्वरूप कैसे होगा ?

उत्तर—सिद्धावस्था में कर्म-वेदन नहीं है, किन्तु स्वसंवेदन होता है। यदि आत्मवेदन नहीं हो तो सुख कैसे होगा ? सिद्धों में सुख गुण है। आगमों

में उस सुख के वेदन अर्थ में अनुभव शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—
 अव्याबाहं सुखं अणुहोती सासयं सिद्धा अर्थात् सिद्ध भगवान् शाश्वत्
 अव्याबाध सौख्य का अनुभव करते हैं। वेदन शब्द का कर्मफल के भोग के
 अर्थ में बहुलता से प्रयोग हुआ है और आत्मवेदन के अर्थ में प्रायः अनुभव
 शब्द का। ३. चेतना को कषाय विकृत करता है। बोध चेतना मोह के
 निमित्त से अज्ञान—विपरीत बोध के रूप में परिणत होती है और वेदन
 चेतना भी मोह से रंजित होने पर ही राग-द्वेष के रूप में परिणत होती है।
 कषाय मोह के ही रूप हैं। ४. 'एव' शब्द से यह निश्चय कराया है कि चेतना
 की विकृति ही प्रधान है। उसकी विकृति से ही सुख आदि अन्य गुणों में विकृति
 आती है और चेतना की शुद्धि होने पर अन्य गुण भी शुद्ध हो जाते हैं।

चेतना की विकृति के कर्ता निजस्वरूप नहीं—

कसाया जइ अप्पाणं, तया बुद्धि कंहं हरे ।

नत्थि अप्प-सरूवाते, जीवं मूढं करेति ते ॥१२०॥

यदि कषाय आत्मा के (अपने स्वरूप ही) हों तो वे बुद्धि = आत्मभान
 को हरण कैसे कर सकते हैं। वे जीव को मूढ़ करते हैं, इसलिये वे आत्म-स्वरूप
 नहीं हैं।

टिप्पण—१. जो जीव को बेभान करता है, वह अस्वाभाविक होता
 है। जैसे—नशा वैसे ही कषाय भी जीव को मूढ़ बना देते हैं—बेभान करते
 हैं। २. जो विवेक शक्ति को नष्ट करता है, वह भी आत्म-स्वरूप नहीं हो
 सकता। जैसे—वस्तु की सारवत्ता को नष्ट करनेवाला पदार्थ उसी पदार्थ
 का अंश नहीं होता। कषाय जीव के साररूप गुण बुद्धि को ही नष्ट करते
 हैं। ३. कषाय जीव की विकृति के हेतु हैं। अतः पररूप हैं।

कषाय की पर-रूपता—अनात्मता—

मोहंसा चेव कसाया ते, मोहो कम्मं तु तं जडं ।

जीवस्सेव विगारा ते, तहावि ते तन्निमत्तया ॥१२१॥

वे कषाय मोह के अंश ही है। मोह (आठ कर्मों में) एक कर्म है और वह कर्म तो जड़-पुद्गल है। यद्यपि वे कषाय (के भाव) जीव के ही विकार हैं, तथापि वे पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, (अतः पर हैं) ।

टिप्पण—१. कषाय मोहकर्म के उदय से होते हैं। कर्म मात्र पौद्गलिक होते हैं। अतः मोह भी पौद्गलिक है। २. पुद्गल जड़ हैं। अतः वे आत्म रूप नहीं है—पर हैं। अतः मोह कर्म भी पर है। ३. मोह पर है तो कषाय भी पर हैं। क्योंकि तथारूप कर्मों के उदय से ही क्रोध आदि विकारों का आविर्भाव होता है। ४. क्रोध आदि भाव जीव में ही होते हैं। अतः वे जीव के ही अंश हैं। परन्तु वे जीव के स्वाभाविक अंश नहीं हैं। ५. क्रोध आदि के भाव जीव के ही विकार हैं। किन्तु वे पौद्गलिक कर्म के निमित्त से ही होते हैं और पुनः पौद्गलिक कर्मों को ही ग्रहण करने में निमित्त बनते हैं। इसलिये वे पर-जन्य और पर के जनक ही हैं। ६. जो पर से ही उत्पन्न होकर पर को ही उत्पन्न करता है, वह निज अंश कैसे हो सकता है? अतः उनमें अपनत्व आरोपित नहीं करना।

जे वि निमित्तया होंति, विगृह्णो विमोहगा ।

अशुद्ध—जीव—पञ्जाया, ते विभावा अनत्तगा ॥१२२॥

जो भी (भाव) निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वे विकृति रूप और विमोहित करनेवाले हैं। वे जीव के अशुद्ध पर्याय हैं। इस लिये वे विभाव हैं—अनात्मरूप हैं।

टिप्पण—१. एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के निमित्त से जो भी भाव उत्पन्न होते हैं, वे उस द्रव्य के स्वस्थभाव नहीं हो सकते। २. जो स्वस्थभाव नहीं होते हैं, वे विकृति रूप होते हैं—बेभान करनेवाले होते हैं। ३. अशुद्ध निश्चयनय से क्रोध आदि विकृत आदि भाव जीव के ही अशुद्ध पर्याय हैं। क्योंकि जीव यदि स्वयं उन पर्यायों में परिणत नहीं होता तो वे पर्याय जीव

में कैसे होते । अतः अशुद्धनिश्चयनय से वे जीव के ही विभाव हैं । जीव में ऐसी विभाव-परिणमन की योग्यता है । वैसे ही पुद्गल में भी वैसे ही योग्यता है । अतः क्रोध आदि कर्म पुद्गल रूप ही हैं और पुद्गल द्रव्य की विकारी पर्याय हैं । ४. पुद्गल के अशुद्ध पर्यायों के निमित्त जीव में अशुद्ध पर्याय उत्पन्न होते हैं और उन अशुद्ध पर्यायों के निमित्त से जीव में तथारूप पुद्गल के अशुद्ध पर्याय जमा होते हैं । अतः वे दोनों के वैभाविक पर्याय हैं । ५. व्यवहारनय से जिसके निमित्त से जो पर्याय होते हैं, वे उसीके पर्याय कहे जाते हैं । अतः जीव के निमित्त से उत्पन्न कर्म-पर्यायों का उत्तरदायित्व जीव पर है और क्रोधादि कर्म-जनित जीव के वैभाविक भाव का हेतु कर्म के हैं । अतः वे पर के ही हैं । अतः पुद्गल में कर्म-पर्याय पुद्गलद्रव्य में अनात्म रूप हैं और जीव में उत्पन्न क्रोधादि विभाव जीव में अनात्म रूप हैं अर्थात् वे जीव के अपने भाव नहीं हैं । जीव उनसे अपनेपन की वृत्ति हटा ले । ६. दोनों नयों के समन्वय से साधना-मार्ग प्रशस्त होता है । जीव में शुद्धि अभीष्ट है । जीव में अशुद्धि हो, तभी उसकी शुद्धि का प्रश्न उठता है । अतः निश्चयदृष्टि से यह मान्य है कि वह अशुद्धि जीव का ही अंश है । वस्तुतः अशुद्धि जीव की है तो शुद्धि कैसे होगी ? इसका समाधान व्यवहारदृष्टि करती है कि अशुद्धि भले ही जीव का अंश हो किन्तु वह बहिर्भूत पदार्थ के निमित्त से होती है । अतः वह अशुद्धि भी उसी की है । अशुद्धि अपनी नहीं हो, तभी उस द्रव्य की शुद्धि होगी । अशुद्धि सदैव आगन्तुक होती है । भले ही वह अनादि से है । फिर भी कर्म रूप परनिमित्त से होती है । अतः पर है—अनात्म रूप है ।

द्वार का उपसंहार—

सा पस्सणा कसायाणं, नियत्तं हिच्च वारइ ।

विंत्ति ताहि उवेक्खं च, तेसुं करेइ मंदयं ॥१२३॥

वह (अनात्म—) पश्यता कषायों की निजता अपहरण करके, उनसे (जीव की) वृत्ति मोड़ती है और उनमें उपेक्षा और मन्दता प्रदान करती है ।

टिप्पण—१. अनात्मता-पश्यना के पुष्ट होने पर उसके कुछ फल प्रकट होते हैं। इस द्वार का उपसंहार करते हुए तीन प्रमुख फलों का उल्लेख इस गाथा में किया है। १. यथा—निजत्व का निवारण, वृत्ति का वारण और उपेक्षा का संप्रसारण। २. क्रोधादि को आत्मा के अंश मानने के भाव अभाव हो जाना है, उनमें से निजत्व का निवारण है। ३. उनमें अपनापन नहीं रहने से उनमें वृत्तियाँ नहीं रमती है। यदि वृत्ति उनमें जाती है तो जीव वहाँ से उन्हें मोड़ता है। ४. जो अपना नहीं हो उसके प्रति उपेक्षा होना सहज ही है और फिर वह विस्तृत होती है। ५. इन तीनों फलों के सार रूप में कषाय की मंदता होती है।

७. अपरिग्रह—द्वार

कषायों का परिग्रह अर्थात् कषायों की बौद्धिक या आन्तरिक पकड़। कषायों की आन्तरिक पकड़ आभ्यन्तर परिग्रह है। कषायों के परिग्रह से वे अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं। इस द्वार में उनके परिग्रह का स्वरूप समझकर उसके त्याग की भावना जगाई गई है।

कषायों का परिग्रह प्रयत्न जन्य—

परिग्रहो कसायाणं, परस्सेव परिग्गहो ।

सो य होइ पयत्तोहिं, पावो साहाविओ कहं ? ॥१२४॥

कषायों का परिग्रह पर का ही परिग्रह है और वह (कषायों की भीतरी पकड़) (कई) प्रयत्नों से ही होती है। अतः पाप स्वाभाविक कैसे (हो सकता) है?

टिप्पण—१. कषायों को पिछले द्वार में अनात्मभूत सिद्ध किया जा चुका है। उन कषायों को बनाये रखने की वृत्ति ही उनके परिग्रह रूप में है। कषाय जब पर हैं, तब उनका परिग्रह पर का ही परिग्रह है। २. वस्तुतः

पर की पकड़ ही परिग्रह है। पर को पकड़ रखना सहज रूप नहीं हो सकता। कषायों के परिग्रह के लिये प्रयत्नों की लम्बी श्रृंखला चलती है। ३. क्रोध करने में शारीरिक श्रम कितना पड़ता है और मान आदि करने में मानसिक बल कितना लगाना पड़ता है? फिर उन्हें बनाये रखने के लिए भी कोई कम प्रयत्न नहीं करने पड़ते हैं। अतः न तो क्रोध आदि ही सहज हैं और न उनका परिग्रह ही। ४. पाप को जो सहज और स्वाभाविक मानते हैं, उनकी यह मान्यता सही नहीं है।

क्रोध का परिग्रह—

कलहाइ—पसंगाणं, सईए णिच्च—रक्खणं ।

वित्थरणं च बुद्धीए, दक्खयाए य वड्ढणं ॥१२५॥

कलह आदि प्रसंगों का स्मृति के द्वारा नित्य रक्षण, बुद्धि के द्वारा विस्तार आदि और दक्षता आदि के द्वारा वर्धन होता है।

टिप्पण—१. क्रोध परिग्रह के प्रमुख तीन कारण—स्मृति, बुद्धि और दक्षता। दक्षता के पश्चात् य शब्द से अन्य कारणों को ग्रहण किया गया है। जैसे—उपहास, अबोला, वाचालता आदि। २. क्रोध-परिग्रह के तीन प्रकार-रक्षण, विस्तार और वर्धना (अ) जैसे किसी पदार्थ की रक्षा करने के लिए उसे पुनः देखा और हिलाया जाता है। वैसे ही क्रोध के प्रसंग का बार-बार निरीक्षण करना और उसकी बार-बार आवृत्ति करना—उसका रक्षण है। जिससे उसका विस्मरण नहीं होता है और उसकी जड़ें सुदृढ़ होती हैं। (आ) क्रोध के प्रसंग को बढ़ा-चढ़ाकर देखना, तर्क-वितर्क से अपनी प्रत्येक बात को उचित और अन्य की बात अनुचित-अनुत्तरदायित्वपूर्ण सिद्ध करना तथा उनसे संबन्धित जनों आदि से भी अनबन करते हुए उसके प्रत्येक पदार्थों एवं कार्यों के प्रति अरुचि करना क्रोध का विस्तार है। वित्थरण के पश्चात् के 'च' शब्द से अन्य क्षेत्र का बदला अन्य क्षेत्र में लेना, विविध रूप से हानि पहुँचाना आदि ग्रहण किये गये हैं। (इ) क्रोध के प्रसंग को लंबाते

रहना—उसको समाप्त नहीं होने देना, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वैर चलता रहे वैसे प्रयत्न करना, क्रोध भड़काने के कार्य करना आदि से क्रोध का वर्धन होता है ।
३. किसी भी रूप से क्रोध की पकड़ मजबूत हो, वे सब परिणाम क्रोध-परिग्रह है ।

मान का परिग्रह—

आओजणं पसंगाणं, माणट्ठा अहिणंदणं ।

हिट्ठेण तेसि वत्तव्वं, करणं च पदंसणं ॥१२६॥

मान के लिये प्रसंगों का आयोजन, अभिनन्दन (का उत्सव), हर्षित होते हुए उनका वक्तव्य और प्रदर्शन करना—(यह मान का परिग्रह है) ।

टिप्पण—१. इस गाथा में मान-परिग्रह के हेतु रूप चार कार्यों का कथन किया गया है । यथा—मानार्थ प्रसंगों का आयोजन, अभिनन्दन—समारोह, हर्ष के साथ अन्यो के सन्मुख अपने को प्राप्त मान-सन्मान का कथन करना और सन्मान में प्राप्त वस्तुओं का प्रदर्शन करना । २. 'करण' के बाद के 'च' शब्द से उन आयोजन आदि का करवाना और अनुमोदन भी गृहीत हो जाते हैं । ३. 'हिट्ठ' अर्थात् मान, सम्मान, प्रशस्तिगान-जय-जयकार आदि में हर्षित । इस शब्द से मान आदि प्राप्त नहीं होने पर द्वेषी होना भी ग्रहण कर लेना चाहिये । क्योंकि मान के अलाभ में द्वेष से भी मान का परिग्रह होता है । ४. इनके सिवाय मान-परिग्रह के अन्य भी हेतु हो सकते हैं ।

माया और लोभ के परिग्रह के विषय में सूचना तथा त्याग की प्रेरणा—

माया—लोहाण कज्जाणं, संगहो वि तहेव य ।

परिगगहं कसायाणं, णेगविहं जहेज्ज तं ॥१२७॥

और माया तथा लोभ (के परिग्रह) के कार्यों का संग्रह भी इसीप्रकार (कर लेना है) । (इसप्रकार) कषायों का परिग्रह अनेक प्रकार का है ।

उसे (बौद्धिक चिन्तन से समझकर, जिनदेव और जिन-प्रवचन में श्रद्धा रखते हुए) छोड़ो।

टिप्पण—१. माया और लोभ के परिग्रह के प्रसंगों की स्वयं विचारणा करने का निर्देश किया। २. छल-कपट में बुद्धिमानी समझना, छिपाव-दुराव को आवश्यक मानना, वक्र-वृत्ति में मनोरंजन-गौरव का अनुभव करना आदि भावों से माया का परिग्रह होता है। ३. लोभ में सुख मानना, लोभ के प्रसंगों का आयोजन करना, लोभ-वृद्धि हो-ऐसी चर्चा करना, कथा-कहानियाँ सुनना-सुनाना आदि से लोभ का परिग्रह होता है। ४. कषायों की पकड़ के विविध रूप हैं। उन्हें लोक-व्यवहार में से खोजना चाहिये। जैसे—जुआ, हाथ की सफाई, जादू के खेल, किसी को चमत्कृत करने की वृत्ति आदि प्रसंगों से माया का और अर्थ-कथा, अर्थशास्त्र आदि के चिन्तन से लोभ का परिग्रह होता है। नक्षत्रशास्त्र, स्वप्नशास्त्र आदि भी लोभ-परिग्रह के हेतु हो सकते हैं। ५. जिनदेव अर्थात् शुद्ध चैतन्य हमारे आराध्य और शुद्ध चेतना ही साध्य है, इस श्रद्धा से विकारों का परिग्रह त्यागना सहज हो जाता है।

कषायों के परिग्रह को जानना कठिन—

धिट्ठो मूढो न जाणेइ, जो बज्झं पि परिग्गहं ।

परिग्गहं कसायाणं, भितरं किं मुणिस्सइ ॥१२८॥

जो धृष्ट मूढ़ बाह्य परिग्रह को भी नहीं जानता है, वह कषायों के आभ्यन्तर परिग्रह को क्या जानेगा।

टिप्पण—१. अधिकांश संसारी जीव मूढ़=मोह से अभिभूत रहते हैं। अतः उनका विवेक नष्टप्रायः रहता है। वे परमार्थ तत्त्व को समझ ही नहीं पाते हैं। २. संसारी धृष्ट=उद्धत बुद्धिवाले-ढीठ होते हैं। अतः कई बातों को कई बार सुनकर-जानकर भी सुन-जान नहीं पाते हैं। अध्यात्म-

भाव में उनकी दृष्टि ही नहीं जमती है। ३. विवेक से रहित मूढ़ और निर्मल बुद्धि के स्थैर्य से रहित धृष्ट जीव बाह्यपरिग्रह को भी परिग्रह रूप में नहीं समझ पाता है। बाह्यपरिग्रह अर्थात् धन-धान्य, क्षेत्र-वास्तु आदि की संग्रह-वृत्ति-ममता। ४. कषायों को पकड़े रखना-छोड़ना नहीं आभ्यन्तर परिग्रह है। जो बाह्यपरिग्रह के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सकता, वह आभ्यन्तर सूक्ष्म विकारों के परिग्रह को समझने की बौद्धिक क्षमता को कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

आभ्यन्तर परिग्रह को समझने की क्षमता कैसे प्राप्त होती है—

पढमं खलु जाणेज्जा, दोसं दोसं गुणं गुणं ।

बुज्झिज्जइ तया तेण, दोसाणं पि परिग्गहो ॥१२९॥

(अतः साधक) पहले दोषों को दोष रूप में और गुणों को गुण रूप में निश्चय ही जानें। तब उसके द्वारा दोषों का भी परिग्रह जान लिया जायेगा।

टिप्पण—१. कषाय-परिग्रह को जानने की प्राथमिक तैयारी के रूप में दोष और गुणों का स्वरूप-ज्ञान। २. गाथा में 'खलु' शब्द के द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान पर जोर दिया गया है अर्थात् 'दोष दोष ही है और गुण गुण ही' यह निश्चयात्मक ज्ञान—प्रथम आवश्यकता है। ३. इस निश्चयात्मक ज्ञान से मूढ़ता और धृष्टता दूर होकर विवेक और साधना में तत्पर होने-वाली वृत्ति की प्राप्ति होती है। क्योंकि विवेक और साधना में तत्पर होने की वृत्ति ही साधना के प्रमुख अंग हैं। ४. निश्चयात्मक ज्ञान से यह निर्णय होता है कि दोष आत्मज होते हुए भी पर हैं। पर की पकड़ परिग्रह है। भले ही वह पर बाह्य हो या आभ्यन्तर। ५. गुण पर सुदेव, सुगुरु और जिन-प्रज्ञाप्त धर्म के निमित्त से प्राप्त होने पर भी आत्मीय होते हैं। अतः गुणों की पकड़ परिग्रह नहीं, आराधना है। ७. गुरुचरणों की विनय-पूर्वक सेवा, उनसे जिन-प्रज्ञाप्त-धर्म के ज्ञान की भक्ति-पूर्वक उपलब्धि, ज्ञान के द्वारा आत्म-चिन्तन और आत्म-चिन्तन से दोषों और गुणों का निर्णायक निश्चल

बोध—यह जीव की ज्ञानोपाजन की प्राथमिक आराधना है । जिससे जीव को बाह्य और आन्तरिक परिग्रह को जानने की योग्यता उपलब्ध होती है ।

कषाय-परिग्रह को छोड़ने का क्रम और फल—

चित्ते ठियम्मि हेयत्ते, गेज्जत्ते य गएजियो ।

कसायाणं मइग्गाहं, मुंचंतो ज्ञाण सोहइ ॥१३०॥

चित्त में कषायों के हेयत्वभाव के प्रतिष्ठित हो जाने पर और उपादेयत्व भाव के चले जाने पर जीव कषायों की बौद्धिक पकड़ को (क्रमशः) छोड़ता हुआ ध्यान को शुद्ध करता है ।

टिप्पण—१. कषाय-परिग्रह को समझने के पश्चात् उसे छोड़ने की प्रक्रिया के प्रमुख अंग दो हैं—हेय-बुद्धि और अग्राह्य-बुद्धि और कषाय छोड़ने योग्य हैं—ग्रहण करने योग्य नहीं है, ऐसी बुद्धि । इनका पिछले दो द्वारों में विवेचन हो चुका है । २. बुद्धि में ही कषायों की पकड़ होती है । जब बुद्धि उन्हें हेय और अग्राह्य मान लेती है और इस मान्यता में निश्चल हो जाती है, तब क्रमशः उनका परिग्रह छूटने लगता है । ३. कषाय अग्राह्य-हेय है—ऐसी श्रद्धा से मिथ्यात्व की निवृत्ति होती है । फिर वह श्रद्धा और दृढ़ होती है । जिससे कषायों की पकड़ ढीली होने लगती है । ४. ज्यों-ज्यों कषायों का मतिग्राह्य छूटता जाता है, त्यों-त्यों ध्यान की विशुद्धि होती जाती है । कषायों के परिग्रह में ध्यान-शुद्धि नहीं होती और शुद्ध ध्यान के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । ५. 'सोहइ' शब्द से शोभन और शोधन दोनों अर्थ होते हैं । धर्मराग से ध्यान शोभन होता है और राग-द्वेष के क्षय से ध्यान का शोधन ।

८. अरुचि द्वार

कषायों में रस या रुचि ही उनका परिग्रह करवाती है । अतः कषायों में अरुचि करने योग्य है, जिससे उनका स्थायित्व न हो ।

कषायों में रति-आनन्द मत मानों—

कसाएसु रसो दुःखं, अत्थि तेसि च वड्ढणं ।
ता रइं तेसि मा कुज्जा, जइ तं मुत्तिमिच्छसि ॥१३१॥

कषायों में रस दुःख रूप है और उससे कषायों की वृद्धि होती है । यदि तू मुक्ति चाहता है तो उनकी रति=प्रीति मतकर या उनमें आनन्द मत मना ।

टिप्पण—१. क्रोध आदि में भी जीव की रसवृत्ति होती है । इन कषायों को करके एक तृप्ति का अनुभव करता है वह । २. इनमें रस होता है, तभी तो वे तीव्र होते हैं । ३. तीव्रकषाय से पापकर्मों का बन्ध होता है और पाप ही दुःखों का मूल है । अतः कारण में कार्य का उपचार करके कषाय के रस को ही दुःख कहा है । ४. कषायों में रस का कारण उनकी प्रीति और उनमें आनन्द मनाने की वृत्ति है । ५. उनमें आनन्दानुभूति से उनका रस नहीं छूटता है । ६. उनमें रस होने से उनका परिग्रह होता है । अतः कषायों का अभाव नहीं होता है । ७. कषाय-निधि की वृद्धि से कर्म-बन्ध के हेतु बढ़ते हैं । फिर कर्मों का उपचय होता है । अतः फिर कर्मों के बंधने पर उन्हें भोगने होते हैं । ८. कर्मभोग के समय कषायों का रस विद्यमान रहता है । अतः कर्मबन्ध का हेतु कषाय पुनः उत्पन्न हो जाता है । इसप्रकार कषाय-रस से कषाय, कषाय से कर्म-बन्ध, फिर कर्मभोग, पुनः कषायरस और पुनः कषाय । इसप्रकार यह कर्मचक्र चलता रहता है । ९. कर्म के अभाव से ही मोक्ष होता है । किन्तु कषाय-रस के कारण कर्मों का खजाना कभी रिक्त ही नहीं होता है । अतः मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है । १०. मोक्ष के इच्छुक को कषायों में दुःख-दर्शन करके उनमें से रस-वृत्ति को समाप्त करना ही होगा । ११. प्रीति से रस और रस से प्रीति उत्पन्न होती है । अतः किसी एक को तोड़ देने पर दूसरे भाव का भी अभाव हो जाता है ।

घृणित पदार्थ घृणा के योग्य ही होता है—

भोज्जं पियं जहा तं पि, घिण्णं हि विड्डं रसं ।
को खिप्पइ मुहे तं वा, थूकारं न करेइ किं ॥१३२॥

जैसे भोज्य पदार्थ प्रिय है, किन्तु वह विकृत रसवाला होता है तो घृणा के योग्य ही होता है। उसे कौन मुँह में डालता है? अथवा (मुँह में डाल लिया हो तो) थू-थू नहीं करते क्या?

तहा भव्व ! कसायाणं, वियडो विरसो रसो ।

ते साऊ णेव घिण्णेषु, को आणंदो व का रई ? ॥१३३॥

इसीप्रकार हे भव्य ! कषायों का रस विकृत और अस्वाभाविक स्वाद-वाला है। वे स्वादु = रसानन्द प्रदान करनेवाले नहीं हैं। घृण्य पदार्थों में कैसा आनन्द और कैसी प्रीति या रुचि ?

टिप्पण—१. प्रिय से प्रिय किन्तु विकृत भोज्य पदार्थ के प्रति घृणा ही उत्पन्न होती है। उसके प्रति अरुचि-जन्य तीन प्रतिक्रियाएँ—उससे दूर रहना-छूना ही नहीं, उपभोग नहीं करना और कदाचित् भूल से या किसी कारण से उपभोग में आ गया हो तो बीच में ही घृणा-पूर्वक छोड़ देना। २. कषाय भी आनन्द प्रदाता नहीं है—इतना ही नहीं, किन्तु उसका रस भी विकारी भाव है। क्योंकि घृण्य पदार्थों में आनन्द-भोग की वृत्ति मुरुचि की परिचायक नहीं, किन्तु विकृत और अस्वाभाविक कुरुचि की ही परिचायक है : **वियडो और विरसो**—इन दो विशेषणों से इस भाव को अभिव्यक्त किया गया है। ३. विकृत रसवाले प्रिय भोज्य पदार्थ में उत्पन्न अरुचि के समान ही कषायों में भी अरुचि उत्पन्न होना चाहिये।

कषायों में जीव को कैसा लगना चाहिये—

जहेव चारगे राया, ण हि रोयइ किंचि वि ।

तहा कसाय-मज्झम्मि, ण भव्वाण रुई हवे ॥१३४॥

जैसे राजा को कैद में जरा भी अच्छा नहीं लगता है, वैसे ही कषायों में भव्य जीवों की रुचि नहीं हो या नहीं होना चाहिये।

टिप्पण—१. साधारण मनुष्य भी बंदीगृह में रहना पसंद नहीं करता । फिर सुखानुभव में स्थित जीव की अरुचि तो तीव्र ही होगी । २. राजा पुण्योदय से परम अनुकूलता में स्वाधीनता में रहनेवाले जीव का प्रतीक है । ३. भव्य शब्द का यहाँ आशय है—आसन्न भव्य अर्थात् अल्पकाल में ही मुक्त होने की योग्यतावाला जीव है । ४. भव्य जीव ही तीव्र संवेगवान हो सकता है । ५. मुक्ति के इच्छुक जीव को कषाय तीव्र बन्धन के रूप में प्रतीत होने चाहिये । ६. बन्धन दुःख रूप होते हैं—परतंत्रता रूप होते हैं । अतः वे अच्छे नहीं लगते हैं । वैसे ही कषाय में भी भव्य आत्मा किंचित् मात्र सुख न माने—दुःखानुभव करे । ७. बन्धन और दुःख में अरुचि के समान कषायों में अरुचि होना चाहिये ।

कषायों में अरुचि का फल—

जाणंतो वा अजाणंतो, अग्नीए वागय करं ।

अरुईए कसायातो, तुरियं कड्ढए मणं ॥१३५॥

जानते हुए या अजानते हुए अग्नि में आये हुए हाथ के समान (जीव) अरुचि के कारण कषाय से मन को जल्दी ही खींच लेता है ।

टिप्पण—१. जान-बूझकर कोई अग्नि पर हाथ आदि नहीं रखता है । यदि जानकर कोई अग्नि पर हाथ रखता है तो पूरी सावधानी से रखता है । २. जाने-अनजाने अग्नि पर आया हुआ हाथ वहाँ लम्बे समय तक स्थित नहीं रहता । तत्काल ही हट जाता है । ३. कषायों में अरुचि का फल भी ऐसा ही है । कषायों में अरुचिवान जीव जबतक अप्रमत्त रहता है, तबतक वह कषायों को अपने ऊपर प्रभाव नहीं जमाने देता है । कदाचित् प्रसंगवशात् कषाय जैसी स्थिति उत्पन्न कर लेता है तो उसमें भी पूर्णतः सावधान रहता है । अपने उपयोग को कषायों से रंजित नहीं होने देता है । ४. प्रमाद से कषाय का उदय जोर मारने लगता है तो उसमें अरुचि के कारण मन को टिकने नहीं देता है । ऐसे प्रसंगों से मन को जल्दी ही खींच लेता है ।

वह कषायों की आंच में दग्ध नहीं होता । ५. जैसे किसी के प्रति अरुचि रखने पर वह हमारा सहवास छोड़ देता है या कभी साथ में रहने का प्रसंग भी आता है तो वह प्रीति नहीं जताता—अपने से अलगाव ही रखता है । वैसे ही कषायों में तीव्र अरुचि से कषायों का संग अल्प हो जाता है । कदाचित् संग होता भी है तो अपने में डुबा नहीं सकता ।

परिच्छेद का उपसंहार

एवं भाव-विहीण, कसा कसाया हवन्ति वान्नाहि ।

भावोल्लासम्मि कया वट्ठन्ति खयंप्पि काउं ते ॥१३६॥

इस भाव-विधि से या अन्य (= द्रव्यादि) विधियों से कषाय कुश होते हैं । वे (कषायों की दुर्बलता के भाव साधन) कभी भावों के तीव्र उल्लास में (उन्हें) क्षय करने के लिये भी प्रवृत्त होते हैं ।

टिप्पण—१. कषायों को दुर्बल करने की वर्णित विधि भाव-विधि है । प्रधान विधि यही है । २. अनुभवियों ने द्रव्य आदि विधियाँ भी कही हैं । एक अनुभवी ने अपना अनुभव लिखा — ‘मुझे क्रोध बहुत आता था । मैंने उसे क्षीण करने के लिये आहार पर संयम किया, परिमित रोटियाँ पानी में भिगोकर खाने लगा । और कुछ भी नहीं खाता । लगातार तीन महिने तक ऐसा करता रहा । तब मेरा क्रोध कम हुआ और उस पर नियन्त्रण पाया । क्योंकि एक वासना को जीतने पर अन्य दोषों को क्षीण करने की सामर्थ्य उत्पन्न होता है ।’ यह कषाय को दुर्बल करने की द्रव्यविधि है । ऐसी अन्य विधियाँ भी हो सकती हैं । ३. क्षेत्रविधि अर्थात् क्रोधादि को प्रबल करनेवाले स्थान से दूर हट जाना और क्षमा आदि उत्पन्न करने में हेतु रूप स्थान पर रहना । ४. कालविधि अर्थात् क्रोधादि उत्पन्न होने के क्षणों को टालना । ५. ये आठ भाव-कारण प्रधान रूप से कषायों को दुर्बल करते हैं । किन्तु कदाचित् भावोल्लास विशेष तीव्र होने पर ये कषायों के

वश और क्षय करने के हेतु भी हो सकते हैं। कभी इनसे वशीकरण और क्षयकरण के हेतुओं का उद्भव भी हो सकता है।

इन्हें कैसे भी किया जा सकता है—

चित्तिय वड्य पढिय वा, आसंतो वा करे चरंतो ते ।

तेसु ण पडिबंधो खलु, तहवि पहो विहिपरो होइ ॥१३७॥

उन्हें चिन्तन करके, बोलकर या पढ़कर बैठे हुए या चलते हुए करें—
इन (भावों) में वस्तुतः कोई प्रतिबंध नहीं है। फिर भी मार्ग तो विधि-
परक ही होता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में इन भाव-हेतुओं के सेवन के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि इनके लिये किसी विशेष विधि का प्रतिबंध नहीं है। २. प्रथम प्रकार मानसिक चिन्तन रूप है। इन्हें पहले पढ़कर समझ लें। फिर अपनी इच्छानुसार अपने भावों में इनकी मौन रूप से अनुवृत्ति की जा सकती है। ३. दूसरी विधि है—बोलकर करने की। इन भाव हेतुओं का स्वरूप समझने के पश्चात् अपने कानों को सुनाई दे—इसप्रकार बोलकर करना। ४. यदि याद नहीं रह पाये तो भावों का आलेखन कर लेना चाहिये। फिर उन्हें पढ़ते हुए भी आराधना की जा सकती है। ५. वा शब्द से सूचित होता है कि किसी से सुनकर भी किये जा सकते हैं अर्थात् कोई सूचन करे और आप स्वयं भावानुवृत्ति करते जायँ। भावानुवृत्ति तो सभी विधियों में आवश्यक है। ६. इन्हें करने के लिये अमुक आसन आदि का भी कोई बन्धन नहीं है। बैठकर या चलते-फिरते हुए भी इनका अभ्यास किया जा सकता है। बैठना अर्थात् आसन। खड़े, बैठे और सोये हुए आसन से किये जा सकते हैं। ७. यद्यपि अभ्यास के लिये कोई भी विधि नियत नहीं है, तथापि कोई भी अभ्यास व्यवस्थित होना चाहिये और व्यवस्थित अभ्यास ही मार्ग होता है। मार्ग तो विधिपरक ही होता है।

व्यवस्थित विधि और विकल्प—

ठिच्चा सुहासणे ता णिच्च करे उज्जमं मणेण सुही ।

जइ वा ण होइ सबको किंचि कयाइ वि मणं जुंजे ॥१३८॥

इसकारण बुद्धिमान (साधक) सुखासन में स्थित होकर सदा ही मनोयोग पूर्वक उद्यम करे । यदि यह शक्य नहीं है तो कभी भी कुछ भी मन को (साधना में) जोड़े ।

टिप्पण—१. आधी गाथा में विधि का कथन किया गया है । विधि में तीन बातें प्रमुख हैं—स्थिरआसन, निरन्तरता और मौन चिन्तन । २. उत्थित या उपविष्ट आसन । उत्थित आसन अर्थात् जिनमुद्रा या कायोत्सर्ग मुद्रा । उपविष्ट आसन—पद्मासन, पल्यंकासन, अर्ध-पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि सुखपूर्वक बैठा जा सके वैसा आसन । ३. मौनपूर्वक मानसिक चिन्तन सर्वोत्तम है । किन्तु मानसिक चिन्तन सबके लिये सहज नहीं है । निरीक्षण के सिवाय अन्य भाव हेतु अन्य रूप से भी किये जा सकते हैं । किन्तु निरीक्षण तो मौन रूप से ही करना होता है । ४. नित्य शब्द साधना की निरन्तरता का विधान करता है । कोई भी साधना निरन्तर होती है । तभी उसका प्रभाव अनुभव में आता है । ५. प्रश्न—क्या कषाय-स्वरूप का भी सदा चिन्तन करना चाहिये ? उत्तर—हाँ, लम्बे समय तक स्वरूप चिन्तन से अपने भीतर के कषायों के निरीक्षण की योग्यता पैदा होती है और कषायों के विविध रूप पकड़ में आते हैं । कषायों के सभी रूपों का कथन शक्य नहीं है । अतः स्वरूप-चिन्तन करते हुए अनुक्त कषाय-स्तरों का बोध होता है और उन्हें निर्मूल करने की विधि का भी । ६. ये भाव-हेतु आन्तरिक पुरुषार्थ हैं । अतः इन्हें करने के लिये आन्तरिक बल अपेक्षित रहता है । इसीकारण इनके अभ्यास को भी उद्यम कहा गया है । ७. यह भाव-उद्यम करना और वह भी विधि-पूर्वक सहज नहीं है । क्योंकि इसमें करने जैसा कुछ लगता नहीं है और साधना वैसे भी नीरस या एक रस प्रक्रिया होती है । अतः रस-

भोगी चञ्चल मन उसे नहीं कर पाता है। इस साधना को करने के लिये उत्कट संकल्प बल चाहिये। ८. जड़वा....चरण से साधना-विधि की दुःशक्यता या दुर्बल मनवालों के लिये अशक्यता का संकेत किया है। ऐसे जनों के लिये अगले (चतुर्थ) चरण में विकल्प का विधान कर दिया है। उसके लिये आसन, मौन आदि किसी का भी बन्धन नहीं है। परन्तु जैसे भी वह साधना में मन लगा सकता हो, वैसे लगाये। ९. उन भावों के पोषक संगीत का गान, किसी गाथा के एकाध चरण का चिन्तन, अपने नाम के सम्बोधन पूर्वक अपने आपको अपना आदेश आदि विषय के विकल्प हैं। चलते, उठते-बैठते आदि आसन के विकल्प है। जब भी ध्यान आया तब मन को साधना में जोड़ना—समय का विकल्प है। १०. मन नहीं लगे तो निराश नहीं होना, परन्तु कुछ न कुछ भाव-पूर्वक अवश्य करना। ११. साधना का तत्काल प्रभाव न दिखाई दे तो भी साधना की उत्सुकता बनाये रखना। कभी-कभी ही हो सके तो भी करना।

विधि या अविधि से भी अभ्यास क्यों करना चाहिये—इसका कारण—

अण्णाणेण कसायाणं, जाई बुड्ढी हवंति णं ।

णाणेण सुवियारेहिं, बुद्धे मणे पहीयए ॥१३९॥

अज्ञान से कषायों की उत्पत्ति और वृद्धि अवश्यमेव होती है और ज्ञानसे तथा उत्तम विचारों से मन के प्रबुद्ध होने पर (कषाय) क्षीण होते हैं।

टिप्पण—१. कषाय की उत्पत्ति और वृद्धि का प्रमुख हेतु अज्ञान है। यद्यपि कषाय के उदय का आशय मोहकर्म का उदय है और मोहकर्म के उदय में मोहकर्म ही कारण होता है, फिर भी अज्ञान के कारण उनका उदय-निरोध और उदयविफलीकरण न होने से यहाँ अज्ञान को ही हेतु कहा है। २. अज्ञान अर्थात् विकृत समझ, समझ की कमी और अविचार या कुविचार। ३. ज्ञान शब्द का प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ है—कषायों का स्वरूप-बोध आदि

और सुविचार शब्द का अर्थ है—कषाय-स्वरूप आदि का पुनरपि पुनः चिन्तन । सामान्य रूप ज्ञान शब्द का अर्थ है—सही समझ या तत्त्वबोध और सुविचार शब्द का अर्थ—शुभ या प्रशस्त भावों का अभ्यास । ४. बुद्धमन अर्थात् जाग्रत और सुसंस्कृत मन । ज्ञान से मन जाग्रत और सुविचार से मन संस्कारित होता है । ५. जाग्रत मन उदित होते हुए कषायों को जान सकता है । अतः उन पर नियन्त्रण सहज ही हो सकता है । ६. सुसंस्कृत मन सबल होता है । अतः वह अपने ऊपर कषायों को हावी नहीं होने देता है । ७. कषायों में नहीं बहने और उनकी सत्ता अपने ऊपर नहीं चलने देने से वे क्षीण होने लगते हैं । ८. ज्ञान और सुविचार कषाय की दुर्बलता में परमावश्यक हैं ।

धैर्यवान ही अभ्यास कर सकता है—

एवं कसायम्मि दुहं धरंतो, पावं मुणंतो अरइं वहंतो ।
पीइं जिणिंदम्मि मइं करंतो, धीरो कसायं खु किसं करेइ ॥१४०

इसप्रकार धीर पुरुष कषाय में दुःख धारण करता हुआ, पाप समझता हुआ, अरति भाव वहन करता हुआ और जिनेन्द्रदेव में प्रीति और मति करता हुआ कषाय को कुश करता है ।

टिप्पण—१. एवं अर्थात् ऊपर बताये गये भाव-साधनों के अभ्यास से । २. कषायों का सही स्वरूप समझ में आने पर और उस बोध के स्थिर रहने पर ही वे दुःखरूप लगते हैं और उनसे प्रेरित प्रवृत्ति से दुःख होता है । कषायों और उनके वशीभूत होने में तीव्र दुःखानुभव होता है, तभी उन्हें त्यागने की बुद्धि होती है । ३. 'कषाय पाप है'—यह प्रतीति होना चाहिये और जो भी पाप हैं, वे सब अकरणीय हैं—यह निर्णय भी दृढ़ रूप से होना चाहिये । ४. पापों में अरुचि ही उनके क्षय का प्रधान हेतु है । ५. 'कषायम्मि दुहं'—पद से स्वरूप-चिन्तन आदि हेतुओं को, मुणंतो शब्द से निरीक्षण को तथा अरइं पद से अन्तिम हेतु को ग्रहण करके, सभी हेतुओं को ग्रहण कर लिया है । ६. 'जिनत्व' के अस्तित्व के विषय में बौद्धिक निर्णय करना

आवश्यक है। 'निर्विकार-चैतन्य' के विषय में निष्प्रकंप बुद्धि-अटल अडिग बुद्धि कषाय की दुर्बलता की जननी है। ८. परम पुण्य के प्रकर्ष में एकदम निर्लिप्त-परम वीतराग होते हैं, जिनेन्द्रदेव। उनके वीतराग-स्वरूप और उनकी आज्ञा की निर्दोषता में मति सुदृढ़ होना चाहिये। जिनेन्द्र प्रभु के प्रति 'मति करने' का यही आशय है। ९. जिनेन्द्रदेव में उनके शुद्धत्व के कारण साधक के हृदय में प्रीति उत्पन्न होती है और श्रद्धा और भक्ति के रूप में परिणत होती है। १०. जिनेन्द्रदेव में प्रीति से उनकी आज्ञा में भी प्रीति उत्पन्न होती है। वीतराग और उनकी आज्ञा में प्रीति कषाय की दुर्बलता में हेतु बनती है। ११. जिनेन्द्रदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति से—'परमाराध्य के भाव से वे ही शरण ग्रहण करने योग्य हैं'—यह भाव उत्पन्न होता है। सिद्ध आदि की शरण-ग्रहणता भी इस भाव में गर्भित हो जाती है। १२. अरिहन्त भगवान आदि अचिन्त्य सामर्थ्य-सम्पन्न होते हैं। उनके शरण-ग्रहण से साधक आत्मा में भी प्रबल शक्ति उत्पन्न होती है। १३. कषायों के स्वरूप आदि के चिन्तन मात्र से कषाय निर्बल नहीं हो पाते हैं। क्योंकि स्वरूप-चिन्तनादि मात्र से अहंकार का विसर्जन नहीं होता है। इसलिये सात्त्विक बल पैदा नहीं होता है। १४. चार शरण ग्रहण से अहंकार-विसर्जन होता है—अपने बल का मद विनष्ट होता है। जिससे आत्मबल में तीव्रता उत्पन्न होती है। अतः कषाय तीव्रता को प्राप्त नहीं कर पाता। १५. जिनेन्द्र-देव में मति लगाने से ज्ञान और प्रीति लगाने से भाव विशुद्ध होता है। १६. धीर पुरुष ही कषायों को दुर्बल करने में सफल होता है। उपायों की सफलता न देखकर जो हारता नहीं है वही अभ्यास कर सकता है और अभ्यास से ही सिद्धि होती है।

तईओ परिच्छेओ-वसीकरण

(कषायों को वश करना)

कषाय के उदय में जीव की परवशता—

कसायमोहणिज्जस्स, हवइ उदओ जया ।

ण जीवस्स वसे जोगा, ठंति चलइ वीरियं ॥१॥

जब कषाय मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब योग (=मन, वचन और काया के व्यापार) जीव के वश में स्थिर नहीं रहते हैं और वीर्य भी चलायमान हो जाता है।

टिप्पण—१. मन आदि का व्यापार वीर्यान्तर कर्म के क्षयोपशम से उपलब्ध वीर्य से होता है। २. वीर्य अर्थात् शक्ति, उत्साह। शक्तिमान आत्मा ही स्वाधीन रह सकता है, दुर्बल नहीं। ३. एक राज्य दूसरे राज्य पर अधिकार जमाने के लिये पहले उसकी शक्ति को तौलता है। फिर उसकी शक्ति को तोड़ता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है। ४. कषाय भी उदय में आकर जीव के वीर्य को विचलित कर देता है और समता रूप शक्ति को तोड़ देता है। ५. हतवीर्य होने पर जीव निष्प्रभ हो जाता है। उसकी अपने पर भी प्रभुता नहीं रह पाती है। अतः उसका मन आदि का व्यापार उसके स्वाधीन नहीं रहता है। ६. कषाय से रंजित चेतना से उसका व्यापार चलता है। अतः कषायों का ही प्रभुत्व छा जाता है। जिससे कषाय से प्रेरित ही उसके समस्त कार्य होने लगते हैं। ७. जीव इसप्रकार कषायों के वशीभूत हो जाता है। अतः उस समय उसका प्रत्येक व्यापार उससे ही संचालित होने लगता है।

कषाय के जेता विरले हैं—

सोहं जेउं जगे वीरा, भड़े जेउं पि केइ य ।

भूमीए को समत्थोऽत्थि, कसायं जो वसं करे ॥२॥

सिंह को जीतने के लिये जगत् में (कई) वीर हैं और योद्धाओं को जीतने के लिए भी कई (समर्थ) हैं। किन्तु भूमि पर कौन समर्थ (पुरुष) है, जो कषाय को वश में करे।

टिप्पण—१. सिंह क्रूर और खूंखार प्राणी है। परन्तु मनुष्य उसे जीतकर उससे दासवत् काम लेता है। २. रण-बाँकुरे योद्धाओं को एक क्षण में जीत लेनेवाले समर्थ पुरुष भी इस संसार में मिलने कठिन नहीं हैं। ३. कषाय हृदयगत भाव हैं। किन्तु जब इनका धावा मनुष्य पर होता है, तब वह अत्यन्त दीन बनकर उन्हीं के हाथ की कटपूतली बन जाता है। ४. अधिकांश संसारी जीवों की ऐसा दशा है। कोई विरले मनुष्य ही उन पर जय प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि उन्हें जीतने के लिये शारीरिक नहीं, आन्तरिक बल चाहिये।

कषाय-जय का स्वरूप—

रोहो उदितकामस्स, न उदिए हि बुड्ढणं ।

वसीकारो कसायस्स, वावारं च अदूसए ॥३॥

उदित होने में तत्पर कसाय को (उदित होने से) रोक देना, उदित होने पर (उसके प्रवाह में) नहीं डूबना और (अपने) व्यापार अर्थात् व्यवहार को दूषित नहीं होने दे — यह कषाय को (अपने) वश में करना है।

टिप्पण—१. कषायों के निमित्त मिलने पर उन्हें उदय में ही नहीं आने देना — यह कषायजय का प्रथम प्रकार है। २. कषाय के उदय में आ जाने पर उन्हें तीव्र नहीं बनने देना और उनमें अपने भान को नहीं खोना—यह कषायजय का दूसरा प्रकार है। ३. अभ्यास से चेतना को सजग कर लेने पर ही कषाय-प्रवाह में जीव नहीं बहता है। क्योंकि कर्मस्थिति पूर्ण होने पर उदयावलिका में प्रविष्ट हो जाने पर उसके उदय को निरोध नहीं किया जा सकता है। किन्तु उसमें विवेक खोकर बेभान न बने तो कषाय जीव पर हावी नहीं हो सकता है। ४. कदाचित् उदय प्रबल होता है तो पूर्णतः

भान स्थिर नहीं रह पाता है। परन्तु उस समय अपने व्यवहार को उसके कारण दूषित न होने दे। यदि तात्कालिक रूप से ऐसा न हो सका हो, तो बाद में अपने व्यवहार का परिशोधन कर ले — ऐसे गलत व्यवहार को लम्बे समय तक नहीं चलने दे — यह कषायजय का तीसरा प्रकार है।

आपने सब कषायों को जीत लिया

एक श्रेष्ठी निःसंतान थे। वे पुत्र दत्तक लेना चाहते थे। किन्तु कोई बालक या युवक उनके यहाँ नहीं टिक पाता था। क्योंकि उनका स्वभाव अति उग्र था। ऐसे कई बालक बड़े प्रसन्न मुख से उनके घर आये और उदास होकर चले गये।

उनका एक सगोत्रीय था। जो उन्हें बड़े भाई के तुल्य मानता था। वह जो भी कोई विशिष्ट कार्य करता तो प्रायः उनकी राय लेता था। उसके चार पुत्र थे। श्रेष्ठी की दृष्टि उसके चौथे पुत्र पर गयी। तीन पुत्रों का विवाह हो चुका था। चौथा पुत्र अभी युवावय में प्रवेश ही कर रहा था। उसका नाम किशोर था।

एक दिन श्रेष्ठी ने वार्तालाप के प्रसंग में अपने सगोत्रीय से कह दिया—
“तुम मुझे भाई-भाई तो करते हो। किन्तु भाई की इच्छा पूरी करो तब तब तुम्हारा भातृत्व सच्चा मानूँ।” उसने कहा—“मैंने आपकी बात का उल्लंघन कब किया? जो आज्ञा हो सो फरमाओ।”

श्रेष्ठी ने कहा—“कहना सरल है। करना मुश्किल है।”

“कहो भी तो सही। क्या आज्ञा है? आपके कहे अनुसार करूँगा।”

“तुम्हारे चार पुत्र हैं। उनमें से एक को मुझे दत्तक दो।”

यह बात सुनकर सगोत्रीय काँप उठा। वह श्रेष्ठी के स्वभाव को भली-भाँति जानता था। वह अपने पुत्र को उनके यहाँ गोद देकर उसे दुःखी करना नहीं चाहता था। किन्तु वह वचन में बंध गया था। अतः वह बोला—

“सब आपके ही हैं। आप जिसे चाहें, उसे अपने पास रख लीजिये। यदि वे रहना चाहेंगे तो मैं मना नहीं कहूँगा।”

“मुझे किशोर बहुत पसंद है।” “अच्छा !”

उसने किशोर से सारी बात कही। किशोर को पिता की बात पहले तो बहुत बुरी लगी। फिर उसने पिता की परिस्थिति समझी और सोचा—‘कहीं पर रहें। रहना है मर्यादा से और आप भला तो जग भला।’ क्षण भर बाद ही किशोर बोला—“पिताजी ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपको अपने लाड़ले किशोर की जरा भी शिकायत सुनने को नहीं मिलेगी।” प्रसन्न होकर पिता बोले—“किशोर ! मुझे तुझसे यही आशा थी। जाओ, यह भी जीवन की एक कसौटी है। इस कसौटी पर तुम सौ टंच सोने की तरह खरे उतरना, वत्स !”

किशोर रहने के लिये श्रेष्ठी के घर आ गया। किशोर ने अपने भक्ति-पूर्ण व्यवहार से श्रेष्ठी दम्पति का मन मोह लिया। किशोर दक्ष और व्यवहार-कुशल युवक था। उसका स्वभाव परम मधुर था तथा कार्य करने में जरा भी प्रमाद नहीं था। कठोर से कठोर बात सुनकर भी वह शान्त रह सकता था और अपने व्यवहार को संयत रख सकता था। फिर अपने मन पर भी कोई असर नहीं रहने देता था। श्रेष्ठी उसपर पूर्णतः मुग्ध हो गये। उन्होंने उसे विधिवत् गोद ले लिया और उसके लग्न भी कर दिये।

शान्ति से जीवन की गाड़ी चल रही थी। परन्तु कभी-कभी श्रेष्ठीजी के उग्र स्वभाव के कारण दुःखमय वातावरण बन जाया करता था। यद्यपि किशोर के विनोदी स्वभाव के कारण वातावरण लम्बे समय तक तंग नहीं रह पाता था, फिर भी वह अब यह चाहने लगा था कि पिताजी का माथा थोड़ा शान्त रहे तो अच्छा।

एक बार एक महान् संत का पदार्पण हुआ। लोग उनके प्रवचनों से बड़े प्रभावित थे। पिता-पुत्र दोनों प्रवचन में गये। मुनिराज ने क्रोध कषाय से होनेवाले अनिष्टों का चित्रण करते हुए उसके परित्याग का प्रभावशाली प्रेरक उपदेश दिया। किशोर ने अच्छा अवसर देखा। प्रवचन के पश्चात्

वह एकदम व्याख्यान में खड़ा हो गया और बोला—“गुरुदेव ! काकाजी को क्रोध के प्रत्याख्यान करवा दीजिये ।”

लोगों ने सोचा—“किशोर कैसी गलती कर रहा है ? यह बात क्या सभा में कहने की होती है ? अभी बिजली कड़केगी ! अभी तूफान आयेगा !” और सचमुच में श्रेष्ठी के लिये किशोर के वचन पारा ऊँचा चढ़ने में पर्याप्त कारण था । किन्तु श्रेष्ठी पर कुछ तो उपदेश का प्रभाव हुआ और कुछ किशोर के भक्तिपूर्ण मधुर व्यवहार से वे अपनी दुर्बलता को दुर्बलता रूप में समझने लग गये थे । अतः उन्होंने सोचा—“ठीक ही तो कह रहा है, किशोर ! बहुत किया है क्रोध ! अब बस करें । क्रोध नहीं करेंगे । क्या हानि होगी उससे ?”

वे खड़े हो गये । दोनों हाथ जोड़कर लोगों को आश्चर्य में डालते हुए विनम्र शब्दों में बोले—“गुरुदेव ! करवा दीजिये — जीवनभर के लिये क्रोध करने के प्रत्याख्यान !” मृतिराज ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—“श्रेष्ठीजी ! सदा के लिये क्रोध के प्रत्याख्यान कैसे होंगे ? क्रोध का तो विवेक करना होता है ।”

श्रेष्ठीजी ने आग्रह-पूर्वक कहा—“जैसे एक दिन के बड़े क्रोध के प्रत्याख्यान करवाते हैं कि नहीं ! वैसे ही जिंदगी भर के करवा दीजिये । बहुत कर लिया क्रोध ! बहुत लाड़ लड़ाये उसे ! अब बेटे की भी बात रहे ।”

संत ने उन्हें ‘उपयोग सहित बड़े क्रोध करने के प्रत्याख्यान’ करवा दिये । किशोर भी आश्चर्य-चकित रह गया । किन्तु वह समझा कि ‘पिताजी ने अपना स्वाभिमान रखने के लिये प्रत्याख्यान ले लिये हैं । क्या यह नियम निभा भी पायेंगे ? जो भी हो — अभी तो इन्होंने प्रत्याख्यान ले ही लिये हैं । परन्तु ये इस प्रत्याख्यान में कितने अडिग रहेंगे — यह तो अवसर आने पर ही पता लगेगा । मुझे इनकी परीक्षा लेना चाहिये ।’

अब किशोर ने सीधा बोलना ही बंद कर दिया । आड़ा बोलना । टेढ़ा चलना । बात-बात में चिढ़ना । परन्तु श्रेष्ठी पूरे शान्त थे । वे सोच

रहे थे — 'मैं भी तो कभी ऐसा ही करता था । जैसे पहले ये लोग सहते थे; वैसे ही अब मुझे सहना चाहिये ।'

एक बार किशोर ने जान-बूझकर एक बहुमूल्य वस्तु विनष्ट कर दी । श्रेष्ठी ने यह देखा । उस वस्तु पर उनकी ममता भी थी । और समय होता तो किशोर की खैर नहीं रहती । किन्तु अब वे क्रोध के प्रत्याख्यान थे । अतः उन्होंने सोचा—'इस धन-वैभव का मालिक अब यही है । मैं तो अब कुछ दिन का महमान हूँ । अपने पदार्थ की सुरक्षा करे या न करे — इसकी इच्छा ! अपने को क्या ?'

किशोर तो मानों इस पर तुला हुआ ही था कि पिताजी कैसे भी क्रोध करें ! अब श्रेष्ठी भी मन ही मन में समझ गये कि 'किशोर इतना नादान नहीं है कि वह अपनी हानि करे ! लगता है कि यह मुझे क्रुद्ध करने के लिये ही उल्टे-सीधे कार्य करता है । अच्छा है, करने दो परीक्षा । मैं पास होता हूँ या नहीं — यह मुझे भी देखना है ।'

श्रेष्ठी को बिना पूछे ही एक बड़े भोज का आयोजन कर दिया । यह श्रेष्ठी का बहुत बड़ा अपमान था । ऐसे अपमान को सहना सरल नहीं था । फिर भोज भी बिना किसी प्रयोजन के किया था । श्रेष्ठीजी को यद्यपि यह बात जरा भी अच्छी नहीं लगी थी । फिर भी उन्होंने सरलता से सोचा—'अच्छा है, मुझे नहीं पूछा तो ! अब किशोर सयाना है । क्या करना—क्या नहीं करना—इसका इसे विवेक है । मुझे पूछता तो मुझे अनुमति देनी ही होती । नहीं पूछा तो आरंभ का भागीदार तो नहीं बना !' वे कुछ नहीं बोले ।

किशोर को आश्चर्य हो रहा था — श्रेष्ठी के अक्रोध पर !

भोजन करने के लिये लोगों की पंक्तियाँ लग चुकी थीं । लोगों के आग्रह से श्रेष्ठीजी भी भोजन के लिये उन्हीं के साथ बैठ गये । किशोर भोजन परोसने लगा । वह पिता की थाल में कुछ भी न परोसकर आगे बढ़ गया । लोगों ने इस ओर ध्यान दिलाया तो उसने पंसेरी लाकर थाली में रख दी । लोगों को किशोर की धृष्टता अच्छी नहीं लगी । वे उस पर नाराज हो रहे थे और कलेजा थामकर ज्वालामुखी के फटने की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

श्रेष्ठी ने सबको आश्चर्यचकित करते हुए शान्त स्वर में कहा—“आप नाराज न होइए। मेरा पुत्र बड़ा समझदार है। इसने मुझे अपना—कर्तव्य याद दिलाया कि पहले महमानों को भोजन कराया जाये और घर का स्वामी बाद में भोजन करे। मैं आपसे हाथ जोड़कर विनय सहित प्रार्थना करता हूँ कि आप सभी जन प्रेम से भोजन करिये।....”

कोई बीच में बोल उठा—“अपमान की भी कोई सीमा है ! अरे ! आपको पंसेरी परोसी !”

“पंसेरी !”—श्रेष्ठी मधुरता से हँसते हुए बोले—“इसमें कोई अपमान नहीं। हम व्यापारी तो बाटों से खेलनेवाले हैं। जिदगी भर मैं भौतिक पदार्थों को बाटों से जोखता रहा। अब जीवन को जोखना है—यह याद दिलाया है, किशोर ने....”

किशोर यह बात सुनकर गद्गद हो गया। उसकी आँखों में हर्ष के अश्रु भर आये। वह अवरुद्ध कण्ठ से श्रेष्ठीजी से क्षमा-याचना करते हुए बोला—“पिताजी ! आप मुझे क्षमा करें। आप धन्य हैं, तात ! मैंने आपकी अति कड़ी परीक्षा की ? आपने मात्र क्रोध कषाय को ही नहीं जीता। आपने मान आदि सभी कषायों को जीत लिया। आप जैसे महापुरुष को पिता के रूप में पाकर मैं धन्य हो गया।” यह कहते हुए वह श्रेष्ठीजी के चरणों में झुक गया।

“वत्स ! मुझे संतोष है कि मैं तुम्हारी परीक्षा में पास हो गया”—उन्होंने किशोर को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया। किशोर की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। पुत्र को सीधा खड़ा करते हुए पिता ने कहा—“छीः ! छीः ! किशोर ! तुम रोते हो ! वत्स ! मैं धन्य हो गया—तुमसा ज्ञानी पुत्र पाकर ! तूने तो मेरी दुर्गति के ताले ही जड़ दिये....”

“पिताजी ! मुझे क्षमाSS.... !” किशोर आगे नहीं बोल सका। श्रेष्ठीजी ने अपने दुपट्टे से उसके अश्रु पोंछते हुए कहा—“मैंने तो कभी से तुम्हें क्षमा कर दिया, वत्स ! परीक्षक पर कहीं क्रोध किया जाता है ?”

लोग दाँतों तले अंगुली दबाये आश्चर्य से यह दृश्य देख रहे थे ।

यह कथानक कषाय-जय के प्रथम प्रकार को स्पष्ट करता है ।

झगड़े की जगह झगड़ा है

इंदौर के सर सेठ हुकुमचन्दजी दिगम्बर जैनधर्म के आस्थावान अनुयायी थे । उनके समाज में किसी प्रश्न को लेकर दो दल हो गये थे । एक के नेता थे — स्वयं सेठजी और दूसरे दल के नेता थे — उनके ही सदृश प्रतिष्ठित सज्जन । वातावरण उग्र था । तनातनी बढ़ती जा रही थी । तभी एक घटना घट गयी । विरोधी दल के नेता की अफ्रीम चीन की ओर जाती हुई नेपाल की सीमा में पकड़ी गयी । इस विषय में सर सेठ की गवाही होने-वाली थी । विरोधी नेता मन ही मन दुःखी थे । क्योंकि सर सेठ की गवाही पर ही उनके निरपराध छुटने की आशा थी । पर इस समय वे उनके विरोधी थे ।

सर सेठ के दलवालों ने सेठ से कहा—“बदला लेने का अच्छा अवसर है ।” सेठजी ने कहा—“क्या कहा ? इतनी नीचता पर मैं नहीं उतर सकता । मतभेद के स्थान पर मतभेद हैं । हमारे मतभेद समाज में हैं, अन्य स्थान पर नहीं ।” और सेठजी ने अपने वचन के अनुसार समुचित गवाही दी । जिससे विरोधी दल के नेता की बहुत बड़ी हानि होते-होते बच गयी । फिर सामाजिक समस्या भी हल हो गयी ।

यह घटना — प्रसंग दूसरे प्रकार के कषाय-जय को स्पष्ट करता है ।

आपने ठीक कहा

अवन्ति-नरेश चन्द्रप्रद्योत कामुकता से प्रेरित होकर कई बार अनुचित कार्य कर बैठता था । उसने सिंधुदेश के सम्राट् उद्दायण की स्वर्णगुलिका नाम की दासी का, उसके सौन्दर्य से पराभूत होकर, अपहरण कर लिया ।

राजा उदायण को इससे बड़ा खेद हुआ । यह उसके पराक्रम के लिये बहुत बड़ी चुनौती थी । उसने उस चुनौती को स्वीकार किया ।

सिन्धु-नरेश ने अवन्ति-नरेश को घेर लिया । अवन्ति की सेना को हारना पड़ा । सिन्धु-नरेश ने चण्डप्रद्योत को बंदी बना लिया और उसके माथे पर—‘ममदासीपति—ये अक्षर अंकित कर दिये और वह अपने देश की ओर चल पड़ा । बीच में वर्षाकाल आ गया । मार्ग अवरुद्ध हो गये । पूरी सेना का आगे बढ़ना संभव नहीं रहा । अतः उचित स्थान पर डेरे डाल दिये गये ।

वर्षाकाल में पर्युषण का समय आया । उदायण भ. महावीरदेव के उपासक थे । उन्होंने पर्युषण पर्व की आराधना की । प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने प्रद्योत राजा से क्षमा-याचना की । कैद में पड़ा हुआ राजा प्रद्योत हँसा और बोला—“यह कोई क्षमा-याचना की विधि है क्या ? मुझे बंदी-खाने में डालकर क्षमा मांग रहे हो ? यह सही क्षमा-याचना है क्या ?”

तब उदायण ने कहा—“आपने ठीक कहा । मैं अब सही रूप से क्षमा-याचना करूँगा ।” राजा उदायण ने उसके बन्धन खोल दिये । स्वर्णगुलिका उसे समर्पित कर दी और मस्तक के अक्षरों को ढँकने के लिए स्वर्णपट्ट प्रदान किया ।

यह दृष्टान्त कषायजय के तीसरे प्रकार को स्पष्ट करता है ।

कषाय-वशीकरण की भूमिका—

किसीकाउं उवाया जे, कित्तिया तेहि भूमिया ।

णिट्टाविया वसीकाउं, कित्तइस्सं च कारणं ॥४॥

(कषायों के) कृश करने के जो उपाय कहे गये हैं, उनके द्वारा (कषाय) वशीकरण की भूमिका निर्मापित की (जाती है या) की गयी और वशीकरण का कारण कहूँगा ।

टिप्पण—१. कषाय दुर्बल होते हैं, तभी उन्हें वश में किये जा सकते हैं । इसलिये उन्हें कृश करने के कारण कषाय को वश में करने के लिये भूमिका तैयार करते हैं । २. इस गाथा में वशीकरण के सभी उपायों को कषाय-वशीकरण रूप सामान्य गुण के कारण एक कारण के रूप में माना है तथा पद्यबद्धता भी इसमें एक कारण है ।

कषायवशीकरण के उपाय—

^१दंसणं ^२पडिसंलीणा, ^३इच्छच्चाओ ^४अदीणया ।

^५आणस्सई ^६य दिट्ठं ता, ^७विरोही-भाव-लीणया ॥५॥

^८हिट्ठया गुरु-आणाए, ^९कसाय-विवाग-चित्तणं ।

एवमाई उवाया-त्ति, कसाय-वस-कारणा ॥६॥

दर्शन, प्रतिसंलीनता, इच्छा का त्याग, अदीनता, (जिन-) आज्ञा की स्मृति, दृष्टान्त और (कषाय) के विरोधी भावों में लीनता ।

गुरु की आज्ञा में प्रसन्नता, कषाय-विपाक का चिन्तन—ये और इस-प्रकार के और कोई भाव कषायों को वश करनेवाले उपाय हैं ।

टिप्पण—१. इन दो गाथाओं में कषाय-वशीकरण के नव उपायों का उल्लेख करके नव द्वारों का उल्लेख किया है और इनके सिवाय और भी कोई उपाय हो सकते हैं—यह संकेत किया है । क्योंकि समस्त उपायों का कथन केवली भगवान् और श्रुतकेवली स्थविर भगवान् ही कर सकते हैं । २. दर्शन अर्थात् चित्त लगाकर देखना-निरीक्षण करना । प्रतिसंलीनता अर्थात् कषायों के कारणों से टलना या उन निमित्तों में रहते हुए भी कषायों को उदय में नहीं आने देना । इच्छात्याग अर्थात् किसी भी प्रकार की अंशमात्र भी इच्छा नहीं रखना । अदीणया अर्थात् आत्म-ऐश्वर्य का स्मरण करके

दीनभाव का परित्याग करना । आज्ञास्मृति अर्थात् जिनेश्वरदेव की आज्ञा को याद रखना । दृष्टान्त अर्थात् कषाय-जय के कथानक, घटना-प्रसंगों, चरित्रों आदि को सुनना आदि । विरोधि-भावलीनता अर्थात् कषाय के विरोधी भावों का अभ्यास करना । गुरु-आज्ञाहृष्टता अर्थात् गुरुजनों-रत्नाधिकों के द्वारा प्रदत्त आज्ञा में प्रसन्नता का अनुभवकरना । कर्म-विपाक-चिन्तन-दुःख, सुख, हानि, यश, अपयश आदि अपने ही कर्मों के फल हैं—ऐसा चिन्तन करना । ३. इन उपायों से कषायों को बहुत कुछ वश में किये जा सकते हैं । जिन-प्रज्ञप्त भावों में से ही इन उपायों को एकत्रित करके ही इनका वर्णन किया गया है । जिन-आगम तो महासागर है । उनमें अवगाहन करते हुए जो रत्न हाथ लगे, उन्हें यहाँ सजा दिया गया है । ४. 'आदि' शब्द से साधकों की जिनागम-सागर में अवगाहन की स्वतंत्रता सूचित की है अर्थात् साधक जिनागम रूप महासागर में अवगाहन करते हुए ऐसे अन्य भावरत्नों को प्राप्त कर सकते हैं ।

१. दर्शन द्वार

दर्शन के भेद-प्रभेद—

दंसणं तिविहं वुत्तं, बज्झस्संतस्स चप्पणो ।

पसंग-सास-देहाणं, पेहणं बज्झ-दंसणं ॥७॥

दर्शन तीन प्रकार का कहा गया है—बाह्य का, भीतर का और आत्मा का । प्रसंग, श्वास और देह का प्रेक्षण बाह्यदर्शन है ।

टिप्पण—१. दर्शन अर्थात् अपनी चेतना के द्वारा देखना—निरीक्षण करना । २. दृश्य पदार्थों की अपेक्षा से दर्शन के तीन भेद होते हैं । वुत्तं अर्थात् ज्ञानियों के द्वारा कहे गये हैं । वे दृश्य पदार्थ हैं—बाह्यपदार्थ, आभ्यन्तरपदार्थ और आत्मा । इन तीनों का दर्शन अर्थात् बाह्यपदार्थ-दर्शन, आभ्यन्तरपदार्थ-दर्शन और आत्मदर्शन । ३. बाह्यपदार्थदर्शन

अर्थात् कषायों के बाह्य निमित्तों और आधार का प्रेक्षण करना । ४. आभ्यन्तर-पदार्थ-दर्शन अर्थात् कषाय के उदय के क्षणों में अपने भीतर कर्म के उदय से होनेवाली वृत्तियों का प्रेक्षण करना । ५. आत्मदर्शन अर्थात् कषाय से विनिर्मुक्त आत्म-चेतना का प्रेक्षण करना । ६. बाह्यपदार्थ के तीन भेद कहे गये हैं—प्रसंग, श्वास और शरीर । अतः बाह्य-पदार्थ-दर्शन के तीन भेद बनते हैं—प्रसंग-प्रेक्षण, श्वास-प्रेक्षण और देह-प्रेक्षण । ७. प्रसंगवशात् कषायों की उत्पत्ति होती है । अतः कषायजय के लिये उनके प्रसंग प्रेक्षणीय हैं । ८. तीव्र कषाय के आवेश में श्वास उखड़ने लगता है । आकुलता-अनाकुलता में श्वास गति में अन्तर पड़ता है । अतः श्वास को सम रखने के लिये श्वास प्रेक्षण आवश्यक है । ९. देह में कषायों का प्रति-फलन होता है । देहगत द्रव्य कषायों के प्रसार-संकोच में हेतु बनता है । इसलिये कषायजय के लिये देहप्रेक्षण आवश्यक है ।

प्रसंग-प्रेक्षण (या दर्शन) (बाह्यदर्शन का प्रथम भेद)—

कोऽहं कस्मि य ठाणम्मि, भावस्स उदओ जणे—

होइ होस्सइ किं मज्झ, इइ पसंग—दंसणं ॥८॥

‘मैं कौन हूँ’ और ‘किस स्थान पर हूँ’ तथा ‘मेरे लिये जनसमूह में भाव का उदय क्या होता है या होगा?’—इन भावों का विचार करना प्रसंग दर्शन है ।

टिप्पण—१. प्रसंगदर्शन में प्रमुख तीन बातें दर्शनीय बताई हैं—
१. आत्म-स्तर-दर्शन, स्थानदर्शन और जन-प्रतिक्रिया-दर्शन । २. आत्मस्तर-दर्शन—‘मैं कौन हूँ ? —साधू हूँ या श्रावक हूँ ? लोगों की दृष्टि में उच्च हूँ या हीन हूँ ? —मेरे कषाय से उच्चस्तर घट न जाय और निम्न-स्तर और निम्न न हो जाय—यह सोचना । इस भाव में आत्म-गौरव नष्ट होने का भय-निहित है । यद्यपि भय स्वयं मोह का एक रूप है, फिर भी यहाँ कषाय से होनेवाले हीनस्तर के भय को कषायजय में स्थान

दिया गया है। क्योंकि यह भय विवेक-जनित है, इसलिये मोहरूप नहीं है। फिर भी यह पर-अपेक्षित है। इसलिये इसका स्तर अति निम्न है। किन्तु प्राथमिक अवस्था में यह भाव कषाय के विस्फोट को रोकता है। ३. **स्थानदर्शन**—‘मैं कहाँ हूँ ?—घर में हूँ या बाहर हूँ ?—सभा में हूँ या अकेला हूँ ?—मेरे व्यवहार से किसी का हित होगा या अहित ?—मेरा हित होगा या अहित ?—मैं उत्तरदायित्व के स्थान पर हूँ या नहीं—आदि’ का चिन्तन करना। स्थानदर्शन में प्रधानरूप से आत्म-सम्मान को सुरक्षित रखने के भाव हैं। ४. **य** शब्द से ‘मेरे समक्ष कौन हैं—बड़े या छोटे ?’ अथवा ‘विनय आदि का प्रसंग है या और किसी का ?’ आदि बातों का विचार भी ‘स्थान’ शब्द के साथ गर्भित हो जाते हैं। ५. **प्रतिक्रिया-दर्शन**—‘मेरे कषाय-जनित व्यवहार से लोगों के मेरे प्रति क्या भाव होते हैं’ या ‘भविष्य में मेरे प्रति क्या भाव बनेंगे ?’—इनका विचार करना। इसमें लोकलज का भाव प्रमुख है। ६. प्रसंग-दर्शन में परदर्शन ही है। इसमें परजन के रुख को मान देकर कषाय का उपशम किया जाता है। यद्यपि इस भाव से वास्तविक कषायजय नहीं होता। किन्तु अंशमात्र ही सही, जय तो प्राप्त होती ही है। प्रसंगदर्शन से लोकभय, आत्मगौरव की सुरक्षा, लोकलज्जा आदि भाव उत्पन्न होते हैं, जिससे कषाय-उदय बाहर अधिक विस्तार नहीं पाता है—संकुचित हो जाता है—मन तक ही सीमित रह जाता है। ७. कषाय का बाहर विस्तार नहीं होना भी जय ही है।

श्वास-प्रेक्षण (बाह्यदर्शन का द्वितीय भेद)—

थिरे ठाणे य आसित्ता, आणपाणं निरिक्खए ।

गयागयंथिरं होतं, इमं तु सास-दंसणं ॥९॥

स्थिर आसन में स्थित होकर (और चलते-फिरते हुए) (बाहर) जाते-(भीतर) आते और स्थिर होते हुए आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास का निरीक्षण करे—यह श्वास-दर्शन है।

टिप्पण—१. आवेशात्मक भावों में श्वासोच्छ्वास विष्टुंखल हो जाता है। अतः वह सम बना रहे तो आवेश लम्बे समय तक नहीं टिक पाता है। २. श्वास-संयम के लिये श्वास-दर्शन आवश्यक है। इस गाथा में श्वास-दर्शन की प्रक्रिया दी है। ३. थिरे ठाणे शब्दों का आशय 'स्थिर आसन में' है और आसित्ता का 'बैठकर'। स्थिर आसन में बैठकर श्वासोच्छ्वास का निरीक्षण करना चाहिये। ४. 'स्थिर आसन से बैठना'—इस विधि का यह एकान्तिक नियम नहीं है—यह 'य' शब्द से सूचित किया है अर्थात् चलते-फिरते हुए भी श्वास-दर्शन किया जा सकता है। परन्तु ऐसा करने से ईर्यासमिति में बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। जैसे स्थिरता रूप एकान्तिक नियम नहीं है, वैसे ही बैठना भी। खड़े रहकर और सोकर भी श्वासदर्शन किया जा सकता है। ५. श्वास-दर्शन कायोत्सर्ग का एक अंग है। परन्तु यहाँ श्वासदर्शन को प्रधानता दे दी है और काया की स्थिरता को उसकी पूरक क्रिया के रूप में लिया गया है। अतः वह अत्यन्त गौण हो गयी है। ६. श्वासदर्शन की विधि—बाहर जाते हुए श्वास में चित्त जमाकर उसे बाहर जाते हुए और भीतर जाते हुए श्वास को भीतर जाते हुए अनुभव करना। अपनी ओर से कुछ भी विशेष प्रयास नहीं करना—यह पहला स्तर है। कुछ समय के अभ्यास के बाद उन्हें लम्बे होते हुए अनुभव करना—यह दूसरा स्तर है। फिर श्वास को स्थिर होते हुए अनुभव करना—यह तीसरा स्तर है। यह सहज कुंभक की स्थिति है। इस अभ्यास से विकल्पों का वेग मंद होता है। ७. आहार के बाद तत्काल यह क्रिया नहीं करना। इस श्वासदर्शन के अभ्यासकाल में आहार सात्विक और मर्यादित रहे—इसका ध्यान रखना। ८. श्वासदर्शन से देह की गरमी बढ़ने की संभावना रहती है। अतः उसका मर्यादित रूप से अभ्यास करना चाहिये। ९. श्वासदर्शन की अति से निद्राक्षय होना संभव है अथवा दूसरे-तीसरे स्तर तक आते-आते निद्रा आने लगती है। अतः दोनों दोषों से बचने का ध्यान रखना चाहिये। १०. गयागयं शब्द से अभ्यास के दो स्तरों को और थिरं शब्द से तीसरे स्तर को ग्रहण किया है। ११. भले श्वासदर्शन के अभ्यास में दैहिक स्थिरता अनिवार्य विधि नहीं है।

फिर भी स्थिर आसन से अभ्यास करना सुगम बनता है । १२. स्थिर बैठकर अभ्यास नहीं हो पा रहा हो तो शरीर की अस्थिरता में भी कुछ अभ्यास किया जा सकता है । इस अभ्यास से मनोवेगों को नियंत्रित करने में सहायता मिलती है ।

देह-प्रेक्षण (बाह्यदर्शन का तृतीय भेद)—

देहं चित्तेन पेहेज्जा, पायंगुट्ठा उ आसिहं ।

सिहाअंगुट्ठ-पज्जत्तं, इमं तु देह-दंसणं ॥ ॥१०॥

पैर के अंगूठे से लगाकर चोंटी तक और चोंटी से लगाकर (पैर के) अंगूठे पर्यन्त—चित्त के द्वारा देह को देखें । यह देहदर्शन है ।

देहदर्शन की विधि—१. पद्मासन आदि सुखासन से बैठ कर या सोकर स्थित होना । २. देह का तनाव ढीला करना । ३. श्वासोच्छ्वास सम और स्वाभाविक । ४. चित्त के द्वारा निरीक्षण प्रारंभ करना । पैर के अंगूठों पर चित्त जमाना । क्रमशः शनैः शनैः आगे बढ़ते हुए अंगुलियों, पंजों, एड़ियों, टखनों, पिंडलियों, घुटनों, जंघाओं, पायु, उपस्थ, पेडू, पेट, नाभि, पसलियों, हृदय-कूप, वक्षस्थल, पीठ, कंधों, भुजाओं, हाथों, हस्त-पंजों, अंगुलियों, पुनः हाथ में ऊपर की ओर आकर, कंठकूप, गला, कंठमणि, ठुड़ी, मुख, जिह्वा, तालु, नाशिका, आंखों, कानों, भ्रूमध्य, ललाट, सिर के पृष्ठ भाग और मस्तक को सूक्ष्म रूप से देखें । फिर मस्तक में सहस्रारचक्र का निरीक्षण करते हुए विपरीत क्रम से पैर के अंगूठों के नखाग्र भाग तक चित्तमार्ग से ही आये । ऐसा करने में कम से कम पन्द्रह मिनिट लगाये । फिर आधा घण्टा ।

टिप्पण—१. देहदर्शन से देहगत द्रव्य सम होते हैं । २. द्रव्य-लेश्या प्रशस्त होती है । अतः भावलेश्या भी प्रशस्त होती है । ३.

लेश्या की विशुद्धि से चित्त की विशुद्धि होती है। ४. कषायों के उदित होने पर उनके प्रसारक द्रव्य के अभाव या अल्प होने के कारण वे उग्ररूप धारण नहीं कर पाते हैं। ५. देहदर्शन से कुछ अन्य अनुभव भी हो सकते हैं। परन्तु उन अनुभवों के प्रवाह में नहीं बहना-उदासीन ही रहना। प्रतिकूल अनुभव हो तो भयभीत नहीं होना। अपनी क्रिया में लगे रहना।

बाह्यप्रेक्षा (दर्शन) से करणीय कार्य—

जनचेष्टा—जणाहितो, कुज्जा संग—वियोजनं ।

इमाए बज्जपेहाए, भावाउत्ति कमेण य ॥११॥

इस बाह्यदर्शन से क्रमशः मनुष्यों की चेष्टाओं, मनुष्यों और भाव से संग—एकरूपता या आसक्ति का वियोजन करें।

टिप्पण—१. जनचेष्टा अर्थात् जनसमूह की ओर से होनेवाला अनुकूल—प्रतिकूल व्यवहार। लोकव्यवहार से मनुष्य प्रभावित होते हैं। क्योंकि वे उससे अत्यधिक संलग्न रहते हैं। २. लोकव्यवहार से दो प्रकार का भय निष्पन्न होता है—अच्छी प्रवृत्ति में भय और बुरी प्रवृत्ति में भय। पहला भय अप्रशस्त और दूसरा प्रशस्त है। लोकव्यवहार से अति संलग्न रहने से पहले प्रकार का भय उत्पन्न होता है। ३. प्रसंगदर्शन से लोकव्यवहार और लोकसंसर्ग में आसक्ति का परित्याग करें। श्वासदर्शन और देहदर्शन से मनोभाव के संग (आत्मरूपता) का वियोजन करें। ४. श्वासदर्शन से मनोभावों को और देहदर्शन से दुःख सुखरूप वेदना को देखने का अभ्यास होता है। मनोभावों और वेदना को देखने से उनकी चित्त से एकरूपता दूर होती है। जिससे चित्त उनके प्रवाह में नहीं बहता है।

साधना इतनी ही नहीं है—

बज्जपेहाहि सुद्धी उ, मावरुज्जसु तेसु य ।

साहणा नेत्तियामेत्ता, नासेसंतेहि लब्भइ ॥१२॥

बाह्य प्रेक्षाओं से शुद्धि तो होती है। किन्तु उन्हीं में अवरुद्ध मत हो जाओ। क्योंकि साधना इतनी मात्र ही नहीं है और उनसे निःशेष उपलब्धि नहीं होती है।

टिप्पण—१. अन्य जनों में इन बाह्य प्रेक्षाओं का महत्व अधिक है। जैनधर्म में इनको ग्रन्थकारों ने साधना में स्थान दिया है। आगमों में इनका उल्लेख नहीं है। २. श्वासदर्शन के अन्यदर्शनियों में विभिन्न रूप हैं। बौद्धों में यह 'आनापानस्सति' के रूप में प्रतिष्ठित है और योगियों में 'प्राणायाम' के रूप में। दोनों के परम्परा के अनुसार विभिन्न रूप हैं। ३. देहदर्शन बौद्धों में विपश्यना के नाम से कुछ भिन्न रूप से साधना का एक अंग है। योगदर्शन में देहदर्शन करते हुए अन्नमयकोशादि से पार होते हुए अन्तरतम में पैठने का प्रयास किया जाता है। ४. जैनधर्म में इस साधना के माध्यम से औदारिकशरीर, पर्याप्तियों, प्राण, तैजस्-शरीर और कर्मण शरीर के साक्षात्कार का अभ्यास किया जा सकता है और फिर आभ्यन्तर में पैठने के रूप में कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का साक्षात्कार करने का अभ्यास किया जा सकता है। यह अपना चिन्तनमात्र है। ऐसा कोई करता है या किसी ने किया है—पता नहीं। ५. सम्प्रति साधक प्रेक्षाध्यान, विपश्यना आदि के नाम से इन्हीं को महत्त्व दे रहे हैं और साधना के अन्य अंगों की उपेक्षा कर रहे हैं। उन्हीं को यहाँ सावधान किया गया है। ६. जैनधर्म में इसी साधना को ग्रन्थकारों ने 'ज्ञातृदृष्टाभाव' के रूप में, अन्यधर्मियों में उन्मनीभाव, साक्षीभाव, अकर्ताभाव आदि रूपों में किञ्चित्-किञ्चित् अन्तर के साथ अपनाया गया है। ७. कई साधकों की यह वृत्ति होती जा रही है कि इसके सिवाय अन्य साधनाएँ वृथा हैं। उसी एकांगी दृष्टि का प्रतिषेध करने के लिये कहा गया है कि साधना मात्र इतनी ही नहीं है और इससे अशेष फल नहीं पाया जा सकता।

आभ्यान्तर पदार्थदर्शन अर्थात् अन्तोदर्शन (का द्वितीय भेद)—

अंतोमुहो हवित्ताणं, निरिक्खिज्ज सयं मणं ।

नासयएज्जुहं भावं, ण तम्मि पवहे ठिओ ॥१३॥

अन्तर्मुख होकर (साधक) अपने मन का निरीक्षण करे। (यदि) अशुभ भाव (चल रहा हो, तो उस-) का आस्वादन नहीं करे और उसमें बहे भी नहीं। (किन्तु) स्थिर होकर (निरीक्षण करता) रहे।

टिप्पण—१. देहदर्शन और श्वासदर्शन में भी साधक अन्तर्मुख होकर ही निरीक्षण करता है। किन्तु उस समय देह और श्वास रूप बाह्य पदार्थों का ही निरीक्षण करता है। इसलिये वह अन्तोदर्शन नहीं है। २. मनोद्रव्य सूक्ष्म है। जब मन में चिन्तन चल रहा हो, तब मन को ज्ञेय बनाना या मन का निरीक्षण करना मनोयोग-दर्शन है। मनोयोग का निरीक्षण करने के लिये और अधिक अन्तर्मुख होना पड़ता है। अतः गाथा में अन्तर्मुख बनने की सूचना दी है। ३. शुभ भाव के निरीक्षण का विधान नहीं किया है। किन्तु अशुभ भाव के निरीक्षण का स्पष्ट विधान किया है। ऐसा क्यों?—मन की दो अवस्थाएँ हैं—सामान्य और असामान्य। साधारण चिन्तन-निरतता मन की सामान्य अवस्था है और अशुभ की तीव्रता मन की असामान्य अवस्था। शुभ की तीव्रता भी मन में होती है। किन्तु वह मन की असामान्य नहीं, इष्ट सामान्य अवस्था है। अतः उससे जीव के कुछ भी हानि नहीं है। हानि तो अशुभ विचारों से ही होती है। इसलिये उस असामान्य अवस्था के निरीक्षण का विधान किया है। ४. जब मन में क्रोधादि भाव उठ रहे हैं, तब सावधान होकर उन भावों पर अपना उपयोग लगाये। ऐसा करने से वे अशुभ भाव लम्बे समय तक नहीं टिक पायेंगे। यह कषायजय का तात्कालिक उपाय है। परन्तु इसे करना सरल नहीं है। क्योंकि आवेश में वैसा करने का भान ही

नहीं रह पाता है। परन्तु अभ्यास करने पर क्रमशः साधनाबल उत्पन्न होता है। ५. अपने अशुभ भावों के निरीक्षण के लिये तीन बातें आवश्यक हैं—अनास्वादन, अनुपप्लव और आत्मस्थिति। ६. अनास्वादन—उन विकारी भावों का रसास्वादन नहीं करना। जब वे भाव उठ रहे हों तब उन भावों का भोक्ता नहीं बनना अर्थात् उन भावों से अनुरञ्जित नहीं होना। जैसे व्यक्ति पास-पड़ोस की लड़ाई अपने स्वार्थ में कुछ बाधा नहीं पड़ती हो और उसके निवारण की सामर्थ्य न हो तो जिस निर्लिप्त भाव से उस दृश्य को देखता है, वैसे ही निर्लिप्त भाव से अपने विकारी भावों का देखना, किन्तु उनमें रस नहीं लेना। ७. अनुपप्लव—पानी के तेज प्रवाह में व्यक्ति बहना नहीं चाहकर भी तद्रूप बल की कमी के कारण बहने लगता है। फिर भी वह उसमें हाथ-पैर मारकर तैरने का प्रयत्न करता है और उस प्रवाह के वेग से अपने को मुक्त करता है—किन्हीं उपायों से; वैसे ही साधक कषाय के वेग में बहना न चाहकर भी बहने लगता है, तब वह उनमें अपने उपयोग को उनसे लिप्त होने से बचाता रहे और अपने चित्त को उस वेग में उखड़ने नहीं दे। ८. आत्मस्थिति—जैसे प्रवाह में प्रवाह का परिमाणक स्तंभ स्थित रहता है, वैसे ही विकारी भावों के वेग में वेग का परिमाण करते हुए दृष्टा-भाव में अटल रहना, अस्थिर नहीं बनना। यह आत्मस्थिति पहले के दोनों भावों को निष्पन्न करने में समर्थ होती है। ९. ये भाव उपलब्ध कैसे होते हैं?—पुनरपि पुनः धैर्यसहित अभ्यास करने पर। गाथा के तीसरे और चौथे चरणों में इन तीनों भावों का संग्रह किया है। १०. इन तीनों भावों की उपलब्धि के लिये नियत समय में अभ्यास अपेक्षित रहता है। जैसे कि मल्ल नियत समय पर व्यायाम करते हैं और कुश्ती के दाव-गेंच खेलते हैं। विधि—शान्त स्थान में यथायोग्य आसन पर स्थित होकर मनोनिरीक्षण नियत समय पर करें। उस समय मन में जो भी भाव चल रहे हैं—अशुभ या शुभ, उन्हें देखते रहें। उन भावों के वेग को भी देखते रहें और आप स्वयं स्थिर रहकर

उनसे असंलग्न-सा रहते हुए अपने उपयोग को निश्चल बनाते रहें ।
११. अन्तोदर्शन के दो यों रूप हो जाते हैं —तात्कालिक प्रयोग और अभ्यास ।

अन्तोदर्शन का फल बतलाते हैं—

थिरिभूओ पलोएइ, अन्तस्स वियिंड जया ।

तया रुंभइ तस्सोओ, विलीयए तहिं कहिं ॥१४॥

जब (साधक आत्मा) स्थिर होकर भीतर की विकृति को देखता है, तब उसका स्रोत बंद हो जाता है और वह (विकृति) भी वहीं कहीं विलीन हो जाती है ।

टिप्पण—१. विकृति अर्थात् मोहकर्म-जनित भावना । उसका स्रोत अर्थात् मोहकर्म का उदयभाव । स्रोत का अवच्छेद होना अर्थात् कर्म का उपशम होना—थोड़े समय के लिये कर्म का उदय रुक जाना । वहीं-कहीं अर्थात् आत्मा की गहराई में—चेतना के निचले स्तर में । २. जब आत्मा विकृति का दृष्टा बनता है, तब चेतना का व्यापाररत स्तर निष्पन्द हो जाता है । अतः विकृति का भोक्तृत्व बंद हो जाता है । ३. विकृति का भोक्तृत्व बंद होने पर सत्ता में रहे हुए विकृति-जनक कर्म सत्ता में ही दब जाते हैं । ४. विकृति का भोग नहीं होने पर उसका रस क्षीण हो जाता है । अतः उदय में आये हुए कर्म मंद रसवाले या क्षीण रसवाले होकर खिर जाते हैं । जब कर्म मंद रसवाले होकर विलीन होते हैं, तब वह मंद प्रकृति सजातीय प्रकृति में मिल सकती है । ५. अन्तो-दर्शन कषायजय का उपाय है, क्षय का नहीं ।

आत्मदर्शन (दर्शन का तृतीय भेद) कहते हैं—

‘विगारो न अहं चप्पा, णाण-दंसण-लक्खणो’—

अप्पम्मि खु रओ होज्जा, उवओगे सया थिरो ॥१५॥

‘मैं विकार नहीं हूँ, किन्तु ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला आत्मा हूँ’—ऐसा चिन्तन करके, सदा उपयोग में स्थिर रहता हुआ आत्मा में अवश्यमेव रत हो जाये।

टिप्पण—१. यह आत्मदर्शन अध्यात्म-साधना की रीढ़ है। २. आगम के उत्तर काल में जैनधर्म में आगम के कुछ मुद्दों के आधार पर अध्यात्मदर्शन खड़ा हुआ। ३. अध्यात्मदर्शन ने निश्चय नय को प्रधानता दी। और व्यवहार को निश्चय से प्रतिषिद्ध माना। व्रत के विकल्प बंध के हेतु हैं क्योंकि व्रत शुभभाव रूप हैं और शुभभाव पुण्यान्वय रूप है। इसलिए व्रत आदि पुण्यबंध के हेतु हैं। उन्होंने उपयोग के तीन रूप निश्चित किये—अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग और शुद्ध-उपयोग। ये तीनों क्रमशः पाप, पुण्य और मोक्ष के हेतु हैं। आगमदृष्टि से उपयोग कर्मबन्ध का हेतु नहीं है। क्योंकि उपयोग तो क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न होता है। अतः उपयोग विकारी पर्याय-विकार नहीं है और कर्मबन्ध का हेतु भी नहीं है। तभी तो उपयोग (=ज्ञातादृष्टा भाव) में स्थित रहने पर संवर हो सकता है। उसी शुद्ध उपयोग की बात गाथा में कही गयी है। उसी को यहाँ आत्मदर्शन कहा है। ४. तीव्र रागद्वेष से अनुरंजित उपयोग अशुभ, मंद-कषाय से अनुरंजित उपयोग शुभ और रागद्वेष के विकल्प से रहित उपयोग शुद्ध है। ५. ‘मैं विकार नहीं हूँ, ज्ञानदर्शनमय आत्मा हूँ’—यह शुद्ध उपयोग का स्वरूप है। ‘मैं ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ’—इस भाव में स्थित रहना—यह शुद्ध उपयोग का अभ्यास है। इस भाव से कषाय अनात्मस्वरूप है—यह सिद्ध होता है। अतः कषायों में रत रहना—अनात्मरमण है। कषायों के उदय में उपयोग को नहीं बिखरने देना—यह उपयोग में स्थिर रहना है। ६. अपने ज्ञाता-दृष्टा भाव को सदा बराबर बनाये रखने से आत्मरमणता होती है। ‘खु’ शब्द से यह निश्चय होता है कि स्व-उपयोग में स्थिर रहने से आत्मा में ही रमणता होती है। ७. आत्मदर्शन कषायजय का प्रधान साधन है।

आत्मदर्शन का प्रयोग—

जया जया विभावा हि, अभिद्वन्ति माणसं ।

तया अप्पे ठिओ होज्जा, न तेसुं रमए—जए ॥१६॥

जब-जब विभाव हृदय को आक्रान्त करते हैं, तब उनमें नहीं रमें और आत्मा में स्थित हो जायें । यत्नपूर्वक (आत्मदर्शन का) अभ्यास करें ।

टिप्पण—१. साधक जाग्रत रहे । जब भी उदयभाव जोर मारता है, तब हृदय पर विकृत भाव धावा बोलते हैं । अतः साधक अपने आप पर अपना पहरा लगाता रहे । २. जब विभावों से अपने को आक्रान्त होते देखे, तब उनसे अभिभूत न होकर यत्ना करे । तत्काल आत्मदर्शन करने लगे अर्थात् उन विकारों का भेदन कर शुद्ध आत्मा में अपने उपयोग को जमाये ।

२. प्रतिसंलीनता द्वार

पडिसंलीणयाए वा, दंसणं तेण होइ सा ।

अत्थो उ'पडि'सद्दस्स, विमुहोऽभिमुहो व सो ॥१७॥

प्रतिसंलीनता से दर्शन अथवा उस (दर्शन) से वह (प्रतिसंलीनता) होती है । 'प्रति' शब्द का अर्थ (जिस शब्द के साथ वह जुड़ता है) वह 'विमुख' या 'अभिमुख' होता है ।

टिप्पण—१. दर्शन प्रतिसंलीनता का साधक हेतु बनता है और प्रतिसंलीनता उसकी सहायिका बनती है । २. 'प्रति' शब्द उपसर्ग है । इसके कई अर्थ होते हैं । यहाँ इसके दो अर्थ लिये हैं—विमुखता और अभिमुखता । जिस शब्द के पहले आता है, उसका वह विपरीत अर्थ कर देता है । जैसे 'क्रमण' शब्द का अर्थ है—चलना । इस शब्द से पहले 'प्रति' जुड़कर प्रति-क्रमण शब्द होता है, जिसका अर्थ है 'पीछे चलना—लौटना' । 'कर्म' शब्द का

अर्थ 'कार्य' है । इस शब्द से पहले जुड़ने से 'प्रतिकर्म' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—'अभिमुखता से युक्त अनुकूल क्रिया' अर्थात् सेवा । ३. यहाँ संलीनता शब्द से पहले 'प्रति' शब्द जुड़कर **प्रतिसंलीनता** शब्द बना है । यहाँ 'प्रति' शब्द के दोनों अर्थ ग्रहण किये हैं । प्रतिसंलीनता अर्थात् 'तथारूप भावों में तल्लीन बनानेवाले निमित्तों से परे हट जाना' या 'वहीं उपस्थित रहना' ।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिसंलीनता का आशय—

हेऊंहितो कसायाणं, दूरे होज्जा सुगुत्तिवं ।

अहवा तेसु हेऊसु, ठिओ अब्भसए परं ॥१८॥

कषायों के हेतुओं से (उनसे) अपनी रक्षा करनेवाला बनकर दूर हो जाये अथवा उन (कषायों) के हेतुओं में स्थित होकर (उनसे) विपरीत भाव का अभ्यास करे (यह प्रतिसंलीनता का आशय है) ।

टिप्पण—१. क्रोध आदि उत्पन्न करने के बाह्य कारण उनके हेतु हैं । २. सुगुप्तिवान् = उत्तम भावों के आश्रय से अपने भीतर कषायों के भावों को नहीं आने देनेवाला । ३. कषायों के निमित्तों से परे हटने पर अपनी आत्मशान्ति बनी रह सकती है—जैसे गंगाचार्य (उत्तरा. २७वाँ अध्यायन) । यह अर्थ पहली परिभाषा के अनुसार है । ४. निमित्तों से सदैव दूर होना संभव नहीं होता है । अतः तथारूप कारणों में स्थित रहते हुए क्षमा आदि भावों का अभ्यास करना—यह दूसरी परिभाषा है । जैसे—अर्जुन-अनगार (अंतगडदसा—) ।

दूसरे आशय को और स्पष्ट किया जाता है—

विवरीय-पसंगेसु, उवट्टिएसु साहगो ।

अट्टं रोहं करे णेव, बलट्ठा वा सयं गओ ॥१९॥

साधक विपरीत (क्रोध, मान आदि को उत्पन्न करनेवाले) प्रसंगों से उपस्थित होने पर अथवा (साधना के) बल (का अर्जन करने) के लिये (उन प्रसंगों में) स्वयं गया हुआ आर्त और रौद्रभाव नहीं करे ।

टिप्पण—१. अशुभ कर्म के उदय से त्यागियों के लिये भी साधना से विपरीत प्रसंग उपस्थित होते ही हैं । साधकों में ही परस्पर कषाय के कारण रूप व्यापार उत्पन्न हो सकते हैं । अतः संसार में तो वैसे प्रसंग बनना सहज है । २. अशुभ भावों के उत्पादक निमित्तों से सदैव भागना संभव नहीं होता है । वे परीषह और उपसर्ग रूप भी हो सकते हैं । अपने त्रुटिपूर्ण व्यवहार से भी वैसे प्रसंग उपस्थित हो सकते हैं । ३. ऐसे प्रसंगों में टिके रहना उचित नहीं है, फिर भी वहाँ से दूर होने की शक्यता नहीं हो तो क्या करे ?—उन प्रसंगों के उत्पादकों के प्रति रौद्रभाव नहीं करे और उनमें आप स्वयं फँस जाने के कारण आर्तभाव भी नहीं करे । किन्तु यह चिन्तन करे कि—‘मेरे अशुभकर्म का उदय है । मैं कहीं भी भागकर ऐसे प्रसंगों से नहीं बच पाऊँगा अथवा मेरे अशुभकर्म रूप बेडोलपना इस प्रसंग रूप टाँची से ही छिला जायेगा । अतः मुझे समभाव रखना उचित है ।’ ४. जहाँ तक शक्य हो वहाँ तक वैसे प्रसंगों से साधक दूर रहने का प्रयास करता है । किन्तु शक्य नहीं हो तो आर्त और रौद्रभाव का निवारण करता है । ५. अपने आत्मबल की वृद्धि के लिये साधक कभी-कभी क्रोध के निमित्तों, अपमानकारक स्थानों और लुभावने स्थानों में स्वयं जाता है । प्रवचनकारों, चर्चावादियों, धर्मप्रचारकों आदि को ऐसे स्थान पर समता रखने का अभ्यास करना होता है । अतः वे इसका पूर्वाभ्यास करते हैं । ६. क्रोध का प्रसंग पाकर, झल्लाना नहीं, मान-सन्मान पाकर अपने उद्देश्य से फिसलना नहीं, किसी कटाकटी के प्रसंग में फँसकर दुराव-छिपाव, छल या वक्र व्यवहार नहीं करते हुए आत्मभाव को सुरक्षित रखना और प्रलोभनों में नहीं फँसना—यही इस अभ्यास का उद्देश्य है । ७. गुरुकुल में रहते हुए साधु को ऐसा अभ्यास कदाचित् सहज में ही हो सकता है ।

कषाय-प्रतिसंलीनता का शास्त्रीय स्वरूप—

उदयस्स निरोहो वा, विफलीकरणं तहा ।

कसयाणं तु सत्थम्मि, जिणनाहेण वणिणयं ॥२०॥

कषायों के उदय का निरोध करना और उदय में आये हुए को विफल करना—(कषाय-प्रतिसंलीनता का यह स्वरूप) जिननाथ के द्वारा शास्त्र में वर्णित है ।

टिप्पण—१. जिनेश्वरदेव अर्थागम के वक्ता होते हैं । अतः शास्त्रों में प्रतिपादितभाव उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित है। यहाँ जिनेन्द्रदेव के लिये 'जिण-नाहेण' एकवचन शब्द ही दिया गया है। परन्तु जिनेश्वरदेवों के प्रतिपादन में आशयभेद नहीं होता है। जो एक जिनेश्वरदेव का आशय होता है, वही आशय त्रैकालिक अनन्त जिनेश्वरदेवों का भी होता है। इसलिये एकवचन प्रयोग बाधित नहीं है। २. कषाय-प्रतिसंलीनता के दो भेद—उदयनिरोध अर्थात् कषाय को उदय में ही नहीं आने देना और उदय विफलीकरण अर्थात् उदित कषाय को विपरीत फलवाला या निष्फल कर देना । जैसे क्रोध से अनबन हुई । उसे समाप्त कर देना—मैत्रीभाव बना लेना । मान से अपराध हुआ तो क्षमायाचना कर लेना—विनम्र बन जाना । माया से ठगाई हुई तो अपना दोष प्रकट कर देना—सरल बन जाना और लोभ से कोई वस्तु ले ली तो उसे त्याग देना—संतोष करना । इसप्रकार उदित कषाय को निष्फल या विपरीत फलवाला कर देना — उदय-विफलीकरण है । ३. उदयनिरोध के उपाय आगम में कहीं दृष्टिगत नहीं हुए । सम्भवतः कषायों के निमित्तों से दूर रहने से, अन्तर्दर्शन से, उच्च-प्रशस्त भावों के अभ्यास से उदयनिरोध होता है। वैसे ही शरीरगत जो पित्तादि द्रव्य तत्-तत् कषाय के प्रज्वलन में सहायक होता है उन द्रव्यों के वर्धक पदार्थों का सेवन नहीं करने से भी उदय-निरोध संभव है और कषाय से प्रभावित होनेवाले अंगों पर अन्तःक्राटक करने से भी ।

३. इच्छा त्याग द्वार

कषाय-प्रतिसंलीनता में इच्छा का त्याग सहायक है। अतः इस द्वार में उसीका वर्णन किया जा रहा है।

कषायों का मूल इच्छा है—

सर्वकषाय-मूलम्भि, इच्छा इवइ का वि य ।

तम्हा इच्छा-परिच्चाए, तेसि सर्वेसि वज्जणं ॥२१॥

सर्वकषायों के मूल में कोई भी इच्छा होती है। इसलिये इच्छा के परित्याग (करने) पर उन सभी (कषायों) का परित्याग हो जाता है।

इच्छा कषायों के मूल में कैसे है सो बताते हैं—

इट्ठेऽनिट्ठे अपत्ते य, पत्ते कोहो हि जायइ ।

महत्तं पत्तुमिच्छा हि, माणो तह पदंसणं ॥२२॥

सच्चवं दंसिउं इच्छा, माया मोसस्स छायेणं ।

लोहो उ इच्छरुवो हि, जुत्तं ता ताअ वज्जणं ॥२३॥

इष्ट (वस्तु) के प्राप्त नहीं होने पर और अनिष्ट (वस्तु) के प्राप्त होने पर क्रोध ही उत्पन्न होता है। महत्त्व पाने की इच्छा और उसका प्रदर्शन मान है।

(सच्चाई नहीं होने पर भी) सत्यनिष्ठ दिखाई देने की इच्छा मृषा (असत्य भाषण, असदाचरण आदि) का आच्छादन माया है। लोभ तो इच्छा रूप ही है। इसलिये उन कषायों का मूल इच्छा का वर्जन युक्त है—समुचित है।

टिप्पण—१. इष्ट पदार्थ आदि का संयोग प्राप्त हो और अनिष्ट पदार्थों का वियोग—यह जीव की इच्छा रहती है। अतः इच्छा के प्रतिकूल कार्य होने पर कोप का दावानल दहक उठता है। इसप्रकार क्रोध की उत्पत्ति में एक बहुत बड़ा कारण इच्छा है। २. मान बढ़प्पन पाने की इच्छा और उसके प्रदर्शन से उत्पन्न होता है। इसप्रकार मान के मूल में भी इच्छा कार्यरत रहती है। ३. सत्यवादी और सदाचारी होना तो साधना है। सत्यवान दिखाई देने की इच्छा साधना नहीं दंभ है। आप खुद में सत्य आदि गुण हैं नहीं, किन्तु सत्यवादी और सद्गुणी दिखाई देने की इच्छा होती है। अतः वह अपने दुर्गुण-असदाचरण को आच्छादित करना चाहता है अर्थात् माया की जड़ भी इच्छा ही है। ४. किसी भी पदार्थ की चाह लोभ है। 'चाहना' और 'इच्छा' दोनों शब्द एक ही भाव के सूचक हैं। अतः लोभ भी इच्छा-रूप है। ५. यद्यपि कषाय के उदय में प्रधानरूप से मोहकर्म की प्रकृतियों का उदय ही वास्तविक कारण है, फिर भी निमित्त रूप से अन्य भी कारण हो सकते हैं। यहाँ कषायों की प्रवृत्ति में मुख्य निमित्त रूप में इच्छा बताई है। ६. इच्छा कषाय के उदय में आभ्यन्तर निमित्त के रूप में है। अतः वह प्रबल निमित्त है। वह कषायों को विशेष रूप से प्रज्वलित भी करती है अर्थात् कषायों की उत्पत्ति और प्रसार में दोनों में ही इच्छा कार्यरत रहती है। ७. कहा भी है—'अप्पिच्छे अप्पारंभी, महेच्छे महारंभी' अर्थात् अल्प इच्छा-वाला अल्प आरंभी और महेच्छ महारंभी होता है। अतः इच्छा का त्याग कषायजय में महान् सहायक है।

इच्छा की भयंकरता और उसके त्याग से शुद्धि—

इच्छाए किर दुक्खाइं, ताएव भव-वड्ढणं ।

सा सव्व-वाहि-मूलाय, इच्छच्चाए जिणो हवे ॥२४॥

इच्छा से निश्चय दुःख होते हैं और उसी से संसार की वृद्धि होती है अर्थात् (बाह्य-आभ्यन्तर) सभी व्याधियों का मूल इच्छा ही है। अतः इच्छा त्यागने पर (जीव) 'जिन' हो सकता है।

टिप्पण—१. संसार के सकल दुःख इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं । कहा है—**कामाणुगिद्धीपभवं खु दुःखं** अर्थात् दुःख निश्चय ही काम में आसक्ति से उत्पन्न होते हैं । कामासक्ति इच्छा रूप ही तो है । २. इच्छा के वशीभूत बना हुआ जीव भव-परम्परा की वृद्धि ही तो करता है । कण्डरीक इच्छा की तीव्रता के कारण संयम-सर्वस्व को हार गये और नरकगति में गये । ३. व्याधि के दो भेद-बाह्य और आभ्यन्तर । शारीरिक रोग बाह्य व्याधि हैं । आभ्यन्तरव्याधि के दो रूप हैं—मानसिक और अध्यात्मिक पागलपन, बुद्धि की कुण्ठा, जड़ता आदि मानसिक व्याधि हैं अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय इन तीन घातीकर्मों के उदय से होनेवाले और नोकषाय के उदय से होनेवाले विकार मानसिक व्याधि हैं और कषाय-जनित विकार आध्यात्मिक व्याधि हैं । ४. सभी व्याधियों के मूल में इच्छा ही कार्य करती हुई प्रतीत होती है । यद्यपि आधुनिक विज्ञान इच्छा के विस्तार को महत्त्व देता है और उससे विकास होना मानता है, फिर भी हम शान्त चित्त से निरीक्षण करें तो प्रतीत होगा कि विज्ञान के विकास के साथ ही अनेक प्रकार की व्याधियों का भी उत्थान हो रहा है । मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ उसे व्यथित करती हैं और अनेकानेक ग्रन्थियों को उत्पन्न करती हैं तथा तृप्त इच्छाएँ शारीरिक और कई मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं । ५. जो जीव इच्छाओं का त्याग करता है, वह संवर और निर्जरा करता है अर्थात् नये विकारों के उद्भव को रोक देता है और पुरातन विकारों को क्षीण करता है । जब पुरातन विकार सम्पूर्ण रूप से क्षीण हो जाते हैं, तब वह विकारों से विनिर्मुक्त निर्मल चेतनावाला हो जाता है अर्थात् परमाराध्य **जिनदेव** बन जाता है ।

४. अदीनता द्वारा

कषायों का बल अत्यन्त होता है । वे दुर्दम हैं । अतः जीव उनके सामने दीन बन जाता है और उनसे हार जाता है । अतः जीव उन्हें जीतने के लिये अदीन बनें ।

आत्मा स्वामी है—

अप्पा महेशरो सामी, भावस्स अप्पणो प्हू ।

कम्हा सो होज्जए दीणो, कसायाण हि अंतिए ॥२५॥

आत्मा महेश्वर है, स्वामी है और अपने भाव का प्रभु है। वह कषायों के ही सामने दीन किस कारण से बनता है ?

टिप्पण—१. महा + ईश्वर = महेश्वर । ईश्वरवादियों की दृष्टि में ईश्वर के तीन कार्य—सृष्टि, पालन और संहार । वस्तुतः आत्मा ही अपने भवों का सृष्टा है, पालक है और संहारक है । इसलिये जीव महेश्वर है । २. स्वामी = अधिपति । जीव अपने कर्मों का अधिपति स्वयं है । अतः वह कर्मों का कर्ता भी है और भोक्ता भी है । इसलिये अपना स्वामी आप है । ३. प्रभु = सत्तासम्पन्न, सामर्थ्यवान् । भाव अर्थात् पर्याय ! पर्याय के दो प्रकार—विकारी और विशुद्ध । जीव विकारी और विशुद्ध—अपने दोनों प्रकार की पर्यायों का प्रभु है । ४. कषाय उसके विकारी पर्याय हैं । यद्यपि विकारी पर्याय कर्म के निमित्त से होती हैं । फिर भी जीव के उन कर्मों के अधीन हुए बिना नहीं हो सकती । यदि जीव अपना सामर्थ्य विकारी पर्यायों के निमित्त के आधीन नहीं होने दे तो उन विकारों का उस पर कोई जोर नहीं चल सकता है । ५. जीव अपना सामर्थ्य खो देता है तो दीन बनने का अवसर आता है । यदि वह महेश्वर, स्वामी और प्रभु है तो दीन क्यों बनें ।

कषायों के प्रति साधक के भाव—

‘कसाया मे कुसंताणा, परितावेंति मं सढा ।

न हि तेसि वसे होमि, उवेक्खामि य ते सया’ ॥२६॥

‘कषाय मेरे ही कुसंतान है । वे शठ मुझे परिताप देते हैं । मैं उनके वश में नहीं होऊँ और सदा उनकी उपेक्षा करूँ ।’

टिप्पण—१. कषाय जीवों के ही होते हैं, अजीवों के नहीं। कषाय रूप कर्म भी जीवों के ही होते हैं। अतः वे जीव से उत्पन्न होते हैं। इसकारण जीव की ही संतान हैं, वे। २. सन्तान अर्थात् पुत्र या किसी के द्वारा उत्पादित उसीके अंश। सुपुत्र माता-पिता के लिये सुखद होते हैं और कुपुत्र दुःखद। कषाय जीव के लिये दुःखद है, इसलिये वे उसके कुसन्तान—कुपुत्र हैं। ३. अपने कुपुत्रों से संघर्ष करने से कुछ भी लाभ नहीं होता है। उनके वशीभूत नहीं होना—यही उनके दुःख से छुटकारे का उपाय है। वैसे ही जब कषायों का उदय हो, तब उनके वशीभूत नहीं होना—उनके सामने दीन नहीं बनना—यही उनसे छुटकारे का उपाय है। ४. जिससे छुटकारा पाना हो, उसकी उपेक्षा करने से—उसे महत्त्व प्रदान नहीं करने से वह अपने से सहज में ही दूर हो जाते हैं। वैसे ही कषायों को महत्त्व नहीं देने—उपेक्षा करने से वे भी दूर हो जाते हैं।

कषायों से हार नहीं मानें—

अक्कमंति सया दुट्ठा, जयं नासंति साहणं ।

ण हारेज्ज तथा धिज्जं, संजुंजेज्ज बलं कियं ॥२७॥

(ये) दुष्ट (कषाय) सदा आक्रमण करते हैं और यत्ना और साधना को नष्ट कर देते हैं। तब धैर्य नहीं हारे और बल तथा क्रिया को संयोजित करें।

टिप्पण—१. यत्ना अर्थात् साधना में सावधानी या उपयोग से युक्त आराधना में प्रवृत्ति। प्रस्तुत प्रसंग में यत्ना का अर्थ है—‘कषायजय में सावधानी’! २. साधना अर्थात् सर्वविरति और देशविरति का संकल्प-पूर्वक अभ्यास अथवा रत्नत्रय की आराधना। यहाँ ‘साधना’ शब्द में कषायों के दुर्बल, जय आदि करने का अभ्यास भी गृहीत है। ३. कषायों का उदय निरन्तर प्रवर्तमान रहता है। अतः उनका जीव पर निरन्तर आक्रमण चलता ही रहता है। इसप्रकार साधक जीव का उनके साथ सदा संघर्ष होता रहता

है। ४. कषायों का उदय जब प्रबल होता है, तब कषायजय की सावधानी और संकल्प से युक्त अभ्यास समाप्त हो जाते हैं। ५. जब कषाय का उदय इसप्रकार जीव के कषायजय के पुरुषार्थ को नष्ट कर देता है, तब उनपर जय पाने में निराशा होना स्वाभाविक है। पुनः साधना का धैर्य भी समाप्त हो जाता है। अतः यहाँ कहा गया है कि साधक इस विषय में धैर्य नहीं हारे। वह अपनी साधना के बल और सत्क्रिया—कषायजय के सामर्थ्य और अभ्यास को संयोजित करता रहे, छोड़े नहीं।

आत्मबल की जय होती ही है—

बलो अप्पबलो एव, अणाइ-अमियं अहं ।

खणमित्तेण नासेइ, मा य अप्पम्मि संकए ॥२८॥

बल तो आत्मबल ही है। वह अनादि (से जीव के साथ लगे हुए) और अमित—सीमा से रहित अनन्त पाप को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। इसलिये आत्मा (और अपने बल) में शंका मत करो।

टिप्पण—१. जीव अनादि-अनन्त है। जीव न तो किसी के द्वारा और न स्वतः ही निर्मित हुआ है अर्थात् जीव पदार्थ के आविर्भाव का कोई प्रारंभिक बिन्दु नहीं है। अतः उसका अन्त बिन्दु भी नहीं है। २. जीव अनादि है अतः कर्मसंयोग भी अनादि है और कर्मजनित भव भी अनादि है। कर्मबन्ध के हेतु रूप कषाय हैं। अतः वे भी अनादि हैं। जीव कषाय परिणामों से ही भवभ्रमण कर रहा है। निष्कर्ष यह है कि जीव को कषाय सेवन का अभ्यास लम्बे समय से है। ३. कषायों की राशि अमर्यादित है। क्योंकि कषाय रूप कर्मों का भोगा हुआ फल अपने पीछे पुनः तद्रूप कर्मों के बीजों को छोड़ जाता है। इसप्रकार निरन्तर कषाय-परम्परा चलती रहती है। जब-जब कषायों का आविर्भाव होता है, तब-तब वह कभी भी समाप्त नहीं होनेवाले भाव जैसा ही प्रतीत होता है। ४. कोई दूसरा किसी के कषायों को समाप्त

नहीं कर सकती । अपने बल से ही कषायों का जय या क्षय किया जा सकता है । इसलिये यह कहा है कि यदि कोई बल है तो वह आत्मबल ही । कषाय-जयादि के लिये अपने बल के सिवाय और कोई बल नहीं है । अतः आत्मबल में विश्वास करो । ५. आत्मबल अर्थात् पापों को—कर्मों को क्षय करने की अपनी शक्ति । वह शक्ति साधना से जाग्रत होती है । किन्तु कषाय साधना को तोड़ देता है । परन्तु इससे विचलित नहीं होना चाहिये । क्योंकि कर्मों की कितनी बड़ी राशि क्यों न हो और वे कितने ही लम्बे समय के अभ्यस्त क्यों न हों, उन्हें आत्मबल क्षणभर में नष्ट करने में समर्थ है । ६. अपने आपमें शंका करने से आत्मविश्वास के अभाव में आत्मबल जाग्रत नहीं हो पाता है । अतः जीव दीन बन जाता है । जैसे तिजोरी में वैभव होते हुए भी ताला खोलकर उसे हस्तगत करने की शक्ति न हो तो मनुष्य दीन ही रहता है । परन्तु उसे यह शंका नहीं रहती कि मेरे पास धन नहीं है और भले ही धन उसके हाथ न आया हो तो भी वह अपने को गरीब नहीं मानता है और धन पाने के उपाय करता ही रहता है । वैसे ही आत्मबल के विषय में भी समझना चाहिये । ७. आत्मबल का विश्वास जीव को पुनरपि पुनः कषायजय की साधना में, जब तक उनपर जय प्राप्त न हो जाय, तबतक साधना में जोड़े रखता है । ८. आत्मबल का विश्वास ही अदीनता का प्रमुख साधन है ।

५. आज्ञा-स्मृति द्वार

आत्मविश्वास में हेतु है—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा में श्रद्धा—

पत्तो जिणेशरो नाहो, तिलोग-तिलओ एहू ।

तेसिं आणं मणिताणं, तरेमि भव-सायरं ॥२९॥

तीन लोक के तिलक प्रभु जिनेश्वरदेव नाथरूप में प्राप्त हुए हैं । अतः उनकी आज्ञा को मानकर मैं भवसागर से पार हो जाऊँ ।

टिप्पण—१. जिनेश्वरदेव की आज्ञा में श्रद्धा आत्मविश्वास की निर्मात्री है । २. जिनेश्वर अर्थात् तीर्थंकर भगवान् । तीर्थंकर भगवान्

‘जिन’ बनने के पश्चात् ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। अतः उनकी आज्ञा निःशंक भाव से मानने योग्य है। ३. जिनेश्वरदेव अर्थात् देह में स्थित निर्मल आत्मा। तिलक उत्तमांग मस्तक पर शोभित होता है। वैसे ही जिनेश्वरदेव तीन लोक में तिलक के समान श्रेष्ठ हैं। तिलक मंगल, विजय-प्राप्ति आदि की मंगल-कामना रूप होता है। वैसे ही जिनेश्वरदेव भी मंगलरूप और विजय-प्राप्ति हेतु रूप हैं। वे प्रभु अर्थात् परम ऐश्वर्य और सामर्थ्य से युक्त हैं। ४. पुण्ययोग से उन्हें आराध्यरूप से पाया है—इस सौभाग्य को हम पहचानें और उन्हें अपने नाथ के रूप में स्वीकार करें। परम शक्तिपुंज को नाथ स्वीकृत कर लेने पर अपनी आत्म-हीनता अपने आप भाग जाती है। ५. जिनेश्वरदेव को नाथरूप से स्वीकार करना अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कषायों पर जय प्राप्त करनेवाले परम आत्मा में श्रद्धा करना है और उनकी आज्ञा में श्रद्धा अर्थात् उनके द्वारा बताये विकार-जय के उपायों में श्रद्धा करना है। ६. भवसागर से पार होने के लिये विशुद्ध चैतन्य और उनके द्वारा बताये गये विकार-जय के उपायों में अनन्य श्रद्धा परम आवश्यक है। वह अनिवार्य साधन है।

जिन-आज्ञा से बाहर साधना नहीं है—

धम्मो तवो य आणाए, ण बज्जे किञ्चि साहग !

कसायस्य वसे वासो, तस्स आणाअ बज्जओ ॥३०॥

हे साधक ! (जिनेश्वरदेव की) आज्ञा में ही धर्म और तप होता है, किन्तु आज्ञा के बाहर कुछ भी नहीं होता। कषाय के वशीभूत होकर रहना उस (प्रभु) की आज्ञा के बाहर है।

टिप्पण—१. क्षमा आदि दश प्रकार का या अहिंसा आदि धर्म है। ‘तप’ धर्म का ही एक अंग है। यहाँ तप को अलग से इसलिये बताया है कि आज कई जन मात्र अनशनादि बाह्य तप को तो कई ध्यानरूप आभ्यन्तर तप को ही साधना का मार्ग मानने लग गये हैं। संवर

और अन्य तपों का विरोधी कोई भी तप जिनेश्वरदेव की आज्ञा में नहीं है। यही दरसाने के लिये तप का अलग से उल्लेख किया है। २. 'धर्म' शब्द से हिंसा आदि पंच-आस्रवों का त्याग और समिति गुप्ति को ग्रहण किया जा सकता है और 'तप' शब्द से बारह प्रकार के तप को। ३. जिनेश्वरदेव की आज्ञा से विपरीत धर्म और तप का आचरण भव-भ्रमण की वृद्धि करता है—मोक्ष का साधन नहीं बनता। क्योंकि वह वास्तविक धर्म और तप रूप में परिणत नहीं होता। ४. जिन-प्रज्ञप्त धर्म भी बाह्य लक्ष्य से करने पर वह जिन-आज्ञा में परिणत नहीं होता तो कषाय-परिणति जिन-आज्ञा में कैसे गर्भित हो सकती है। ५. कषाय और जिनत्व दोनों परस्पर एकदम विपरीत हैं अर्थात् कषाय का अभाव जिनत्व और जिनत्व का अनाविर्भाव कषाय है। अतः कषाय रूप परिणाम जिन-आज्ञा में कदापि नहीं हो सकते हैं।

जीव जिन-आज्ञा भूल जाता है—

दुष्कर्म-बहुलो जीवो, जिन-आणं विस्सरइ ।

तम्हा कसायसत्तूसो, नच्चावेइ भवे दुहे ॥३१॥

दुष्कर्म की बहुलतावाला जीव जिन-आज्ञा को (जानकर भी) भूल जाता है। इसकारण वह कषाय रूपी शत्रु (जीव को) भव में—दुःख में नचाता है।

टिप्पण—१. जिनदेव का और उनकी आज्ञा का स्वरूप जानना-अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि जीव ने गाढ़े पापकर्म बांध रखे हैं। पापोदय से आक्रान्त जीव न तो जिनत्व को जान पाता है और न श्रद्धा ही कर पाता है। अरे! वह उनके सन्मुख ही नहीं हो सकता। २. पुण्ययोग से जिनदेव को जानने के लिये अनुकूल सामग्री संपूर्ण प्राप्त हो गयी। किन्तु पापों में प्रसन्न जीव उस दुर्लभ क्षण को नहीं पहचान पाता। ३. कोई बिरला जीव उस

क्षण का लाभ ले लेता है। वह जिन-स्वरूप और उनकी आज्ञा को जान लेता है। किन्तु विषयों का आकर्षण उनके प्रति श्रद्धान ही पैदा नहीं होने देता। भौतिक विज्ञान की भूल-भुलैया, यश का मोह, अपने को सत्य के पुरस्कर्ता मानने का गर्व आदि भी जिन-आज्ञा को भुला देते हैं। ४. जिन-आज्ञा के विस्मरण से कषायों को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है। अतः भव और दुःख की वृद्धि होती है। ५. कभी-कभी नाचने-नचाने के लिये मद्यपान कर लिया या करवा दिया जाता है। जिससे नृत्य में सुख की अनुभूति हो, दुःख की नहीं। वैसे ही भव और दुःख में नचाने में मोह-मदिरा प्रधान रूप से कार्य करती है।

जिन-आज्ञा का स्मरण करो—

सया आणं सरित्ताणं, तस्स वसे न होज्जए ।

चक्कवट्ठीण आणं को, ण मण्णइ महीयले ॥३२॥

(इसलिये—) सदा (जिन-) आज्ञा का स्मरण करके, उस (कषाय) के वश में न होवे। क्योंकि चक्रवर्तियों की आज्ञा पृथ्वीतल पर कौन नहीं मानता है। (जिनेश्वरदेव भी धर्मचक्रवर्ती हैं)।

टिप्पण—१. जिनेश्वरदेव विकारों-पापों में कभी भी धर्म नहीं बताते हैं। २. जिनेश्वरदेव स्वयं विकारों से मुक्त होते हैं। अतः वे विकार-सेवन की आज्ञा प्रदान नहीं कर सकते—यह बात सदा स्मरण रखना चाहिये। ३. 'जिनदेव की आज्ञा क्या है'—इसका सदैव अन्वेषण करते रहना चाहिये। ४. जिन-आज्ञा का सदैव स्मरण करना—धर्मध्यान का एक भेद है। ५. जितनी देर जिन-आज्ञा का स्मरण किया जाता है, उतनी देर तक जिनदेव का भी स्मरण होता है। अतः मनःसुप्रणिधान बनता है। ६. जिन-आज्ञा का चिन्तन-स्मरण करने से चित्त में निर्मलता आती है। रुचि का परिष्कार होता है और आज्ञा-पालन में रस उत्पन्न होता है। ७. जिनआज्ञा की सतत स्मृति बनी रहने पर कषायों का जोर नहीं चलता है। उनके उदयनिरोध और विफलीकरण

की शक्ति प्राप्त होती है। ८. जैसे शासन के आदेश से मनुष्य दुष्कर्म करने से डरता है, वैसे ही जिन-आज्ञा की स्मृति से दुराचार में प्रवृत्ति सकती है। ९. पृथ्वी पर शासन करनेवाले दो महान सत्ताधीश—चक्रवर्ती और वासुदेव। वासुदेव भी अर्धचक्री कहलाते हैं। चक्रवर्ती की आज्ञा छहों खण्ड में बर्तती है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन प्रायः कोई भी नहीं करता। वासुदेव भी परम योद्धा होते हैं। अतः वे अपनी आज्ञा का उल्लंघन नहीं होने देते हैं। १०. भगवान् जिनेश्वरदेव धर्मचक्रवर्ती हैं। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर भले ही वे दण्ड नहीं देते हैं। किन्तु जीव स्वयं दण्डित होते हैं। ११. धर्म-चक्रवर्ती की आज्ञा का उल्लंघन अपनी ही अवहेलना है—जब यह बात समझ में आ जाती है, तब उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने का मन ही नहीं होता है और परवशता से आज्ञा का उल्लंघन होता है तो हृदय काँप उठता है। १२. कषाय मानस-प्रजा है। यदि जिन-आज्ञा हृदय में विराजमान हों, तो उसके उल्लंघन की धृष्टता कषाय भी नहीं कर सकते हैं। जिन-आज्ञा का क्षेत्र हृदय ही तो है। १३. जिनागम के अर्थ-चिन्तन से आज्ञा का स्मरण होता है।

कषाय उत्पात करें तो क्या करना ?—

जया उवेइ आवेसो, तया आणं सरेज्ज तं ।

‘हा ! ण मण्णामि धिट्ठोऽहं, जिणआणं तु निद्दओ’ ॥३३॥

जब आवेश का उदय होता है, तब तू (भगवान् की) आज्ञा का स्मरण कर (और चिन्तन कर कि—) ‘मैं धृष्ट हूँ—निर्दय हूँ ! हा ! (इसीलिये तो) जिनआज्ञा को नहीं मानता हूँ ।’

टिप्पण—१. धृष्ट=निर्लज्ज। निर्लज्ज व्यक्ति हित-शिक्षा को नहीं मानता है। ‘मैं भी ऐसा ही निर्लज्ज हूँ। जिनआज्ञा के पालन से जिनदेव को कुछ भी लाभ नहीं है, मुझे ही लाभ है। परन्तु मैं कितना ढीठ, हूँ, जो अपने हित की बात भी नहीं मानता हूँ?’ २. निर्दय=दया-विहीन। दया के दो भेद—परदया और स्वदया। परदया तो प्रसिद्ध ही है। स्वदया अर्थात्

अपने आप पर अनुकम्पा । पापाचरण से होनेवाले दुःखों से बचने की भावना स्व-दया है । यहाँ अपने लिये 'निर्दय' विशेषण से यही भाव सूचित होता है कि—'मैं अनन्तकाल से कषायों से पीड़ित हूँ और उनको नहीं छोड़ूँगा तो आगे भी पीड़ित होता रहूँगा—यह जानते हुए भी मैं कषायों के वश में पड़ जाता हूँ । अतः मुझे अपने आपके प्रति भी दया नहीं है । यदि मैं अपने प्रति दयालु होता तो जिन-आज्ञा का कभी उल्लंघन करता क्या ?' ३. जिन-आज्ञा के आलोक में अपनी धृष्टता और निर्दयता को देखना—कषाय-जय का एक उपाय है । ४. अपनी धृष्टता और नृशंसता को जान लेने पर जिन-आज्ञा के स्मरण का बल उत्पन्न होता है । अतः जब भी कषाय उदय में आने लगते हैं, तभी जीव को जिन-आज्ञा की स्मृति हो आये—ऐसी स्थिति का निर्माण होने लगता है ।

६. दृष्टान्त-द्वार

दृष्टान्त क्या है ?—

दिट्ठंता नव-पोराणा, सग्गुणा वावि दुग्गुणा ।

तित्थयरेयराणं च, जे वि य हिय-बोहणा ॥३४॥

तीर्थकरों और अन्य सामान्य जीवों के (जीवन के) सद्गुण (=क्षमा आदि गुण) वाले अथवा दुर्गुण (क्रोध आदि विकारों) वाले जो भी हित बोधक (प्रसंग) हैं वे दृष्टान्त हैं ।

टिप्पण—१. जीवन के प्रसंग दृष्टान्त हैं । २. वे जीवन-प्रसंग चारों गति के जीवों के हो सकते हैं । परन्तु प्रधानता मनुष्यों की है । इसलिये यहाँ मनुष्यगति के जीवों के भेद गिनाये गये हैं । मनुष्य के दो भेद—तीर्थकर और इतरजन । इतरजन भी दो प्रकार के होते हैं—महापुरुष और साधारणजन । महापुरुष के भी दो भेद—शलाकापुरुष और विशिष्टपुरुष । शलाका पुरुष हैं—चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव । विशिष्टपुरुष के अनेक भेद हो

सकते हैं। जैसे—गणधर, आचार्य आदि धर्माधिकारी, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएँ आदि धर्म-आराधक, राज्य, समाज, जाति आदि के राजा आदि अधिकारी वर्ग, नैतिक आदि उत्तम पुरुष। साधारण जन के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। यथा-सम्पन्न-विपन्न, सुशील-दुःशील, विज्ञ-अज्ञ आदि। ३. उन मनुष्यों के जीवन-प्रसंग के प्रकार काल और विषय से संबन्धित दो-दो प्रकार के होते हैं। कालतः दो प्रकार के—नूतन अर्थात् अपने समय में घटित और पुरातन अर्थात् अपने से पहले के समय में घटित। भाव से संबन्धित दो भेद—सद्गुण के प्रेरक और दुर्गुण के निवारक या सद्गुणों का वर्णन करनेवाले और दुर्गुणों का वर्णन करनेवाले। प्रसंगवशात् यहाँ सद्गुण का अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष लेना चाहिये और दुर्गुण का अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ। ४. जे बि य हिय-बोहगा अर्थात् जो भी हित-बोधक हों। वे जीवन-प्रसंग एक या अनेक भावों के हो सकते हैं। य शब्द से कल्पित और अर्धकल्पित दृष्टान्तों को भी ग्रहण कर लिया है। बस शर्त इतनी ही है कि वे हित-बोधक होने चाहिये।

दृष्टान्त के पाँच प्रकार—

तेसि तु भाव - वृत्तंत - हाणि - फल - जयाण य ।

चरियाइं च दिट्ठन्ता, पंचविहा हवन्ति णं ॥३५॥

उन (कषाय और गुणों) के भाव—स्वरूप, वृत्तांत, हानि (-लाभ) फल और जय के चरित (और जीवन-प्रसंग) रूप दृष्टान्त (उपर्युक्त) पाँच प्रकार के होते हैं।

टिप्पण—१. दृष्टान्तों के पाँच प्रकार—स्वरूपदर्शक, वृत्तांत वर्णन, हानि-लाभ-दर्शक, फल-सूचक और जय-दर्शक। २. स्वरूपदर्शक—कषायों और क्षमादि भावों के स्वरूप को समझानेवाले दृष्टान्त। ३. वृत्तांत-वर्णन—क्रोध आदि कषायों और क्षमादि गुणों से जीवन में घटित होनेवाले प्रसंगों को आलेखित करनेवाले दृष्टान्त। ४. हानि-लाभ-दर्शक—कषायों से इह-

लौकिक क्या-क्या हानियाँ होती हैं और क्षमा आदि गुणों से इहलौकिक क्या-क्या लाभ होते हैं—यह भाव बतानेवाले दृष्टान्त । ५. फल-सूचक—कषायों और क्षमा आदि गुणों के पारलौकिक अशुभ और शुभ फल बतलानेवाले दृष्टान्त । ६. जय-दर्शक—साधकों ने जिस प्रकार से क्रोधादि कषायों पर जय पायी है और क्षमादि गुणों को धारण उन विधियों को—आराधना के स्वरूप को बतलानेवाले दृष्टान्त । ७. इन पाँचों भावों को बताने के लिये पूरे जीवन-चरित का वर्णन या घटना-प्रसंग के वर्णन रूप दृष्टान्त होते हैं । जीवन चरित एक या अनेक भव के हो सकते हैं । जैसे—तीर्थंकर भगवन्तों के चरित, चण्डकौशिक का वृत्तान्त आदि । ८. जयाण के बाद का य पाद-पूर्ति के लिये है और णं अव्यय वाक्यालंकार भी । ९. चरियाई के बाद के, च से जीवन-प्रसंग, घटना-प्रसंग आदि गृहीत होते हैं । १०. ये दृष्टान्त गद्य, पद्य और गीति रूप में हो सकते हैं । गद्य के अनेक भेद—कथा, कहानी, उपन्यास, जीवनकथा, आत्मकथा आदि । पद्य के प्रमुख तीन भेद—महाकाव्य, खण्डकाव्य और प्रसंगकाव्य । गीति के भी कई भेद—रास, चौपाई, ढालें, प्रकीर्णक आदि । ११. यहाँ दृष्टान्त शब्द विषय को स्पष्ट करनेवाले किसी भी घटना-प्रसंग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । फिर भले ही वह इतिहास, पौराणिककथा, जीवन-चरित, चुटकुला, कथा, कहानी, लोककथा आदि कुछ भी हो ।

दृष्टान्त का वाचन आदि करना—

वायणं च सई तेसि, सुभावो हिय-कारणं ।

जेउं पावे किसीकाउं, बल - वीरिय - दड्ढणं ॥३६॥

उन (दृष्टान्तों) का वाचन, स्मरण और सुभाव हितकारक है और (कषाय आदि) पापों को जीतने और कृश करने के लिये बलवीर्य का वर्धक है ।

टिप्पण—१. उन दृष्टान्तों के उपयोग के लिये उनका संग्रह और संरक्षण करना आवश्यक है । जैसे कि धन का अर्जन, संग्रह आदि करना ।

२. दृष्टान्तों के अर्जन के लिये उनका वाचन, संग्रह के लिये स्मृति और संरक्षण के लिये सुभाव आवश्यक है। ३. दृष्टान्तों का उपयोग मात्र कषायों के ही नहीं, समस्त पापों के जय के लिये हो सकता है और मात्र जय के ही लिये नहीं, कृश और क्षय करने के लिये भी हो सकता है। ४. बल अर्थात् शरीर की शक्ति और वीर्य अर्थात् आन्तरिक उत्साह। वस्तुतः शारीरिक बल का महत्त्व आन्तरिक उत्साह पर निर्भर है अर्थात् वीर्य ही शारीरिक बल का हेतु है। ५. कषायजय के दृष्टान्तों को जानकर कषायजय का उल्लास-उत्साह उत्पन्न होता है। अतः आत्मबल की अभिवृद्धि होती है और तभी दैहिक क्षमता का उपयोग मनोजय के लिये हो सकता है।

वाचन और स्मृति का अर्थ—

सुई पढण-पाढणं, वुत्तस्स जाण वायणं ।

वियार-हारगं वुत्तं, गुणित्ता सरणं सई ॥३७॥

वृत्त=दृष्टान्तों का श्रवण और पढ़ना-पढ़ाना वाचन है और विकार-हारक वृत्त=दृष्टान्तों को गुणकर याद रखना स्मृति है।

टिप्पण—१. श्रुति=सुनना। दृष्टान्तों के संग्रह करने के दो उपाय हैं—सुनना और पढ़ना। किसी को सुनने से तो किसी को पढ़ने से और किसी की दोनों से कषायजय की रुचि जाग्रत होती है। सुनने में विनय आदि विधि का उपयोग किया जा सकता है। इसलिये वह साधना का अंग बन जाता है। २. पढ़ना भी नमोक्कारमंत्र के स्मरणपूर्वक हो तो उसमें भी यत्किंचित् विनय की विधि सध जाती है। ३. लिखना भी दृष्टान्त के संग्रह का एक उपाय है। किन्तु वह वाचन में गर्भित नहीं हो सकता। क्योंकि पहले पढ़े या सुने बिना लिखा नहीं जा सकता। लिखना स्मृति का एक उपाय हो सकता है। ४. सुनाना और पढ़ाना भी वाचना है। क्योंकि किसी को सुनाते या पढ़ाते हुए भी कषायादि के जय का उत्साह जाग्रत हो सकता है। सुनना आदि स्मृति के हेतु भी हैं। क्योंकि सुनें ही नहीं तो याद कैसे रहे। सुनाने

और पढ़ाने के लिये तो स्मरणशक्ति चाहिये ही । किन्तु सुनाने आदि से ज्ञान की आवृत्ति होती है । अतः वे स्मृति में और दृढ़ होते हैं । ५. स्मृति के दो अर्थ बताये हैं—गुनना और याद रखना । गुनना अर्थात् दृष्टान्तों की आवृत्ति करना । आवृत्ति के तीन प्रकार—किसी को सुनाना, अपने आपको सुनाई दे वैसे बोलते हुए चितारना और मौन रूप से मन में चिन्तन करते हुए चितारना । ६. स्मृति का दूसरा अर्थ है—याद रखना अर्थात् यथाप्रसंग क्रोधादि के जय के लिये दृष्टान्तों को स्मृति में लाना । ७. दृष्टान्तों को भावपूर्वक गुनने से स्मृति इतनी सहज हो जाती है कि उन्हें स्मरण करने के लिये फिर प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । और आवेश में प्रयत्न का अवकाश ही कहाँ रहता है, किन्तु आवेश के पूर्व ही याद हो आते हैं और आवेश टंडा पड़ जाता है ।

सुभाव का अर्थ—

आल्हाओ अरई वुत्ते, सुभाओ इइ वुच्चइ ।

दिट्ठं ताण पओगो हु, हवइ सुलहो तओ ॥३८॥

घटना-प्रसंग (के जानने) में (उत्पन्न होनेवाले) आह्लाद और अरति को सुभाव कहा जाता है । क्योंकि उससे दृष्टान्तों का प्रयोग सुलभ होता है ।

टिप्पण—१. सद्गुणों के आचरण रूप-प्रेरक रूप दृष्टान्तों से आह्लाद भाव उत्पन्न होता है । गुणों के प्रति प्रमोदभाव की जागृति होती है । २. दुर्गुणों—कषायों के आचरण से होनेवाली दुःखस्था को चित्रित करनेवाले दृष्टान्तों से दुर्गुणों के प्रति अरति—अरुचि उत्पन्न होती है । ३. सद्गुणों के प्रति प्रमोद—रुचि और दुर्गुणों के प्रति अरुचि-अप्रमोद दोनों मिलकर सुभाव होता है । ४. दृष्टान्तों से उत्पन्न आह्लाद और अरति भाव जितने तीव्र होंगे, उनका प्रभाव उतना ही अधिक स्थायी होगा । जिससे वे स्मृति में सहज रूप से जम जायेंगे और वे चिरस्थायी होंगे । ५. स्मृति—कोष में जमा

वे दृष्टान्त जब भी उनसे उपलब्ध भाव के प्रयोग का अवसर होगा, तब वे सहज ही उपस्थित हो जायेंगे। ६. साधना का यह अंग अत्यन्त सरल और बहुजन-सुलभ है।

दृष्टान्तों का महत्त्व—

दिट्ठंता नानुरंजंति, केवलं जण — माणसं ।

ते कसायाण जेउं तु, पयोगा विव होंति हि ॥३९॥

दृष्टान्त जन-मानस का मात्र अनुरंजन नहीं करते, किन्तु वे कषायों के जीतने के लिये प्रयोगों के सदृश ही होते हैं।

टिप्पण—१. कथा-कहानियाँ जनसमूह में प्रायः मनोरंजन के लिए ही समादृत हैं। २. भगवान् जिनेश्वरदेवों ने सिद्धान्तों को सरलता से समझाने के लिये कथाओं का प्रयोग किया है। ३. कर्म और कर्मफल को समझने के लिये भी धर्मकथाओं का महत्त्व है। ४. धर्मकथाओं से भी मनोरंजन तो होता ही है। किन्तु उनका उद्देश्य मनोरंजन करना मात्र ही नहीं है। ५. मनोविकारों से होनेवाली उलझनों को समझने के लिये दृष्टान्त बहुत उपयोगी हैं। ६. कषायों की हानि और उनके जय के प्रयोगों को दृष्टान्तों से जाना जा सकता है। ७. आराधना और विराधना के प्रकारों और उनके सुफल और दुष्फल को दृष्टान्तों से समझा जा सकता है।

७. विरोधी भाव-द्वार

क्रोध आदि के जय के हेतुरूप भाव—

कोहं तु खंति एमाणं, विणएणऽऽज्जवेण य ।

मायं लोहं च तोसेण, भावेणेवं अघं जिणे ॥४०॥

क्रोध को क्षान्ति से मान को विनय से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से—इसप्रकार (विरोधी) भाव से पाप का जय करें।

टिप्पण—१. 'तु' अव्यय विषय-परिवर्तन का सूचक है। २. विनय के बाद आर्जव को य अव्यय रखकर यह सूचित किया है कि प्रत्येक उत्तम भाव अपने विरोधी विकृत भाव को जीतने के सिवाय अन्य विकृत भावों के जय में गौण रूप से सहायक होते हैं। ३. लोभ के बाद आये हुए च शब्द से यह सूचित होता है कि उन-उन विकारों से उत्पन्न अन्य विकार भी उसी सद्भाव से जीते जा सकते हैं। जैसे—लोभ से उत्पन्न क्रोध और माया को संतोष से और मान से उत्पन्न क्रोध और माया को विनय से जीता जा सकता है।

क्षमा के विविध रूप—

छोह - तुच्छत्त - चाओ य, हियअस्स उदारया ।

खमत्थि विविहा रूवा, पसमो य तित्तिवखया ॥४१॥

क्षोभ और तुच्छता का त्याग, हृदय की उदारता, प्रशम-भाव और तित्तिका— (इसप्रकार) क्षमा विविध रूपवाली है।

टिप्पण—१. क्रोध के अनेक रूप हैं। वैसे ही क्षमा के भी विविध रूप हैं। क्षमा के कुछ रूपों को इस गाथा में बताया गया है। २. क्षोभ किसी हानि आदि के होने पर उत्पन्न होनेवाला भाव है। फिर उससे क्रोधानल भी प्रकट हो सकता है। उसका अभाव होना क्षमा का ही एक रूप है। क्षमा अर्थात् सहन करने की क्षमता। जो सहन कर सकते हैं, वे क्षुभित क्यों होंगे? १. क्षोभ-त्याग अर्थात् सहिष्णुता की वृद्धि। ३. तुच्छत्व = निम्नकोटि का व्यवहार। बात-बात में चिढ़ना, 'तू-तू, मैं-मैं' करना, तेरा-मेरा करना आदि तुच्छता है। तुच्छता का त्याग अर्थात् गंभीरता। गंभीर व्यक्ति बात-बात में छलकता नहीं है। वह भी क्षमा का ही एक रूप है। ४. 'य' शब्द से और

भी ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि का त्याग भी क्षमा के रूप हो सकते हैं—यह सूचित किया है । ५. हृदय की उदारता अर्थात् अन्य के अपराधों को—अपने प्रति तुच्छ व्यवहार को महत्त्व नहीं देना, अन्य को दोषों से ऊपर उठाने की वृत्ति आदि । यह भी क्षमा का ही एक विशिष्ट रूप है । ६. प्रशम अर्थात् शान्ति का भाव । तितिक्षा=भूख, प्यास, शीत, उष्णता, दुःख आदि सहने का अभ्यास । ये दोनों भाव क्षमा के ही तो रूप हैं । ७. 'क्षमा' को साधने का उपाय भी क्षोभत्याग आदि हैं ।

विनय के रूप—

नमया मडया चाओ, पयत्थाण - मयाण य ।

नीयावत्तो अदीणत्तं, अप्पणं विणओ मओ ॥४२॥

नम्रता, मृदुता, पदार्थों के मदों का त्याग (और आत्मगुणों के मद का त्याग), नीचवृत्ति, अदीनत्व और अर्पण विनय माना गया है अर्थात् विनय के भी कई रूप हैं ।

टिप्पण—१. नम्रता=आदर, बहुमान की वृत्ति या अकड़ से रहित भाव । २. मृदुता=कोमलता । इसे ही मार्दव कहते हैं । ३. मदत्याग= किसी भी प्रकार के गर्व का त्याग । उपलब्धि का अभिमान ही मद है । उपलब्धि दो प्रकार की—शुभकर्म-उदय-जनित और कर्म-क्षयोपशमजनित । शुभकर्म के उदय से इष्ट पदार्थों का संयोग, उच्च जाति, कुल आदि सुख-शांता, सौन्दर्य आदि प्राप्त होते हैं और कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान-श्रुत, तप, चरित्र आदि प्राप्त होते हैं । पयत्थाण के दो अर्थ—पदार्थों का और पदस्थान । पहले अर्थ से 'इष्ट पदार्थों के संयोगों' के मद और दूसरे अर्थ से 'उच्चपद और अन्य स्थान' के मद का बोध होता है । पहला अर्थ विभक्त्यन्त पद और दूसरा अर्थ समास पद लेने से निकलता है । ये दोनों अर्थ शुभकर्म के उदय से जनित उपलब्धि से संबन्धित हैं । ३. य शब्द से क्षयोपशम-

जनित उपलब्धि ग्रहण करना चाहिये । ४. नीचैर्वृत्ति—बड़ों के समक्ष लघुता रूप व्यवहार करना । जैसे—बड़ों के सामने उच्चे आसन से नहीं बैठना, उनसे उच्चकोटि के वस्त्र नहीं पहनना, उनके आसन आदि को नहीं ठुकराना आदि । ५. अदीनत्व = दीनपने से रहित अवस्था अर्थात् पर-पदार्थ को बढ़प्पन नहीं देना, उनके अभाव में दुःखी नहीं होना अथवा ऋद्धि, रस और शांता इन तीन गौरवों से मुक्त होना । परपदार्थ से अपना महत्त्व मानने से आत्मा की लघुता प्रकट होती है और दूसरों को तुच्छ समझने की वृत्ति पैदा होती है । अदीनत्व में आत्मभाव का मान और अन्य जनों का आदर—दोनों ही समाये हुए हैं । ६. अर्पण—ममता और अहंकार का विसर्जन । अर्पणता के दो रूप—आत्मा के प्रति और गुरुजनों के प्रति । देहाभिमान के और आत्मा के स्वल्प गुणों में उत्पन्न होनेवाले अभिमान के विसर्जन से आत्मा के प्रति अर्पणता का भाव उत्पन्न होता है । अतः वह विनय रूप है । ७. अहंकार से रहित समस्त व्यवहार विनय है अथवा स्वच्छन्दता के निरोध-पूर्वक आराधना के लिये तत्पर रहना विनय है । ऐसा विनय ही धर्म का मूल कहा गया है ।

ऋजुता के रूप—

छल — कूटत — चाओ य, धम्माणुकूलया सुहो ।

अवक्क — ववहारो य, सच्छया उज्जुया वरा ॥४३॥

छल-कूटता का त्याग (और अन्य भी वंचना रूप भावों का त्याग) शुभ रूपवाली धर्मानुकूलता, अवक्र व्यवहार (और साधना मार्ग से किञ्चित् भी इधर-उधर न होता हुआ व्यवहार) और स्वच्छता श्रेष्ठ ऋजुता (आर्जव) है ।

टिप्पण—१. छल—वंचन, ठगाई अथवा दिखावटी व्यवहार । छल का ही सूचक कपट है । मन में कुछ और बाहर कुछ और — ऐसा व्यवहार अथवा किसी को भुलावे में डालने की वृत्ति छल है । **कूटत्व**—गहरा-

रहस्यमय व्यवहार। इन्हें त्यागना सरलता है। २. य शब्द से वंचना के अन्य व्यवहार और भाव का त्याग गृहीत है अथवा माया के समस्त रूपों का त्याग ऋजुता है। ३. धर्मानुकूलता—धर्ममय—धर्म के अनुकूल व्यवहार ऋजुता है। व्यवहार में भाव भी गर्भित हैं। शुभा अर्थात् आत्मसाधना के लक्ष्य से आचरित धर्मानुकूलता। ४. अवक्रव्यवहार—टेढ़ेपन-कुटिलता से रहित भाव। वक्रता के दो प्रकार हैं—आत्मभाववक्रता और परभाव वक्रता। अपने ही भावों को उत्तमता से विपरीत ले जाना और पराये भावों को भी—ये दोनों प्रकार की वक्रताएँ हैं। इन दोनों का त्याग अवक्र व्यवहार है या भाव है। ५. य शब्द से मोक्षमार्ग से—जिनप्रज्ञप्त तत्त्व से विपरीत व्यवहार, वृत्ति और भाव के त्याग को ग्रहण कर लेना चाहिये। ६. स्वच्छता=स्फटिक-सा निर्मल हृदय-आशय। स्वच्छता=भावों की आन्तरिक निर्मलता अपने आपके अवञ्चनभाव में से प्रगट होती है। इसलिये इसे भी ऋजुता माना है। ७. उज्जुया का बरा विशेषण दिया है। अर्थात् श्रेष्ठ या उत्तम ऋजुता। साधारण ऋजुता मोक्षमार्ग की अंगभूत नहीं होती है, उत्तम ऋजुता ही मोक्षमार्ग का अंग होती है। ऐसे ही क्षमा आदि भी उत्तम होना चाहिए।

संतोष के रूप-पर्याय—

ठिई जहट्टिए भावे, अणवेक्खा अणीहया ।

अनासत्ती अमुच्छा वाऽणाउलया अकंखया ॥४४॥

अरई उ पयत्थस्स, अप्पे तुट्ठी अलीणया ।

अप्पत्थणा अलोलत्तं, संतोसो विविहा मया ॥४५॥

यथास्थित भाव में स्थित रहना, अनपेक्षा, अनीहा, अनासक्ति, अमूर्छा, अनाकुलता, अकांक्षा, पदार्थ की अरति, आत्मा में तुष्टि, अलीनता, अप्रार्थना, अलोलत्व— ये (सभी) संतोष के विविध रूप हैं।

टिप्पण—१. ठिई . . . = हर हाल में मस्त । अनपेक्षा = किसी से भी किसी प्रकार की प्राप्ति की भावना का अभाव । अनीहा = इच्छा रहित भावना । अनासक्ति = किसी से भी प्रतिबद्धता का अभाव । पदार्थ-अरति = पुद्गल में आनन्द मनाने का अभाव । अलीनता = विषयों में अतल्लीनता । अप्रार्थना = किसी से किसी पदार्थ की मांग का अभाव । अलोलत्व = लालसा का अभाव । २. **अप्पे तुट्ठी** के दो अर्थ—आत्मतुष्टि और अल्प में तुष्टि । दोनों अर्थ उपयुक्त हैं । आत्मतुष्टि को जीवन-यात्रा के निर्वाह को ही अपेक्षा रहती है और अल्पतुष्टि भी एक के स्थान पर आधा पाकर भी अशान्त नहीं होता है । दोनों ही समय आने पर जीवन की अपेक्षा से भी मुक्त हो जाते हैं । ३. 'संतोष' के रूपों को दरसाने के निषेधात्मक शब्दों को ही गिनाया गया है । मात्र दो शब्द समूह ही भावात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हैं—यथास्थित भाव में स्थिति और आत्मतुष्टि । प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति, तृप्ति आदि शब्द भी 'संतोष' के विधेयात्मक स्वरूप को यत्किञ्चित् अभिव्यक्त करते हैं ।

इनके द्वारा कषायों को कैसे जीते—

एवं गुणाण जिताए, भावणाए स—संतिए ।

पवित्तीए रईए य, कसायाणं वसंकरे ॥४६॥

इसप्रकार गुणों के चिन्तन से, शान्तिपूर्वक भावना से, (उन भावों की) प्रवृत्ति और रति से कषायों के वश में करे ।

टिप्पण—१. इन भावों से चार प्रकार से कषायों को वश में करने की बात कही है । यथा—चिन्तन, भावना, प्रवृत्ति और रति । २. **चिन्तन**—गुणों के स्वरूप विशद रूप से चिन्तन करना । जिससे क्षमा आदि की समझ दृढ़ होती है । उनके प्रयोग की विधियाँ उपलब्ध होती हैं । ३. **भावना**—बार उन भावों की आवृत्ति करना—गुणों के चिन्तित स्वरूप की पहले शब्दशः और फिर भावतः पुनरावृत्ति करना । जिससे सदगुणों का अवरोध टूटता

है और अन्तःस्रोत फूटता है । ४. प्रवृत्ति—सद्गुणों का यथासमय प्रयोग करना—उन्हें व्यवहार में उतारना। जिस समय क्रोध आदि का प्रसंग आये, उस समय क्षमा आदि गुणों को धारण करना । यह भी कषायों को वश करने का एक अभ्यास है । ५. रति—क्षमा आदि भावों में सानन्द मग्न हो जाना । जिससे वे गुण स्वाभाविक हो जाते हैं और कषायों का उदय ही नहीं हो पाता । ६. चिन्तन आदि शान्ति=मन की अक्षोभ अवस्था में ही सही रूप से हो सकते हैं ।

८. गुरु आज्ञा में हर्ष द्वार

जीव की स्वच्छन्द-वृत्ति—

कषाय - विवशो जीवो, सच्छन्दयाइ वट्टइ ।

कस्सवि वसयं बंधं, विसं मच्चुव्व मण्णइ ॥४७॥

कषाय से विवश बना हुआ जीव स्वच्छन्दता से रहता है । वह किसी की भी वशता को बन्धन, जहर और मृत्यु के समान समझता है ।

टिप्पण—१. क्रोधी मनुष्य जरा-जरा-सी बात में चिढ़ने लगता है । अतः उसे अकेले रहने में ही शान्ति प्रतीत होने लगती है । मानी जीव अपनी मान-हानि सह नहीं पाता है । अतः वह किसी का नियंत्रण नहीं सह सकता । मायी जीव सत्ता चलानेवाले पर ही अपनी माया का जादू चलाने लगता है । यद्यपि लोभी जीव दासता स्वीकार लेता है, फिर भी वह लोभ में बाधक अंकुश को नहीं सह सकता । २. कषाय से विवश जीव स्वच्छन्द बन जाता है अथवा स्वच्छन्द जीव कषायों के वशीभूत हो जाता है । ३. वह किसी अन्य के क्या — अपने ही अधीन नहीं रहता है । ४. बन्धन आदि तीन उपमाएँ उसकी स्वच्छन्दता के स्तर की सूचक हैं । उसे धर्म, नीति आदि बंधन लगते हैं ।

गधा भी निर्बन्ध होता है—

सयं मण्णइ सीहं व, ण ता खमइ बंधणं ।

सो इणं किं न जाणेइ, णिब्बंधो भमए खरो ॥४८॥

वह अपने को सिंह के तुल्य मानता है । इसकारण बन्धन को नहीं सहता है । किन्तु वह यह क्यों नहीं जानता है कि निर्बन्ध तो गधा भी घूमता है ।

टिप्पण—१. स्वच्छन्द व्यक्ति कहता है कि—‘सिंह किसी का बन्धन नहीं सहता ?’ और ‘सिंह अपने बल से ही मृगेन्द्रता (= पशुओं में आधिपत्य) प्राप्त करता है ।’ अर्थात् स्वच्छन्द अपने को महान, अधिपति और किसी के भी आधिपत्य से विहीन समझता है । २. ‘घोड़े के लगाम लगती है, सिंह के नहीं’ — ऐसे मान के भाव से जीव उन्मत्त हो जाता है । अतः वह स्वच्छन्द होकर गुरुजन आदि के प्रति उद्धत बन जाता है और नैतिकता, नियम आदि का भंग करने लग जाता है । ३. उसे यह न भूलना चाहिये कि उत्तमता का स्वच्छन्दता से कोई संबन्ध नहीं है—वैसे ही स्वाधिपत्य से भी । जैसे गधे का मालिक न तो गधे को बाँधता है और न लगाम ही लगाता है । वह स्वच्छन्द विहार भी करता है । इससे न तो वह स्वाधीन ही बन जाता है और न अश्व जितनी श्रेष्ठता ही प्राप्त कर सकता है । ४. अनुशासन में रहना बन्धन नहीं है । किन्तु उत्थान का हेतु है ।

स्वच्छन्द क्या विमुक्त है ?—

इच्छाए किं ण बद्धो सो ? पयत्थेसु नच्चइ ?

तुच्छत्थेण विणा दुक्खी, कुओ तस्स सतंतया ? ॥४९॥

क्या वह इच्छा से बन्धा हुआ नहीं है ? वह पदार्थों (इन्द्रियों के विषयों) में क्यों नाचता है ? वह तुच्छ विषय के अभाव में दुःखी है तो उसकी स्वतन्त्रता कहाँ है ?

टिप्पण—१. इच्छा भी बन्धन ही है । क्योंकि स्वाधीन तो वह है—जो किसी के अधीन नहीं हो । २. विषयाभिलाषा जैसे जीव को नचाती है, वैसे वह नाचता है । पदार्थों के संयोग के लिये वह क्या नहीं करता है । ३. पदार्थ जड़ हैं । वे जीव को क्या नचा सकते हैं ? किन्तु अपनी इच्छा के कारण उनसे बंध जाता है । जीव की स्वच्छन्दता को अति परतन्त्रता सूचित करने के लिये उसे जड़ पदार्थों के द्वारा नचाता हुआ या उनमें नाचता हुआ कहा गया है । ४. जीव तुच्छ-से जड़ पदार्थ के लिये दुःखी हो उठता है तो उसकी वह स्वतन्त्रता कैसी है ? ५. कहीं न कहीं आसक्त जीव ही स्वच्छन्द बनता है । फिर वह कषायों का पोषण करता है । ६. स्वच्छन्द जीव को मर्यादा नहीं सुहाती है । वह उसे भंग करने के लिये 'नूतनता' 'मानवता' 'आज्ञादी' आदि के कई आकर्षक नारे देता है ।

स्वच्छन्दों की गुरुजन के प्रति दृष्टि—

गुरुं तु रक्खसं बुद्धं, पावो मण्णइ अप्पियं ।

विरुद्धं तस्स आणाए, वट्टित्ता वड्ढए दुहं ॥५०॥

वह पापात्मा गुरु को राक्षस-दुष्ट अप्रिय मानता है और उनकी आज्ञा के विरुद्ध वर्तित्व करके दुःख की वृद्धि करता है ।

टिप्पण—१. स्वच्छन्द जीव की पापवृत्ति होती है । अतः वह पापी है । क्योंकि वह निरंकुश होता है । २. गुरु उसे अपने सुख-सपनों के भंग करनेवाले लगते हैं । अतः वह उन्हें राक्षस मानने लगता है । वे उसकी स्वच्छन्दाचार-प्रवृत्ति का निवारण करते हैं, इसलिये दुष्ट लगते हैं और अनुशासन करके सदाचार में प्रवृत्त करते हैं, अतः वे अप्रिय लगते हैं । ३. गुरु के प्रति अरुचि होने के कारण वह उनसे विरुद्ध आचरण करता है । वह गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करता है और कषाय-प्रवृत्ति में रत रहता है ।

आज्ञा-खण्डन-पालन के कारण—

मय - माण - कसाएहि, आणं गुरुण खंडइ ।

जइ हिट्ठो य आणाए, जीवो ते चेव नासइ ॥५१॥

(वह) मद-मान कषायों से गुरु की आज्ञा को खण्डित करता है और यदि जीव (गुरु) आज्ञा में हर्षित होता है तो उन्हीं (कषायों) को (वह) नष्ट करता है ।

टिप्पण—१. जाति आदि के मद, लोगों से प्राप्त यश आदि रूप मान और ऋद्धि आदि गौरवों से जीव गुरु आज्ञा से विमुख होता है । २. क्रोधादि के कारण भी गुरु में अप्रीति उत्पन्न होती है और आज्ञा की अवहेलना होती है । ३. स्वच्छन्दता से कषाय की उत्पत्ति और पुष्टि होती है तो कषाय से आज्ञा भंग । ४. गुरु-आज्ञा में हर्ष होने पर स्वच्छन्दता का निरोध होता है । अतः आज्ञा-भंजक कषाय ही भग्न होने लगता है ।

आज्ञा-प्राप्ति पर उत्तम भाव धारण करना—

आणं सुणिय मन्निज्जा—‘धन्तोऽहं किच्च जं किवं ।

आणवेइ सुदिट्ठोए, वसामि तं सुहं परं’ ॥५२॥

(गुरुदेव की) आज्ञा सुनकर (यह) मानें कि—‘मैं धन्य हूँ, जो (गुरु) कृपा करके (मुझे) आज्ञा देते हैं । (उनकी) उत्तम दृष्टि में (मैं) बसा हूँ—यह (मेरे लिये) परम सुख है ।’

‘मन्नेइ मं परं जुगं, जम्हा ममेव सासइ ।

परमो एस सोहग्गो, तम्हा ण हरिसेज्ज किं’ ॥५३॥

“(गुरुदेव) मुझे को परम योग्य मानते हैं । इसलिए मुझे ही (आज्ञा से) शासित करते हैं । यह (मेरा) परम सौभाग्य है । इस-कारण मैं हर्षित क्यों न होऊँ?”

‘गिमहे सच्छन्दया-रूवे, हिडेमि पीलिए भवे ।

आयवत्तेण तावत्तो, किवालू मम रक्खइ’ ॥५४॥

‘स्वच्छन्दता रूप ग्रीष्म ऋतु में पीड़ित भव में (मैं) घूम रहा हूँ । (इसलिये) कृपालू (गुरुदेव) (आज्ञा रूपी) आतपत्र (=छत्र) से मेरी (सन्ताप रूपी) ताप से रक्षा करते हैं ।’

टिप्पण—१. गुरुदेव से आज्ञा पाकर अपने को उनका कृपा-पात्र मानना । २. गुरुदेव की दृष्टि में रहना—परम सुख है । ३. आज्ञा-वहन में अपने को योग्य समझना । ४. आज्ञा-वहन करने से योग्यता की वृद्धि होती है । ५. ‘गुरुदेव की दृष्टि में मैं योग्य हूँ, तभी उन्होंने आज्ञा-प्रदान की है’—यह समझना । ६. आज्ञा पाना परम सौभाग्य है । ७. गुरुदेव की आज्ञा भव-ताप से रक्षा करती है । ८. स्वच्छन्दता अति उष्ण ऋतु के समान है—सुखद नहीं । ९. संसार में स्वच्छन्दता व्याप्त है । १०. स्वच्छन्दता से सन्ताप ही उत्पन्न होता है । ११. संसार की स्वच्छन्दता से संरक्षण करने के लिये गुरुदेव की आज्ञा छत्र के समान है ।

आज्ञा प्राप्त किये बिना कुछ नहीं करें—

नापुच्छित्ताण कुव्वेज्जा, किंचि किच्चाण वा कया ।

गुरुणो णेव गूहेज्जा, संजया सुसमाहिया ॥५५॥

मुनि(गुरु से) पूछे बिना कुछ नहीं करें अथवा कुछ कर लिया हो तो गुरु से कुछ भी नहीं छिपावे । (जिससे मुनि) उत्तम समाधिवाले होते हैं ।

गुरु आज्ञा में हर्ष का फल—

हरिसो गुरु-आणाए, जगावेइ मनोबलं ।

कसाया तेण नो इंति, होंति य सवसा सया ॥५६॥

गुरु आज्ञा में हर्ष मनोबल जाग्रत करता है । उस (बल) से कषाय आते नहीं हैं और सदा अपने वश में होते हैं ।

टिप्पण—१. गुरुदेव के द्वारा स्वतः आज्ञा दिये जाने पर खुशी और गुरुदेव से छिपाये बिना पूछकर कार्य करने में उत्साह-यही गुरु-आज्ञा में हर्ष है । २. गुरु से छिपाकर किया जानेवाला कार्य साधना नहीं है । ३. साधक के जीवन में गुरु-आज्ञा की अधीनता से स्वच्छन्दता का प्रवेश नहीं होता है । ४. स्वच्छन्दता में भोग का ही उत्साह रहता है और गुरु-आज्ञा की अधीनता से वह समाप्त होता है । क्योंकि साधक की अन्तर-परिणति खुले रूप से भोग भोगने से रोकती है । ५. यह अन्तर-परिणति गुरु-आज्ञा की अधीनता से परिपुष्ट होती है और आवेशों-आवेशों के वशीभूत नहीं होने की शक्ति उत्पन्न करती है । वही मनोबल है । ६. मनोबल कषायों के उदय की भूमिका को निर्मित नहीं होने देता । ७. कदाचित् कषाय बलात् उदय में आ जाते हैं तो सपेरे के द्वारा साँप को खिलाने के समान वह उन्हें खिलाता है ।

गुरु आज्ञा से कषायजय की विधि

हरिसेण जिणे कोहं, पारतंतेण उस्सयं ।

मायं किच्चं करित्ताणं, लोहं जिणेप्पणेण य ॥५७॥

(गुरु-आज्ञा में) हर्ष से क्रोध को जीते । (आज्ञा के) पारतंत्र्य से मान को, (आज्ञा के अनुसार) कार्य करके माया को और (आज्ञा-पालन में) समर्पण से लोभ को जीते ।

टिप्पण—१. आज्ञा-पालन के चार अंश-हर्ष, पारतन्त्र्य, कार्य-प्रवृत्ति और समर्पण । २. हर्ष—गुरु की आज्ञा में प्रसन्नता, आनन्द, सौभाग्य और सुख का अनुभव करना । कोई अपने पर हुक्म चलाता है तो मन में आक्रोश पैदा होता है । परन्तु जिसके प्रति हमारी पूज्यबुद्धि-भक्तिभावना होती है, उसका आदेश पाकर प्रसन्नता होती है और कार्य करके सन्तुष्टि होती है । इसप्रकार गुरु-आज्ञा में हर्ष अंशतः क्रोधजय में सहायक होता है । फिर वह हर्ष जीवन-व्यापी होकर आत्मप्रीति में परिणत होता है । ३. परातन्त्र्य—गुरु-आज्ञा के पूर्णतः अधीन होने के भाव । पराधीनता जीव को अच्छी नहीं लगती है । परन्तु जिसके गुणों के प्रति समादर होता है, उसकी अधीनता वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है और उसकी अजानकारी में वह एक कदम भी भरना नहीं चाहता है । वैसे ही गुरु के प्रति समादर होता है तो उनका शासन सहर्ष स्वीकृत हो जाता है । जिससे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि के नाम पर होनेवाली मान की प्रवृत्ति का विसर्जन कर देता है । ४. कार्य-प्रवृत्ति—गुरु की आज्ञा के अनुरूप ही कार्य सम्पादन करना । मनुष्य जैसा का तैसा कार्य करना नहीं चाहता । वह काम-चोरी करता है और उन्हें नहीं करने के बहाने बनाता है । परन्तु जिसके प्रति रागभाव होता है उसका कार्य प्राण-प्रण से करने को तत्पर रहता है । वैसे ही गुरुदेव में परमानुराग होना चाहिये । भगवद् आज्ञा के अनुरूप उनकी समस्त आज्ञाओं को तथारूप संयोजित करके सम्पादन करना चाहिये । ऐसी प्रवृत्ति से माया पर जयलाभ होता है । ५. समर्पण—किसी भी पदार्थ में से अपनापन-ममत्व हटाकर गुरु-आज्ञाओं को ही अपना सर्वस्व मानना । समर्पण से लालसा का जोर नहीं चलता है । ६. श्री मेघमुनिजी का मन एक ही रात्रि में ही संयम से पतित हो गया । मान कषाय का उदय हुआ । अतः आक्रोश भी जागा । परन्तु भगवान से कहे बिना घर नहीं जाना । इतनी-सी आज्ञा-परतन्त्रता ने उन्हें संयम में स्थिर होने का अवसर दिया और फिर वे कषायजय के मार्ग पर चल

पड़े । उन्हें तत्काल ही हर्ष आदि शेष तीन अंग भी उपलब्ध हो गये ।

९. कर्म-विपाक-चिन्तन-द्वार

कर्मविपाक के प्रति भाव—

चित्तो कम्म-विवागोऽस्थि, नस्सि रज्जसु मुज्झसु ।

भोगो बद्धाण तुज्झेव, पुणो बंधो जमाउलो ॥५८॥

कर्म-विपाक अनेक प्रकार का है । इस (कर्म-फल) में न आसक्त बन और न विवेक-विकल बन । क्योंकि (वह कर्म-फल का) भोग तेरे ही बन्धे हुए (कर्मों) का है । यदि (उनमें) आकुल (होता) है तो फिर से कर्म का बन्ध होता है ।

टिप्पण—१. कर्म-विपाक अर्थात् कर्मों का फल । उसके दो प्रकार-शुभ और अशुभ । शुभ के मनोज्ञ भोग आदि अनेक भेद हैं । अशुभ के मुख्य दो भेद—अघातिकर्मजन्य और घातिकर्मजन्य । अघातिकर्मजन्य अशुभ विपाक के अमनोज्ञ भेद आदि अनेक भेद हैं और घातिकर्मजन्य के प्रमुख तीन भेद हैं—आवरण, विकार और विघ्न । २. शुभविपाक में आसक्त नहीं होना—रागी नहीं बनना । अशुभ-विपाक में विवेक विकल नहीं बनना—द्वेषी नहीं बनना । ३. अपने ही कर्म-फल का भोग होता है—पराये का नहीं । बंधे हुए कर्म ही उदय में आते हैं । यदि कर्म भोग रहे हैं तो कर्म सत्ता में अवश्य हैं, तभी उनका फल भोग हो रहा है । अपने कर्म होते ही नहीं तो उनका फल भी नहीं भोगना पड़ता । ४. अनुकूल विपाक में जीव राग से आकुल होता है और प्रतिकूल विपाक में द्वेष से । दोनों प्रकार की आकुलता से पुनः अशुभ कर्म का ही बन्ध होता है । ५. शुभ विपाक अघाति कर्मों का ही होता है और घातिकर्मों का अशुभ

विपाक ही होता है । घातिकर्मजन्य अशुभ विपाक में—आवरण और विकार में प्रायः आकुलता नहीं होती । अघातिकर्मजन्य अशुभ विपाक में और विघ्न में प्रायः आकुलता होती है । ६. समस्त कर्मों से मुक्त होने के भाव होने चाहिये । किन्तु जब कर्म का भोग चल रहा हो, तब शुभ विपाक में रागाकुल और अशुभ कर्म-विपाक में द्वेषाकुल न बनकर समभाव में स्थित रहना चाहिये । ७. वस्तुतः अशुभ-अघाति-कर्म-विपाक में आकुल नहीं होना चाहिये । क्योंकि वह अनिष्ट संयोग रूप होता है । अतः उसमें आकुलता होने पर आर्तध्यान ही निष्पन्न होता है ।

घातिकर्म-विपाक के प्रति भाव—

विग्धावरण भोगम्मि, मा हृज्ज आउलो विउ ।

खवितुं ते समं कुज्जा, पसंतो सुसमाहिबं ॥५९॥

विज्ञ विघ्न = अन्तराय और आवरण = ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के भोग में आकुल नहीं होवे । किन्तु प्रशान्त और उत्तम समाधिवान बनकर उनको क्षय करने के लिये श्रम = तप करे ।

टिप्पण—१. विज्ञ अर्थात् कुशल साधक । साधक को कर्म के भेद-प्रभेदों और उनसे होनेवाले फलों का ज्ञाता होना चाहिये । साथ ही 'मैले वस्त्र के प्रक्षालन के समान मैं अपने कर्ममल के प्रक्षालन के लिये तत्पर हुआ'—सदैव यह भान रहना चाहिये । यह बोध ही साधक को साधना में मुक्ति-पर्यन्त प्रवृत्त रखता है । २. अन्तराय कर्म के उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न उत्पन्न होता है । ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान और उसके स्रोतों का ह्रास होता है और दर्शनावरणीय कर्म के उदय से सामान्य बोध का ह्रास होता है और निद्रा घेरती रहती है । विघ्न उत्पन्न होने पर सहज ही

आकुलता होती है । किन्तु ज्ञान आदि के आवृत होने पर मोहनीय कर्म का यत्किञ्चित् क्षयोपशम हो तभी आकुलता होती है अथवा विस्मृति आदि के कारण कुछ हानि होती है तो आकुलता होती है । ३. आकुलता प्रायः पुरुषार्थ की नाशक होती है । अतः उन्हें अलाभ और अज्ञान परीषह समझना चाहिये और परीषह को समभाव से सहने से ही निर्जरा होती है । ४. 'अज्ञान आदि मेरे ही कर्मों के फल हैं । इनसे आकुल होने पर ये दूर नहीं हो सकते हैं । इनसे लड़ते ही रहना है'—यह सोचकर आकुलता से विमुक्त होकर प्रशान्त बन जाय । यहाँ प्रशान्त का आशय अनाकुल है । ५. संकल्प-विकल्प से चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है—दुःख होता है । चित्त की अक्षुब्धदशा समाधि है । 'साधना से तत्काल फल प्राप्त न होने पर भी चित्त का डावाँडोल नहीं होना'—समाधि से यहाँ यही भाव अपेक्षित है । ६. आकुलता कर्मविपाक के कारण होती है और क्षोभ साधन के सफल नहीं होने से होता है । अनाकुलता और अक्षोभ साधक के लिये परमावश्यक भाव हैं । उन्हें यहाँ प्रशान्ति और समाधि संज्ञा दी है । ७. साधना में चित्त-विप्लव न होने देते हुए उसके फल में दृढ़ श्रद्धा बनाये रखना सुसमाधि है । ८. कर्मक्षय के लिये श्रम करना अर्थात् तपश्चरण करना । समग्र शक्ति से ऐसा श्रम करनेवाला साधक ही श्रमण कहलाता है ।

विकार रूप विपाक के प्रति भाव—

विकारो उदिओ मोहो, भावकम्मं पि सो चिय ।

तम्हा तस्सेव भोगम्मि, समभावो न वट्ठइ ॥६०॥

मोहनीय कर्म का उदय विकार है और भावकर्म भी वही है । इसकारण उसके ही भोग में समभाव स्थित नहीं रहता है ।

टिप्पण—१. जबतक मोहनीय कर्म सत्ता में रहता है, तबतक वह विकार रूप में परिणत नहीं होता है । किन्तु वह उदित होते

ही विकार रूप में परिणत हो जाता है अर्थात् मोह का फल विकार ही है । २. मोह का उदय ही भावकर्म है । भावकर्म से ही पुनः कर्म का बंध होता है । ३. राग और द्वेष ये भावकर्म के मुख्य दो रूप हैं । राग-द्वेष की परिणति के अभाव को ही समभाव कहा जाता है । अतः मोह के उदय में समभाव नहीं रह सकता । ४. जब विकार होता है, तब आकुलता अवश्य होती है । अतः राग-द्वेष के अस्तित्व में अनाकुल रहना संभव नहीं है । ५. उनके मंद होने पर ज्ञानी जीवों के मन में खेद अवश्य होता है । क्योंकि मोहोदय से ही अनाचार में प्रवृत्ति होती है । अतः उसके प्रति खेद होना चाहिये । उसके भोग के प्रति आकुलता और भोग के पश्चात् खेद ही साधना में उत्साह और दोषों का प्रायश्चित्त करने का भाव उत्पन्न होता है ।

मोहो चैव कसाया वि, उदओ जेसि होइ तो ।

मा पवहे पवाहम्मि, खिन्नो धीरो थिरो हवे ॥६१॥

कषाय भी मोह ही है । उनका उदय (विकार रूप) है । इस (उदय) के पश्चात् (उसके) प्रवाह में नहीं बहे । खिन्न (होता हुआ) धीर पुरुष (उस समय) स्थिर रहे ।

टिप्पण—१. कषाय भी मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं । २. इन कषाय रूप मोहनीय कर्म के उदय में आने पर क्रोध आदि विकार ही उत्पन्न होते हैं । ३. विकार विवेक को नष्ट करता है । अतः जिस समय उनका तीव्र रूप से उदय होता है, उस समय बुद्धि से सही निर्णय होना संभव नहीं है । उस समय बुद्धि कुंठित हो जाती है और आत्म-संयम भी छुट जाता है । अतः जीव कुछ क्षण के लिये तो उस भाव-प्रवाह में बहेगा ही । ४. असाधक जीव उस भाव-प्रवाह में लम्बे समय तक बह सकता है । किन्तु साधक जीव ऐसा नहीं होने दे । उसे सोचना चाहिये कि 'मैं साधक हूँ । मैं विकारों में बहूँ तो

मेरी साधकता नहीं रह सकती है।' साधकदशा का भान ही उसे विकारों में बहने से रोक सकता है। क्योंकि उदयावलिकाओं में प्रविष्ट कर्मों को क्षण भर में भोग लेता है और वह फिर साधक दशा के भान से कर्मों को उदयावलिका में प्रविष्ट होने से रोक देता है अर्थात् उसका उदय-निरोध प्रारंभ हो जाता है। ५. ज्ञान के बल से कषायों के उदय से खेद होता है। फिर साधना में धैर्य और स्थैर्य अपेक्षित रहता है। खेद, धैर्य और स्थैर्य कषाय-प्रवाह में लम्बे समय तक नहीं बहने देते हैं। खिन्नादि पदों से यही सूचना दी है।

अप्रमत्त बनो—

बले भगम्मि णाणी मा, सोइज्ज मा समं चए ।

उदिएऽत्थि फलं तम्हा, अप्पमत्तो परिव्वए ॥६२॥

ज्ञानी (कषायों के द्वारा) बल भग्न कर देने पर भी शोक नहीं करें और श्रम नहीं छोड़ें। क्योंकि (कषायों के) उदय होने पर (उनका) फल होता (ही) है इसलिये अप्रमत्त (होकर) (साधना-मार्ग में) विचरण करें।

टिप्पण—१. कषाय आन्तरिक बल को तोड़ देते हैं। अतः एक-दम निराशा छा जाती है। अतः मन शोक-संतप्त हो उठता है। २. शोक दो प्रकार का—निराशा रूप और पश्चाताप रूप। निराशा रूप शोक परित्याज्य है। क्योंकि वह साधना की इतिश्री कर देता है। ३. साधना का श्रम अपरित्याज्य है। क्योंकि साधना का श्रम सम्यक् पुरुषार्थ है। उसे छोड़ देना अर्थात् कषायों से हार जाना है और हमें उनसे हार स्वीकार करना नहीं है। ४. साधना के बल से कषाय का वेग तीव्र होता है तो वे साधना के बल को तोड़ देते हैं। कभी साधना बलवती होती है तो कभी कषायवृत्ति। साधना बलवती होती है, तो कषायों का जोर नहीं चलता। अतः जहाँतक वे निःशेष नहीं हो,

वहाँ तक साधना का बल बढ़ाते रहना है । ५. कषाय उदय में आते हैं तो उनका क्रोधादि रूप फल अवश्य होता है । अतः शोक से संतप्त नहीं होना चाहिये । भले ही कोई ढोंगी, धूर्त या पाखण्डी कहे—इससे न बुरा मानना है और न दीन ही होना है (क्योंकि उदयवालिका में प्रविष्ट कर्म को फल देने से नहीं रोका जा सकता है ।) ६. 'मेरे अशुभ कर्म का उदय है'—ऐसा सोचकर क्रोध आदि भी नहीं करते जाना है । सदा सावधान रहते हुए उन्हें ज्यादा फैलने नहीं देना चाहिये और प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि से शुद्धि करते रहना चाहिये । ७. 'कषाय कितने भी प्रबल हों, एक दिन मैं इन पर अवश्य जय प्राप्त करूँगा'—यह दृढ़ संकल्प दुहराते रहना चाहिये । ८. 'मैं आत्मा हूँ और कषाय रूप कर्म जड़ है । मेरे इनके वशीभूत हुए बिना ये कदापि नहीं फल सकते हैं'—यह सोचकर उदय-निरोध के भावों में परिव्रजन-विहरण करते रहना चाहिये ।

उत्साही बनो—

साहणं ते ह नसन्ति, मा अट्टो हुज्ज संजओ !
तवेव संति सत्ताए, नासट्ठा वीरियं धरे ॥६३॥

क्योंकि वे साधना को नष्ट कर देते हैं । किन्तु संयत आर्त नहीं होवे । वे (कषाय) तेरी ही सत्ता में हैं । इसलिए (उनके) नाश के लिये वीर्य (=उत्साह, शक्ति) धारण करें ।

टिप्पण—१. इस गाथा में अप्रमत्त रहने का कारण पहले चरण में बताया है । वे कषाय साधना को भंग कर देते हैं । इसलिये अप्रमत्त रहना आवश्यक है । २. जब 'हु' शब्द का अर्थ निश्चय' लिया जाता है, तब 'अप्रमत्त रहते हुए भी किंचित्-सी असावधानी में वे कषाय साधना को निश्चय ही भंग करते हैं'—यह अर्थ होगा । कषायों का स्वभाव साधना को भंग करना ही है । ३. अप्रमत्त रहते हुए भी साधना भंग होगी तो आर्तता

होना स्वाभाविक है। किन्तु यहाँ संज्ञो शब्द से यह याद दिलाया है कि 'तुम संयत हो अर्थात् सम्यक् प्रकार से साधना का अभ्यास करनेवाले साधक हो।' इसलिये मन में आर्त मत बनो। अपना अभ्यास चलने दो-पुनरपि पुनः। ४. हे साधक ! वे कषाय तुम्हारी ही तो सत्ता में हैं। सत्ता के दो अर्थ—१ कर्म का उदय में न आकर आत्मा में जमे रहना और २. अधीन होना। यहाँ ये दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। परन्तु पहला अर्थ प्रधान है। क्योंकि सत्ता में रहे हुए कर्म का ही क्षय किया जा सकता है, उदय में आये हुए का नहीं। ५. उन कर्मों के क्षय करने का उत्साह हृदय में बनाये रखना चाहिये। ६. 'तुम्हारी ही सत्ता में है' का दूसरा आशय है कि 'भले ही वे कर्म आत्मा में 'घर में आयी हुई धूल' के समान बाहर से आये हुए हैं। किन्तु सम्प्रति वे तुममें हैं, तभी उदय में आते हैं। इसका आशय यह है कि घर का कचरा देखकर आर्त बनना वृथा है, वैसे ही कषायों के उदय से आर्त बनना ठीक नहीं है। किन्तु उनकी सफाई का उद्यम करना ही उचित है और शक्ति का इसीलिये संचय करना है। ७. इस कथन से अगले परिच्छेद के 'कषायक्षय-करण' रूप विषय की सूचना भी दी गयी है।

शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के परिणाम फलवान हैं—

परिणामेण - बंधोत्ति, सफलो सो हि होइ किं ?

परिणामेण मोक्खोत्ति, सफलो सो न होइ किं ? ॥६४॥

'परिणाम से बन्ध है'—तो क्या वह (बंध) ही फलवान है? और 'परिणाम से मोक्ष है'—तो क्या वह (कर्म से मुक्त होने का उपाय) फलवान नहीं है ?

टिप्पण—१. 'परिणाम से बंध और परिणाम से मोक्ष'—यह उक्ति है। परिणाम से कषायादि रूप कर्मों का बन्ध होता है और फिर बद्ध कर्म फल देते हैं। अतः 'परिणाम से बन्ध' यह उक्ति सही है। २. इस गाथा में यह प्रश्न उठाया है कि 'कर्मबन्ध ही फलवान है क्या कर्मक्षय के उपाय

नहीं ?' यह प्रश्न साधक के चञ्चल चित्त को साधना में स्थिर करने के लिये है। ३. उक्ति के दोनों ही अंश सत्य हैं। किन्तु 'हे साधक ! तू कर्मबन्ध को फलवान मानकर, कर्मक्षय के उपायों को निष्फल मानता है'—यह सही नहीं है। ४. जब साधक कषाय आदि के क्षय के परिणाम लाने का अभ्यास करता है, तब उनका कषाय-क्षय रूप फल अवश्य ही प्रकट होगा ही—यह श्रद्धा कर। ५. अशुभ परिणाम से कर्म-बन्ध होता है। किन्तु वे बद्ध कर्म तत्काल ही फल प्रदान नहीं करते हैं। उनकी स्थिति पूर्ण होने पर ही प्रायः वे फल प्रदान करते हैं। वैसे ही कर्मक्षय के उपाय भी परिणाम रूप होने पर भी वैसे उत्कर्ष के स्तर पर पहुँचकर ही कर्मक्षय रूप फल प्रदान करते हैं। ६. 'वैसे अशुभ परिणाम-जनित कर्म सफल है, वैसे शुभ परिणाम-जनित साधना भी सफल ही है' ऐसी श्रद्धा होने पर साधना से विरत होने के परिणाम कैसे आयेंगे ? ७. योग शुभ और अशुभ ही होते हैं—शुद्ध नहीं। साधना योगजनित या योगाश्रित होती है। अतः सैद्धान्तिक मत से साधना शुभयोग ही है।

इस परिच्छेद का उपसंहार—

**एवं मुनिता विविहे उवाए, तेहि करिता स-वसे कसाए ।
सबभंति जीवा पसमं गुणे य, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोकखं । ६५।**

इसप्रकार (साधक) जीव विविध प्रकार (कषायों को वश में करने) के उपायों को जानकर और उनके द्वारा कषायों को अपने स्वाधीन करके प्रशम भाव को गुणों (= मूल और उत्तर गुणों) को प्राप्त करते हैं (अतः मुनि बन जाते हैं और कषायों को वश में करने के लिये अप्रमत्त बनते हैं) इसकारण से वे मुनि मोक्ष को जल्दी ही प्राप्त करते हैं।

टिप्पण—१. कषाय-वशीकरण के उपाय गुरुजन का विनय करके उनसे श्रवण करें। ऐसा ही योग नहीं हो तो स्वयं विनय पूर्वक तद्विषयक ग्रन्थों को पढ़ें और फिर चिन्तन करके उन उपायों को उपलब्ध करे अर्थात् उन्हें

अपनी स्मृति में भली-भाँति जमा लें। २. उपायों को जान लेने मात्र से साधना पूर्ण नहीं हो जाती। किन्तु उनका चित्त लगाकर अभ्यास करना चाहिये। तथारूप उपायों का पुनरपि पुनः अभ्यास ही साधना की कुंजी है। जो साधक के मोक्षमार्ग के तालों को खोलती है अर्थात् अभ्यास साधना में आनेवाले अवरोधों को दूर हटाता है। ३. कषाय जितना-जितना मंद होकर वश में होता है, उतना-उतना प्रशम भाव का आविर्भाव होता है और गहराता जाता है। ४. गुण के दो भेद सर्व और देश। इनके प्रत्येक के दो-दो भेद मूल और उत्तर। सर्वमूलगुण अर्थात् पाँच महाव्रत। सर्व उत्तरगुण अर्थात् विविध प्रत्याख्यान। देशमूलगुण अर्थात् पाँच अणुव्रत। देशउत्तर गुण अर्थात् चारगुणव्रत और चारशिक्षाव्रत। ५. कषाय को वश में करने में क्रमशः सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होती है। इन्हें पाकर जीव कर्मक्षय के लिये प्रवृत्त होता है। ६. सर्वविरत मुनि ही कर्मक्षय के मार्ग पर तीव्र गति से चलते हैं। अतः गाथा में मुनि शब्द का प्रयोग किया है। यदि सामान्य साधक भी कर्मक्षय के मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ता है तो वह भी मुनित्व को प्राप्त कर लेता है। ७. जिसके कर्मक्षय होते हैं, वह जल्दी मोक्ष प्राप्त करता है। जीवा बहुवचन है मुणी एकवचन अर्थात् अनेक साधकों में कोई एक जल्दी सफल होता है।

✽ सुक्ति-सुधा ✽

(प्रवर्तक श्री उमेशमुनिजी म. 'अणु')

१. दीर्घ समय तक साधना करने पर कठिन से कठिन कार्य भी साधा जा सकता है।
२. जिनशासन का अनुराग आत्मज्योति को प्रज्वलित करता है।
३. जिन-आज्ञा से संयमरूपी दीपक का निर्माण होता है। संयम-दीपक में ज्ञान-आराधना की अखण्ड ज्योति जलती है। संयम-दीपक में श्रद्धा और पुरुषार्थ का तैल चाहिये।

चउत्थो परिच्छेओ-खयकरणं (कषायों को क्षय करना)

कषाय-क्षय की प्रवृत्ति का प्रारंभ—

कसायं तु किसं किच्चा, धीरो अप्पं वसं करे ।

उवाए पुण जाणित्ता, खयं काउं पयट्टए ॥१॥

धीर (साधक) कषायों को कृश करके अपने आपको (अपने) वश में करे और फिर (कषाय-क्षय के) उपायों को जानकर (उनका) क्षय करने के लिये प्रवृत्त होवे ।

टिप्पण—१. कषायों को दुर्बल करके, उन्हें अपने वश में करना—कषायक्षय की भूमिका है । २. कषायों को कृश और वश करने पर आत्मा स्वाधीन होता है अर्थात् अपने बल-वीर्य को संयमित करके, उनसे यथेच्छ कार्य लेने में सक्षम होता है । ३. जीव का वास्तविक इच्छित कार्य कर्मक्षय का पुरुषार्थ ही है । समस्त कर्मक्षय कषाय-क्षय के बिना संभव नहीं है अथवा कषायक्षय होने पर अन्य कर्मों का क्षय अवश्यमेव होता है । ४. जीव स्वाधीन बनकर ही कषाय-क्षय के उपाय उपलब्ध कर सकता है और फिर उसके परिणाम कषायक्षय के लिये प्रवृत्त होते हैं । ५. कषायक्षय के लिये परिणाम की प्रवृत्ति के लिये तीन बातें आवश्यक हैं—कषाय की कृशता, आत्म-स्वाधीनता और तथारूप उपायों की उपलब्धि ।

क्षय की परिभाषा—

जे जे अप्प - पएसेसुं, बद्धा चिट्ठन्ति णं चिरा ।

सत्ताए तेसि उच्छेओ, खओत्ति वुच्चए पहू ॥२॥

आत्म-प्रदेशों में लम्बे समय (या अनादि) से जो-जो (कर्म) बन्धे हुए हैं—बन्धते रहे हैं, उन्हें सत्ता में से उड़ा देना—प्रभु क्षय कहते हैं ।

टिप्पण—१. आत्मा के साथ कर्मों का दूध में पानी के समान मिल जाना-बंध है। आत्मा में कर्म का प्रवेश मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है। २. **चिरा** शब्द का यहाँ 'अनादि से'—यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कर्म जीव के साथ अनादिकाल से लगे हुए हैं। जीव पहले कभी भी कर्म से रहित नहीं था। ३. जीव के निरन्तर प्रति समय कर्म का बंध और कर्म का भोग चलता रहता है। पुराने कर्मोंका भोग होता है और नये कर्मों का बन्ध। ४. बन्धे हुए कर्म स्थिति पूर्ण होने पर उदय में आते हैं और फल देकर खिर जाते हैं। इसप्रकार कर्मों का खिर जाना भी अंशतः क्षय है। किन्तु उसके साथ पुनः बन्ध जुड़ा हुआ है और उसकी जाति के कर्म सत्ता में भी जमें रहते हैं। ५. सत्ता में रहे हुए कर्मों को विरस करके आत्मप्रदेशों से खिरा देना क्षय है। फिर तज्जातीय कर्म सत्ता में नहीं रहते। ६. इसप्रकार कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष हो सकता है—अन्यथा नहीं। ७. जीव के अध्यवसाय विशेष से कर्मों की तीन स्थितियाँ बनती हैं—क्षय, उपशम और क्षयोपशम। प्रदेशोदय, विपाकोदय और सत्ता-तीनों का अभाव कर देना क्षय है। प्रदेशोदय और विपाकोदय का अभाव कर देना उपशम है और मात्र विपाकोदय को रोक देना अथवा उदय में आये हुए कर्मों को क्षय कर देना, सत्ता में रहे हुए कर्मों को दबा देना—उपशमा देना और प्रदेशोदय चलते रहना क्षयोपशम है। कषायों की तीनों प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं। ८. उपशम लम्बे समय तक नहीं चल सकता है। अन्तर्मुहूर्त बाद ही कर्मों का उदय पुनः प्रारंभ हो जाता है। क्षयोपशम लम्बे समय तक रह सकता है। किन्तु सदा के लिये नहीं रह सकता। क्षय का आशय ही यह है कि कर्म का सदा के लिये नाश। ९. कषायों का क्षयवत् क्षय भी होता है। उसे विसंयोजना कहते हैं। परन्तु विसंयोजित कर्मों का बन्ध पुनः प्रारंभ हो सकता है। १०. कषायों के कृशीकरण और वशीकरण में उपशम, क्षयोपशम और विसंयोजना होती है। ११. सदा के लिये कषायों का नाश ही कषायों का क्षय है। इस प्रकरण में उसी से प्रयोजन है।

कर्मक्षय का हेतु (—भावविशुद्धि—)

कसायस्सुदओ तेण, पुणो बंधो पुणोदओ ।

एवं अणाइ-कालाओ, कओ संसार-चक्कए ॥३॥

(सत्तागत) कषाय का उदय होता है। उससे (क्रोध आदि परिणति के कारण) पुनः (कषाय-कर्मों का) बन्ध होता है और फिर (उस कषाय का) उदय होता है। इसप्रकार इस संसार-चक्र में अनादि काल से (यही) क्रम (चल रहा) है।

टिप्पण—१. कषाय रूप जड़ कर्म जीव के कार्मण शरीर में जमा रहते हैं। वही सत्ता है अर्थात् कर्मों में जब तक फल देने की शक्ति का प्रादुर्भाव न हो वहाँ तक वैसे ही रूप में (कार्मण शरीर के रूप में) पड़े रहना। २. कर्म की स्थिति परिपक्व होने पर वह फल देने के लिये सत्ता में से चलायमान होता है और फिर क्रमशः फल प्रदान करने के लिये प्रवृत्त होता है, उसे (विपाक-) उदय कहते हैं। ३. फल का वेदन होना विपाकोदय है। फल का वेदन न होते हुए कुछ-कुछ कर्मदल का उदय में आना प्रदेशोदय है। कर्म की स्थिति = काल मर्यादा के पूर्ण होने का समय आने पर विपाकोदय होता है और अबाधा काल = कर्म के ज्यों-के-त्यों पड़े रहने का समय पूर्ण होने पर प्रदेशोदय होता है। यहाँ उदय से प्रयोजन विपाकोदय से है। ४. कषाय का विपाकोदय होने से उस-उस प्रकृति के तीव्र रसादि के स्तर के अनुसार क्रोध, मान आदि विकार आत्मा में उठते हैं। वे विकार भाव पुनः तथारूप आकर्षित कर्मों को आत्मा के साथ जोड़ने का कार्य करते हैं अर्थात् पुनः क्रोध के उदय से क्रोधरूप और मान आदि के उदय से मान आदि रूप कर्मों का बन्ध होता है। वे बद्धकर्म सत्तागत हो जाते हैं। ५. सत्ता में से पुनः कर्म का उदय, उससे फिर बन्ध, फिर सत्ता और फिर उदय-इस प्रकार यही क्रम अनादि चल रहा है। ६. इस क्रम से संसार की स्थिति है, इसलिये यह संसार-चक्र कहलाता है। ७. संसार में समस्त जीवों की यही स्थिति है। बन्ध के बाद

उदय और उदय में पुनः बन्ध-यही चक्र चल रहा है । ८. इस कषायचक्र को समझना सरल नहीं है । विरले जन ही इसे समझ पाते हैं ।

यदि इसीप्रकार बंध और उदय का चक्र चलता रहे तो जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता । इस शंका का समाधान करते हैं—

बद्धं रसेण तिव्वेणं, मंदं मंदेण तिव्वयं ।

कम्मं हवइ भावेणं, अकम्मं अरसं हवे ॥४॥

भाव (=परिणाम) से तीव्र रस से बाँधा हुआ कर्म मंद रसवाला और मंदरस से बाँधा हुआ कर्म तीव्र रसवाला हो जाता है । तथा रस से रहित कर्म अकर्म हो सकता है ।

टिप्पण—१. कर्म-बन्ध में प्रधान हेतु रस है । २. रस के दो अर्थ— कषाय से अनुरंजित आत्म-परिणाम और आत्मा में तथारूप परिणाम उत्पन्न करने की कर्म में पड़नेवाली शक्ति । ३. कषाय से अनुरंजित परिणाम से कर्म में फल उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न होती है । वह कर्मगत रस है । कषाय-अनुरंजित परिणाम आत्मगत रस है । ४. आत्मगत रस के निमित्त से कर्म में स्थितिबंध और रसबन्ध होता है । ५. तीव्र रस से तीव्र रस का बंध और मंदरस से मंदरस का बन्ध होता है । किन्तु उस बद्धरस में भाव से न्यूनाधिकता भी हो जाती है । अतः उदय में आने की अपेक्षा से चतुर्भंगी बन जायेगी—तीव्ररस से बद्धकर्म तीव्ररस से युक्त फल देनेवाले, तीव्ररस से बद्धकर्म मंदरस से युक्त फल देनेवाले, मंदरस से बद्धकर्म तीव्ररस से युक्त फल देनेवाले और मंदरस से बद्धकर्म मंदरस से युक्त फल देनेवाले । ६. यहाँ कषाय का प्रकरण है । तीव्र कषाय से बद्ध कर्म परिणाम विशेष से मंद कषाय रूप में परिणत होनेवाले हो जाते हैं । मंदरस से बद्धकर्म में इससे विपरीत स्थिति हो सकती है । ७. जिस रस से कर्मबद्ध हुए हों, वैसे ही रस से उदय में आये और पुनः वैसे ही रसवाले कर्म का बन्ध हो तो कभी भी कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती । किन्तु ऐसा एकान्त नियम नहीं है । भाव की

तरतमता बद्धरस में तरतमता उत्पन्न कर सकती है। ८. भाव में कर्मरस का अमुक अंश में शोषण करने की शक्ति है तो उसमें कर्म के समस्त रस को शोषण करने की शक्ति पैदा की जा सकती है या पैदा हो सकती है। ९. जिन कर्मों के समस्त रस का शोषण हो जाता है, वे कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् उनमें फल प्रदान करने की शक्ति नहीं रहती है। अतः वे कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। उसे निर्जरा कहते हैं। अतः आत्मा क्रमशः कर्मों से मुक्त हो सकता है। पहले कषाय की प्रकृतियाँ क्षय होती हैं, फिर अन्य कर्म।

यही बात दूसरे ढंग कही जाती है—

रसो य जारिसो होइ, ठिई कमस्स तारिसी ।

सो वि हवेइ भावेणं, भावो खयस्स हेउ ता ॥५॥

और जैसा (तीव्र या मंद) रस होता है वैसी ही (उत्कृष्ट या जघन्य) स्थिति कर्म की होती है। वह (यह तीव्र या मंद रस) भी भाव से होता है। अतः (कर्मों के) क्षय का हेतु भाव ही है।

टिप्पण—१. भाव की अशुद्धि की तरतमता के अनुरूप कर्म-बंध का हेतु रूप रस होता है अर्थात् भाव की उत्कृष्ट या जघन्य अशुद्धि के अनुसार ही तीव्र या मंद रस होता है। २. तीव्र या मंद रस कर्म की उत्कृष्ट या जघन्य स्थितिबन्ध में कारण है। ३. न तो जीव के सदा तीव्र कषाय ही रहता है और न मंद ही। अतः सदैव एक सद्दृश स्थिति-बन्ध नहीं होता। कषाय की उत्कृष्ट स्थिति ४० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की। मध्यम अन्तर्मुहूर्त एक समय अधिक से लगाकर एक समय कम ४० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक कई प्रकार की हो सकती है। ४. इस स्थिति बंध के हेतु रूप न्यूनाधिक रस का कारण भाव ही है। अतः ऐसा भी भाव हो सकता है कि रस अर्थात् कषाय भाव अत्यल्प हो और रसशोषक भाव विशेष हो वही भाव कर्मक्षय का हेतु है। ५. जब अत्यल्प रस होता है, अत्यल्प

स्थितिवाले कर्मों का बन्ध होता है और वे थोड़े ही समय में क्षीण हो सकते हैं ।
 ६. रसशोषक भाव कर्मोदय-जनित नहीं होता है । वह पुरुषार्थ-जनित होता है । वह भाव संवर और निर्जरा की क्रिया से उत्पन्न होता है, जिससे संवर और निर्जरा तत्त्व यथार्थ रूप से घटित होते हैं । ७. इस चिन्तन से इस शंका का समाधान हो जाता है कि जीव उदय और बन्ध के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता है । अशुद्ध भाव से जैसे कर्मबन्ध होते हैं, वैसे ही शुद्ध भाव से क्षय भी होते हैं ।

इसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

बंधो असुद्ध - भावेण, सो वि थर - कमेण हि ।

तम्हा भाव-विसोहीए, खओ सिद्धो असंसओ ॥६॥

(कर्मों का) बन्ध अशुद्ध भाव से होता है और वह (बंध) भी स्तर क्रम के अनुसार ही होता है । इसकारण भाव की विशुद्धि से (कर्म का) क्षय सिद्ध होता है—निःसंशय रूप से ।

टिप्पण—१. तीव्रकषाय अशुभ भाव है और मंदकषाय शुभ भाव है । ये शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के भाव अशुद्ध भाव है । क्योंकि कषाय का अंश दोनों में है । २. तीव्रकषाय के तीन स्तर तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम और मंदकषाय के भी तीन स्तर मंद, मंदतर और मंदतम । इन भावों के स्तर के अनुसार ही कर्मों का बन्ध होता है । ३. तीव्रतम कषाय से तीव्र कषाय की अशुद्धि कम और मंदकषाय से मंदतम कषाय की अशुद्धि कम होती है । इसप्रकार भावों की अशुद्धि का स्तर अति न्यून होना विशुद्ध भाव के अस्तित्व को सिद्ध करता है । ४. विशुद्ध भाव से नये कर्म का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्मों का क्षय होता है । इसप्रकार भावविशुद्धि से कर्मक्षय सहज में ही सिद्ध हो जाता है । ५. विशुद्ध-भाव शुभाशुभ भाव से विलक्षण है ।

विशुद्ध भाव के प्रकार—

^१सम-^२संदेह-^३निर्व्वेया, ^४धम्मसद्धा ^५पलोयणा ।

^६निंदा ^७गरिहुवायात्ति, खयस्सण्णे वि कित्तिया ॥७॥

शम (प्रशम), संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा, प्रलोकना, निन्दा और गर्हा—ये कषायक्षय के उपाय हैं तथा अन्य उपाय भी आगम में कहे गये हैं ।

टिप्पण—१. इस गाथा में क्षय के उपायों के साथ ही द्वारों का क्रम भी निर्दिष्ट है । २. शम (प्रशम)—क्रोध और मान द्वेष तथा माया और लोभ राग हैं । राग और द्वेष के प्रवाह के मोड़ को यहाँ प्रशम माना है अथवा कषायों से रागभाव का निवारण प्रशम है । ३. संवेग—मोक्ष या आत्मा में रति या राग । मोक्ष या आत्मा में राग कषाय-जनित नहीं है । यह भाव कषाय से विलक्षण है । यह राग सदृश भाव होते हुए भी राग से भिन्न है । आत्मभाव से भिन्न पदार्थों और भावों में राग से कर्म का बन्ध होता है । किन्तु आत्मा में राग से कर्मों का क्षय होता है । ४. निर्वेद—भव और विषयों में अरुचि । यह भाव द्वेष जैसा प्रतीत होता है । किन्तु यह कर्मबन्ध का हेतु नहीं है । क्योंकि यह अरुचि आत्मराग से उत्पन्न होती है । ५. धर्मश्रद्धा—धर्म में अटल विश्वास । इस भाव में कषायांश नहीं है । यह भी विशुद्ध भाव का रूप है । ६. प्रलोकना—निरीक्षण करने का भाव । इसके दो रूप—उपयोग से युक्त आराधना में प्रवृत्ति और आराधना में हुई स्थलनाओं का निरीक्षण । ये दोनों भाव कषाय से अनुरंजित नहीं होते हैं । ७. आत्म-निन्दा—अपने दोषों का पश्चात्ताप । यह भाव भी आत्मविवेक से उत्पन्न होता है । अतः यह भाव भी कषाय से भिन्न है । ८. गर्हा—गुरुदेव की साक्षी से अपने दोषों की निन्दा करना । यह भी विशुद्ध भाव है । ७. ये सात भाव कषायक्षय के लिये मुख्य हैं । फिर इनके आधार से अन्य धर्मानुष्ठानों का विधान भी है । आगम में अन्य भावों का भी वर्णन है ।

१. प्रशम द्वार

(प्र-)शम की परिभाषा—

सोच्चा नच्चा कसायस्स, तिब्बत्तेयर - हायणं ।
ताओ रागस्स दोसस्स, वारणं लक्खिओ समो ॥८॥

कषाय की तीव्रता और मंदता से नाश को सुनकर, जानकर उस (अपने कषाय) से राग का और (दूसरे के कषाय से) द्वेष का निवारण करना—शम (या प्रशम) लक्षित होता है।

टिप्पण—१. कषाय मात्र आत्मगुण का घातक है—चाहे वह अल्प हो या अधिक। २. कषाय की तीव्रता से चरित्रादि गुण की घात होती है। ३. मंदकषाय से पुण्य-बंध होता है। जिससे जीव पुण्य के फलों में आसक्त होकर पापार्जन ही करता है। पाप तो गुणों का घातक ही होता है। ४. श्रवण गुरु से और अनुभवियों से होता है। जानकारी सुनने से, चिन्तन से और अनुभव से होती है। ५. अपने कषायों में जीवों को राग और ममत्व होता है। अतः उनमें दोष प्रतीत नहीं होता है। परायों के कषायों में दोष प्रतीत होता है। अतः उनके कषायों में द्वेष, अरुचि, आक्रोश आदि उत्पन्न होता है। ६. अपने कषाय से राग का और पर के कषाय से द्वेष का निवारण प्राथमिक रूप से शम है। ७. लक्ष्मिओ शब्द से यह सूचित किया है कि यह आशय अपने चिन्तन में लक्ष्य में आया है।

अन्यमत और उसका निषेध—

वेयणे य कसायस्स, राग - दोसाण हायणं ।

केणवि जो समो वुत्तो, एसो जुत्तो न लग्गइ ॥९॥

किसी के भी द्वारा कषाय के वेदन में राग-द्वेष का ह्रास या अभाव जो सम कहा है—वह युक्त नहीं है।

टिप्पण—१. कषाय के वेदन में क्रोध, मान आदि भाव ही बनते हैं। २. उन भावों को उदय में आने पर भोगना ही पड़ता है। क्योंकि कृतकर्म को भोगना ही पड़ता है—भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिये उन भावों में राग-द्वेष न करते हुए, उन्हें भोग लेना चाहिये—ऐसा

एक मत है । ३. इस मतानुसार कषाय के भावों में राग-द्वेष नहीं करना ही समभाव है । यह प्राकृत भाषा के सम शब्द का संस्कृत में सम शब्द के रूप में रूपान्तर है, जिसका आशय माध्यस्थ्य भाव है । ४. सम शब्द का यह आशय युक्तयुक्त नहीं है । क्योंकि ऐसा संभव नहीं है ।

इस मत की अयुक्तता का हेतु—

कसाएणेव मज्झत्थं, नस्सइ किं न जाणसि ?

तेसुं महाविरोहो ता, होहिंतेगखणे कहं ॥१०॥

क्या (तुम) यह नहीं जानते हो कि कषाय से ही माध्यस्थ्य भाव विनष्ट होता है । उन (दोनों) में (परस्पर) महा विरोध है । इसकारण (वे दोनों) एक ही क्षण में (साथ में) कैसे होंगे ।

टिप्पण—राग-द्वेष से टलकर माध्यस्थ्य भाव होता है । अतः राग-द्वेष माध्यस्थ्य भाव का नाशक है । माध्यस्थ्य भाव होगा तो राग-द्वेष में प्रवृत्ति नहीं होगी । किन्तु राग-द्वेष के प्रति, उनके प्रवर्तमान होते हुए, माध्यस्थ्य भाव कैसे होगा ?

कषाय-विवेक और समभाव—

संभवोऽत्थि विवेगोत्ति, तस्सुदये कहंचिय ।

तं वएज्ज समं भावं, सो जुत्तोऽत्थि किंचि वि ॥११॥

उस (कषाय) के उदय होने पर विवेक संभव है । किसी अपेक्षा से उसको समभाव कहा जाय तो वह कुछ भी युक्त है ।

टिप्पण—१. कषाय-विवेक अर्थात् क्रोधादि प्रवृत्ति का त्याग ।
२. क्रोध आदि के उदय होने पर स्व-उपयोग में स्थित होकर क्रोध आदि

को आगे बढ़ने से रोका जा सकता है । ३. क्रोध आदि की बाह्य प्रवृत्ति को रोककर आभ्यन्तर कषाय का क्षमा आदि भाव से निरोध किया जा सकता है । ४. कषाय की बाह्य प्रवृत्ति को रोककर आभ्यन्तर भाव का निवारण करना कषाय-विवेक का साधनात्मक रूप है । इस विधि से कषाय के उदय में उसका विवेक संभव है । ५. विवेक से माध्यस्थ्यभाव के फलित होने का क्षण आता है और विवेक में राग-द्वेष का अंश भी नहीं होता है । अतः इस दृष्टि से कषाय-विवेक को समभाव कहा जा सकता है । उसे समभाव कहना युक्त भी है । ६. 'किञ्चित् युक्त है' अर्थात् आंशिक रूप से युक्त है । क्योंकि विवेक प्रशम भाव का एक रूप है । ७. कषायों में अरुचि होती है, तभी उनमें विवेक किया जा सकता है और माध्यस्थ्यभाव में रुचि-अरुचि दोनों नहीं होती है । जब माध्यस्थ्यभाव या समभाव का औदासीन्य शब्द भी पर्याय-वाची मान लिया जाता है, तब कषायों के उदय में प्रवृत्ति न करते हुए उपेक्षा से उन भावों का दृष्टा बने रहना—समभाव में गर्भित किया जा सकता है । क्योंकि कषाय विवेक की एक यह भी पद्धति है । ८. कषायोदय में औदासीन्य भाव लम्बे समय तक टिकना संभव नहीं है । ध्यान-मौन में अप्रमत्त रहने पर तत्कालीन उदय में ही—ऐसा संभव हो सकता है ।

कषाय-राग की भयंकरता—

विसं कसाय - रागो उ, महादुष्टो विहाङ्गो—

भवदारस्स जेणं खु, अज्ज-पज्जंतए दुहं ॥१२॥

कषायराग विषतुल्य है । (वह) महादुष्ट (है और) भव के द्वार को खोलनेवाला है । निश्चय ही आज पर्यन्त उससे (ही) दुःख है ।

टिप्पण—१. कषायराग के कारण ही कषायों का अस्तित्व लम्बे समय तक बना रहा है—बना रहता है । २. अनन्तानुबन्धी कषाय का गाढ़ापन और मिथ्यात्व के कारण कषायों का राग होता है । अतः वह कषाय की

तीव्रता का कारण बनता है । ३. कषायराग विष के सदृश है । विष जीवन का अन्त करता है और कषायराग गुणों का अन्त करता है । ४. कषायों में राग होता है तो गुणों के प्रति अरुचि होती है । ५. कषायराग महादुष्ट है अर्थात् जीव का अति अनिष्ट करता है । कषायराग भवराग का सृष्टा भी है । भवराग मोक्ष-विद्वेष का हेतु बनता है । अतः कषायराग भवद्वार का उद्घाटक है । ६. कषायों का राग दुःख का भी द्वार है और लम्बे समय तक जीव को दुःखी बनाये रखता है । वस्तुतः अभी तक के दुःख का हेतु भी वही है ।

राग-द्वेष को उलट दो—

हिच्चा कसायरागं च, मोक्खदोसं विउक्कमं—

करे, कसाय-अप्पीइं पीइं भव्वो धरे सिवे ॥१३॥

कषाय-राग और मोक्ष-द्वेष को हटाकर (उनका) व्युत्क्रम करे । अतः भव्य आत्मा कषायों में अप्रीति और मोक्ष में प्रीति धारण करे ।

टिप्पण—१. कषाय संसार का कारण है । जिसका संसार में-भव में राग है, उसका कषाय में भी राग है और भवरागी को मोक्ष में द्वेष होता है । मोक्ष-द्वेषी मोक्ष के उपायों-रत्नत्रय की आराधना में भी द्वेष रखता है । २. कषायराग उसीका छुटता है, जिसे भव में अरुचि हुई हो । कषायराग का और शिव द्वेष अर्थात् मोक्ष में अरुचि का परित्याग करो । ३. कषाय-राग और मोक्ष-द्वेष को उलट देना चाहिये अर्थात् कषाय में अप्रीति और मोक्ष में प्रीति धारण करना चाहिये । कषाय में अप्रीति ही भव अरुचि और मोक्ष में प्रीति ही मोक्ष रुचि की हेतु बनती है । ४. भव्य अर्थात् जो समीप के समय में ही मोक्ष पाने की योग्यतावाला है—आसन्न भव्य । यहाँ भव्य शब्द से यही आशय है । क्योंकि आसन्न भव्य ही या शुक्ल-पाक्षिक जीव ही कषायराग का निवारण कर सकता है ।

यह कैसे हो ?—

‘कहं करेमि एवं’ तु, ‘पन्नाए हु विचारणं ।

किच्चब्भासेण भावंमि, तं किल परियट्ठए’ ॥१४॥

(साधक का प्रश्न—) ‘इसप्रकार कैसे करूँ?’ (उत्तर—) ‘निश्चय ही प्रज्ञा से विचारणा करके, और भाव में अभ्यास के द्वारा (कषाय भाव) को परिवर्तित करे ।’

टिप्पण—१. तेरहवीं गाथा में राग को मोक्ष के प्रति और द्वेष को कषाय के प्रति मोड़ने की बात कही है। इस गाथा में उसे मोड़ने की विधि बताई है। २. राग का कार्य है—प्रीति भाव और द्वेष का कार्य है—अप्रीति/अरुचि भाव। इन्हें मोड़ना अर्थात् इनके पात्रों को पलट देना। ३. **कहं करेमि एवं**—यह प्रश्न है। **एवं** अर्थात् राग और द्वेष को मोड़ना। राग-द्वेष के पात्र को कैसे पलटना? ४. प्रश्न से यह सूचित किया है कि “इस विषय में पहला साधन है—तीव्र जिज्ञासा। दूसरा साधन बौद्धिक विचारणा अर्थात् पहले प्रज्ञा को विशुद्ध करना। समझ में जो कषाय को चेतना का अंश मानने की भूल है, उसे सुधारना। और उसमें मेरापन है उसे हटाकर ‘वे अच्छे हैं—उपयोगी हैं’—यह भाव दूर करना। इसप्रकार प्रज्ञा शुद्ध होती है। फिर यह विचारणा करना—‘क्या कषायों में सचमुच में मेरा राग है? क्या मेरी वृत्ति इनसे चिपटे रहने की है? क्या मैं इनका पोषण करके प्रसन्न होता हूँ?’ यदि ये दोष दिखाई दें तो बेहिचक स्वीकार करके उन्हें दूर करना। ऐसी विचारणा सदैव चलती रहना चाहिये। ५. मोक्ष अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप में सदा के लिये स्थिति। आत्मा में ही और आत्म-गुणों में ही ममत्व स्थापन करना—आत्मरुचि उत्पन्न करना—मोक्ष में प्रीति का प्रारंभ है। पहले ऐसी बौद्धिक विचारणा करना। ६. कषायों के दुष्फलों को पूर्णतः समझना और चिन्तन करना। इससे कषायों में विरक्ति का भाव उत्पन्न हो सकता है। ७. मोक्ष के स्वरूप को समझना और उसका चिंतन करना। इससे

मोक्ष में प्रीति उत्पन्न हो सकती है । ८. मोक्ष में प्रीति और कषायों में विरक्ति के भावों का पुनरपि पुनः अभ्यास करना । ऐसा करने से राग और द्वेष में मोड़ आ जाता है । ९. राग-द्वेष का यह मोड़ मोह का आंशिक क्षयोपशम है । इसीलिये इसे प्रशमभाव कहा है । इस विषय में राजा प्रदेशी का भाव मोड़ दृष्टव्य है ।

२. संवेग द्वार

संवेग का स्वरूप और उसका कार्य—

रई मोक्खस्स संवेगो, गंठी तेणेव भिज्जे ।

सुद्धि - रागो हु कसाय - रागस्स न सजाइओ ॥१५॥

मोक्ष की रति (=मोक्ष की चाह) संवेग है । उस (संवेग) से ही (राग-द्वेष की) ग्रन्थी भिदती है । क्योंकि शुद्धि का राग कषाय के राग का सजातिक (=उसीकी जातिवाला) नहीं है ।

टिप्पण—१. मोक्ष का राग या उसकी इच्छा संवेग है । २. संवेग से ही ग्रन्थि-भेद होता है । ग्रन्थि अर्थात् राग-द्वेष की निबिड़ दुर्भेद्य गांठ अथवा राग-द्वेष के घने जमे हुए परिणाम । ३. तीव्र संवेग से अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय होता है—ऐसा आगम-वचन है । इसी दृष्टि से संवेग से ग्रन्थि-भेद होता है—यह माना है । ४. मोक्ष का राग शुद्धि का राग है । कषाय आत्मा की अशुद्धि है । अतः कषाय का राग आत्मा की अशुद्धि का राग है । आत्म-शुद्धि और आत्म-अशुद्धि का राग एक ही नहीं हो सकते हैं, और न समान जातिवाले ही हो सकते हैं । ५. अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और ग्रन्थि एक प्रतीत होते हैं । क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र के सन्त्यक्तव्य-पराक्रम अध्ययन में प्रथम पुरुषार्थ संवेग है और उससे अनन्तानुबन्धी के क्षय की बात कही है । ग्रन्थि-भेद की बात नहीं है । ६. 'ग्रन्थि' की मान्यता आगम-

सम्मत है । उत्तराध्ययनसूत्र के कम्मपयड्डी अध्ययन (गाथा १७) में गण्ठियसत्त शब्द आया है, जिसका अर्थ अभव्य जीव की राशि किया गया है अर्थात् जिनके ग्रन्थि सदैव विद्यमान रहती है, ऐसे जीव । अभव्य जीवों के ग्रन्थि-भेद नहीं होता—अनन्तानुबन्धी का चतुष्क भी क्षय नहीं होता है । अतः ग्रन्थि और अनन्तानुबन्धी चतुष्क एक प्रतीत होते हैं । ७. अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होती है । उस सम्यक्त्व से जीव पतित हो जाता है । अतः अनन्तानुबन्धी का बन्ध पुनः प्रारंभ हो जाता है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या ग्रन्थि भी पुनः बन जाती है ?—इस विषय में सम्प्रति प्रमाण पुरःसर कुछ नहीं कहा जा सकता है । अतः तत्त्वं तु केवलिगम्यं—यह कहकर संतोष करते हैं । ८. यहाँ संवेग का कार्य ग्रन्थि-भेद जो कहा गया है, उसका आशय अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का क्षय है ।

अप्पसुद्धि हि मोक्खोऽत्थि, कसाय-रहिया य सा ।

तम्हा तस्सेव पीईएण्तबन्धी खए न किं ? ॥१६॥

आत्मशुद्धि ही मोक्ष है और वह (=आत्मशुद्धि) कषाय से रहित होती है । अतः उस (मोक्ष) की प्रीति से अनन्तानुबन्धी का क्षय क्यों नहीं हो सकता है ?

टिप्पण—१. आत्मा की परमशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है । २. समस्त कषायों के क्षय हो जाने पर ही पूर्णतः आत्मशुद्धि उपलब्ध होती है । क्योंकि कषायों के क्षय होने पर मोहनीय कर्म का क्षय पूर्ण होता है और मोहनीय के क्षय के साथ ही शेष तीन घाती कर्मों का युगपत् क्षय हो जाता है । अघाती कर्म तो भवोपग्राही हैं । जब तक आयुष्य है, तबतक वे रहते हैं और आयुष्य के क्षय के साथ ही जीव अन्य कर्मों से भी मुक्त होकर सिद्ध हो जाता है । अतः कषाय से मुक्ति ही मुक्ति है—यह उक्ति सही है । ३. मोक्ष की प्रीति आत्मशुद्धि की प्रीति है । उससे मोक्ष की उपादानता तैयार होने लगती है

और संसार की उपादानता भग्न होने लगती है । अतः मोक्ष के राग-शुद्ध आत्मत्व के राग से अनन्तानुबन्धी चतुष्क क्षय हो-इसमें कोई आश्चर्य नहीं । ४. कषायराग उदय भाव है और मोक्ष का राग क्षायोपशमिक भाव है । उस भाव से कर्म को क्षय करने के योग्य भावों का आविर्भाव होता है । ५. संवेग अर्थात् सम्यक् प्रकार का वेग-गति । भावों का वेग संसार से हटकर मोक्ष और मोक्ष के कारणों के प्रति हो जाना संवेग है ।

संवेग की भूमिका कषाय राग का अभाव—

कसायं दुहरूवं जं, बंधरूवं पतीयए ।

रागो तस्स तथा एव, सयमेव विलीयए ॥१७॥

कषाय जो दुःखरूप और बन्धरूप प्रतीत होता है तो उसी समय उस (कषाय) का राग स्वयमेव विलीन हो जाता है ।

टिप्पण—१. जो दुःखरूप और बन्धनरूप लगता है, उससे राग का अभाव हो जाता है । २. कषाय दुःखरूप हैं-बन्धन हैं-यह दृढ़ प्रतीति होना चाहिये । जो दुःखरूप और बन्धन हो, उसमें गौरव की अनुभूति होती ही नहीं है । ३. जब कषाय में तीव्र रूप से दुःख और बन्धन प्रतीत होता है, तब कषायों का राग अपने आप ही दूर हो जाता है ।

संवेग का आविर्भाव और उसके कार्य—

विगारा हिच्च रागो उ, अप्प-भावे जया कओ ।

सोहिरुई य विस्सासो, धम्मस्स तो भवा भयो ॥१८॥

देवाईसु दढा पीई, संवेगो तेहि तिक्खओ ।

अपुव्वकरणो जेण, गंठिभेओ य जायइ ॥१९॥

जब राग विकार से हटाकर आत्मभाव में किया हो, तब शुद्धि की रुचि, धर्म का विश्वास, भव से भय और देव आदि तत्त्वत्रय में निश्चल प्रीति (उत्पन्न) होती है। फिर उन भावों से संवेग (और अधिक) तीक्ष्ण होता है और अपूर्वकरण (आदि) होता है। जिससे ग्रन्थि-भेद (=अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय) होता है।

टिप्पण—१. राग को विकारों से हटाकर आत्मभाव में जोड़ना-सामान्य संवेग है। २. संवेग से आत्मशुद्धि का भाव विशेष गतिशील होता है। इस भाव से शुद्धि की साधक अनुत्तर धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। फिर भव से भय और सुदेव आदि में निश्चल अनुराग उत्पन्न होता है। ३. भव से भय के साथ ही भव के कारण पापों से भय पैदा होता है। अतः पापों से भय को भी संवेग कहा गया है, वैसे ही सुदेवादि में निश्चल अनुराग को भी। ४. अनुत्तर-धर्मश्रद्धा आदि से संवेग अत्यधिक तीव्र बनता है। उससे अपूर्वकरण रूपभाव और अनिवृत्तिकरण होते हैं। जिससे अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय होता है। ५. अपूर्वकरण से स्थितिघात आदि होते हैं। इनका स्वरूप कर्मग्रन्थों की टीका से जानना चाहिये।

तं ह्येता पुन मिच्छन्तं, खवित्ता लहए रुइं ।

पप्प विसुद्ध - सम्मत्तं, छेयइ भव - मालियं ॥२०॥

उस (अनन्तानुबन्धी चतुष्क) को क्षय करके फिर मिथ्यात्व को क्षय करके (अटल) रुचि को प्राप्त करता है (इसप्रकार जीव) विशुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त करके भव-मालिका को छेद देता है।

टिप्पण—१. अनन्तानुबन्धी चतुष्क को क्षय करने के बाद संवेगजनित परिणाम मिथ्यात्वमोहनीय को क्षय करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। इसके क्षय की प्रक्रिया भी कर्मग्रन्थों की टीका से जानना चाहिये। २. अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को क्षय करने से विशुद्ध सम्यक्त्व

अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है । ३. क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये सम्यक्त्व के तीन प्रकार हैं । औपशमिक सम्यक्त्व अल्प-कालीन होता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में भी चंचलता बनी रहती है । अतः उनसे उत्पन्न रुचि भी वैसी ही होती है । क्षायिक सम्यक्त्व निश्चल होता है । अतः उससे उत्पन्न रुचि भी निश्चल होती है । ४. रुचि अर्थात् हेय में हेय-भाव और उपादेय में उपादेय भाव । क्षायिक सम्यक्त्व से उत्पन्न रुचि निश्चल और निरतिचार होती है तथा जबतक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक वह निवृत्त नहीं होती है । मोहक्षय में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । इसलिये उसकी प्राप्ति का पुनः विधान किया है । ५. जिसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है—यदि आयुष्य नहीं बन्धा हो तो । यदि आयुष्य का बन्ध सम्यक्त्व लाभ के पूर्व ही हो गया हो तो तीसरे या चौथे भव में अवश्य मुक्ति लाभ करता है । इसलिये यहाँ भव-मालिका के छेदन की बात कही गयी है ।

३. निर्वेद द्वार

भव और उसमें अरुचि—

राग-रागे गए पत्ते, धम्मरागेभवेऽरुई ।

सो विसय-पहाणो वा, गुणे भवो भवे गुणा ॥२१॥

राग में राग के दूर होने पर और धर्मराग के प्राप्त होने पर भव में अरुचि होती है । वह (=भव) विषय-प्रधान होता है अथवा गुण में भव और भव में गुण हैं ।

टिप्पण—१. रागभाव में जीव का अत्यधिक राग होता है । जीव किसी का राग-प्रेम पाने के लिये और अपने राग-पोषण के लिये तनतोड़ मेहनत करता है । राग में राग कषायराग का ही अंश है । २. कषायराग के व्यतीत होने पर रागराग भी समाप्त हो जाता है । इसके पश्चात् धर्म-

राग और भव में अरुचि उत्पन्न होती है। ३. संसार-भव विषय-प्रधान होता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन ही संसार में सुखरूप प्रतीत होता है। इसलिये संसार और इन्द्रियों के विषय एकमेक-से हो गये हैं। इसी बात को 'गुण में भव और भव में गुण' रूप में विकल्प के रूप में रखी है। ४. आयारंग के जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे—इस सूत्रांश का अनुवाद ही गुणे भवो भवे गुणा है। गुण अर्थात् शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। पाँचों इन्द्रियों के विषय ये ही हैं। शब्द आदि विषय रूप संसार है और संसार में इन विषयों का सेवन ही परम सुख है। इनके अभाव में संसार और संसार के अभाव में इनके अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

भवभीति-विषयभीति—

भवा बीहेइ जो भव्वो, सो विसया वि बीहइ ।

भव-भीइत्ति निव्वेओ, विलसइ मणे वरे ॥२२॥

(इसलिए) जो भव्य भव से डरता है, वह विषय से भी डरता है। यह भवभीति (या विषय-भीति) निर्वेद है (जो) श्रेष्ठ मन में सुशोभित होता है।

टिप्पण—१. भव और गुणों को अलग नहीं किये जा सकते हैं। अतः भव का भय अर्थात् विषयों का भय और विषयों का भय अर्थात् भव का भय है। क्योंकि विषयभोग से भव की वृद्धि होती है और भवभ्रमण में विषयानुराग वृद्धि पाता है। २. निर्वेद की दो परिभाषाएँ हैं—विषयों से विरक्ति और भव से भीति। इस गाथा में दोनों परिभाषाएँ स्वीकृत की हैं। वस्तुतः जिसे भवभ्रमण से भीति उपजती है, उसे विषयभोग भी अति भयावने लगते हैं। अतः भवभीति और विषयविरक्ति दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों को निर्वेद कहने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती है। ३. निर्वेद आभ्यन्तर गुण है, जिसका मन में प्रादुर्भाव होता है और

फिर बाहर व्यवहार में क्रियाशील होता है। ४. शुभ मन में निर्वेद का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मन का 'वरे' विशेषण दिया गया है। जिन-वाणी की आस्था होने पर मन की गति कुछ सम्यक् बन जाती है। भगवद्-वाणी की आस्था से वासित मन ही वरमन है। ऐसे वर=श्रेष्ठ मन में ही निर्वेद विलसित होता है। ५. विलसइ=मनोमोहक चेष्टाओं से युक्त सुशोभित होता है। आशय यह है कि निर्वेद वर मन में क्रीड़ा करता है—सिद्धिमार्ग के गुणों को अभिव्यक्त करता है।

कषाय और भोग का राग—

अपचक्ष्णानकसाओ, भोगरागं तु कीरइ ।

ता धम्मं सहन्तो वि, अविरइम्मि कीलइ ॥२३॥

अप्रत्याख्यानकषाय भोग के राग को (उत्पन्न) करता है। इसकारण जीव धर्म की श्रद्धा करता हुआ भी अविरति में क्रीड़ा करता है।

टिप्पण—१. अप्रत्याख्यान चतुष्क के उदय के कारण सम्यक्त्वी मानव अंश मात्र भी त्याग नहीं कर पाता है। २. सम्यक्त्वी जीव सावद्य-योग के त्याग रूप चरित्रधर्म का पूर्णतः श्रद्धान रखता है। वह मानता है कि सावद्य-योग के सेवन से चरित्र कदापि विशुद्ध नहीं हो सकता है। सावद्य-योग की प्रवृत्ति अर्थात् असम्यक् चरित्र और सावद्ययोग से विरति अर्थात् सम्यक्चरित्र। ३. सम्यक्दृष्टि आत्मा यह अच्छी तरह से जानता है कि सावद्ययोग के त्याग से ही जिनशासन की प्रवृत्ति होती है। अतः जो सावद्य-योग-विरति को बाह्य क्रिया कहकर उड़ाता है, वह जिनशासन का उच्छेदक है। वह आत्मा सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। अतः वह सर्वविरति की श्रद्धा पूर्ण रूप से करता है। ४. अनादिकालीन अभ्यास से भोग का राग जाता नहीं है। अप्रत्याख्यानी कषाय उसका पोषण करता है और उत्पादन भी करता है।

भोगे दुःखं मुणंतो वि, तम्मि सुहं च वेयइ ।
तम्हा रज्जति भोगेसु, पच्छा मणम्मि पीडइ ॥२४॥

(संविग्न जीव) 'भोग में दुःख है'—यह जानता हुआ भी उस (भोग) में (राग के कारण) सुख का ही वेदन करता है । इसीकारण (वह) भोगों में आसक्त होता है और बाद में मन में पीड़ित होता है ।

टिप्पण—१. ज्ञान और वेदन में भिन्नता हो सकती है । जैसे धूम्रपान के व्यसनी को यह ज्ञान और विश्वास हो चुका है कि मुझे धूम्रपान से कैंसर हो गया है । किन्तु उस व्यसन में राग के कारण धूम्रपान में सुखानुभूति होती है । ऐसा ही है—ज्ञानी के ज्ञान और भोग के वेदन में वैभिन्न्य । २. ज्ञानी का भोग में राग है, क्योंकि उसमें सुख का वेदन होता है और सुख का वेदन भोग में होता है, क्योंकि पूर्व के भोगाभ्यास के कारण उसमें राग है । उस राग को ज्यों का त्यों बनाये रखने में अप्रत्याख्यानावरणकषाय सहायक बनता है—जनक भी बनता है । जैसे व्यसन-सेवन की स्वतंत्रता व्यसन से निवृत्त नहीं होने देती है और व्यसन के राग को उत्पन्न भी करती है और पुष्ट भी । ३. संविग्नजीव भोग में राग के कारण उसमें आसक्त हो जाता है और लीन हो जाता है । परन्तु जब भोगों से निवृत्त होता है, तब उसे पश्चात्ताप होता है । क्योंकि भोग-प्रवृत्ति कर्मबन्ध का हेतु है । सम्यक्ज्ञान दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होता है । किन्तु भोग चरित्रमोहनीय के उदय से और सुखानुभूति शातावेदनीय और चरित्र-मोहनीय के उदय से होती है । ४. भोग के समय चरित्रमोह ज्ञान पर हावी हो जाता है और 'भोग में दुःख है'—यह विस्मरण हो जाता है । इस विषय में खुजली से पीड़ित जन का उदाहरण प्रसिद्ध है । फिर बाद में (भोग से निवृत्त होने के पश्चात्) पुनः ज्ञान जाग्रत होता है । जिससे मन में पश्चात्ताप होता है और अपनी नादानी पर खेद ।

ज्ञानी का भोगासक्ति पर पश्चाताप—

‘नारंभेण विणा भोगा, आरंभेण य दोग्गई ।

तत्थ दुक्खं च संकेसो, एवं भवेसु भामणं ॥२५॥

आरंभ(=जीव हिंसा आदि) के बिना भोग नहीं (होते) हैं और आरंभ से दुर्गति होती है । वहाँ (=दुर्गति में) दुःख और संक्लेश (=अशुभ परिणाम) होते हैं । इसप्रकार भवों में परिभ्रमण होता है ।

टिप्पण—१. भोग का उत्पादन आरंभ के बिना नहीं होता है और उनका परिभोग भी अनारंभ से नहीं होता । २. हिंसा आदि पापों के कारण जीव की दुर्गति होती है । ३. दुर्गति =नरक आदि बुरी गति और दुर्दशा । यहाँ दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं । ४. दुर्दशा और नरक आदि बुरी गति में दुःख और अशुभ परिणाम दोनों ही होते हैं । ५. अशुभ परिणामों के कारण इस भव में और परभव में भी भटकना पड़ता है ।

‘किं विसेसो य भोगेसु ? ते ते भुत्ता पुणो पुणो ।

णेव तित्थी सुहं णेव, तिण्हा तिसु गईसु सा’ ॥२६॥

भोगों में क्या विशेष (=वैभिन्न्य या नावीन्य) है । (मेरे द्वारा) बार-बार वे वे (ही) भोगे गये हैं । (उनमें) न तो तृप्ति ही हुई और न सुख ही हुआ और वह (भोग-) तृष्णा तीनों गतियों में (ज्यों की त्यों बनी रही) है ।

टिप्पण—१. मोहदशा के कारण भोगों में नवीनता प्रतीत होती है । २. उन्हीं-उन्हीं पदार्थों को अनन्त बार भोगा है । क्योंकि एक परमाणु भी नया पैदा नहीं होता । जीव भी अनादि से हैं । अतः पुनरपि पुनः उन्हीं पदार्थों को जीव ने भोगा है । ३. उन्हीं भोगों को भोगने पर भी मोह के कारण कभी तृप्ति का अनुभव नहीं हुआ । क्योंकि भुक्त भोगों का सुख

क्षणभर भी नहीं टिक पाया । ४. तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में ही जीव भोग भोग सकता है, नरकगति में नहीं । तृष्णा=भोग भोगने की इच्छा भोगों के भोग लेने पर भी तीनों गतियों में मौजूद रही और अद्यापि पर्यन्त बनी हुई है ।

‘भोगा ते एव तिष्ठा वि, सा एव मोहिओ कहं ?

अग्नि-पाणेण वा तत्तो, पावे किं ण चएमि ते’ ॥२७॥

भोग वे ही (हैं) और तृष्णा भी वही है। फिर भी (मैं) मोहित कैसे हूँ ? (भोगों में मैं) अग्नि-पान से तृप्त के समान ही (तृप्त हूँ) । फिर भी उन पापों=अशुभ भावों को क्यों नहीं छोड़ता हूँ ?

टिप्पण—१. अनन्त ज्ञानियों के वचन से और फिर अपने चिन्तन से यह समझा है कि न भोग नये हैं और न भोगवृत्ति ही नयी है । २. जीव यह जानकर भी भोगों में क्यों आसक्त है ? उनमें क्यों मोहित होता है ?—यह आश्चर्य है । ३. उबलते हुए पदार्थ का पान करने पर कितनी पीड़ा होती है ? फिर अग्नि-पान के उत्ताप का माप निकालना ही कठिन है । ऐसा ही उत्ताप विषयतृष्णा का है । किन्तु मोहमुग्ध जीव का उस उत्ताप की तरफ ध्यान नहीं है । वह विषय सुख में ही मग्न है ।

निर्वेद से कषाय के दो चतुष्कों का क्षय—

इइ चिंताइ निव्वेओ, तिक्कयरो जया भवे ।

अपच्चक्खाण-पावं वा, तईयंपि खवेइ य ॥२८॥

इसप्रकार के चिन्तन-प्रवाह से जब निर्वेद तीव्रतर (अथवा तीव्रतम) हो जाय, तब अप्रत्याख्यान (कषायचतुष्क) पाप अथवा तृतीय चतुष्क=प्रत्याख्यानावरण कषाय को क्षय करता है ।

टिप्पण—१. निर्वेद परिणाम विषयों की दुःखरूपता के चिन्तन से तीव्र-तीव्रतर होते जाते हैं। चिन्तनधारा जितनी गहरी होती है, निर्वेद उतना ही तीव्र होता है। २. विषयों की विरक्ति की तीव्रता के स्तर के अनुसार निर्वेद तीव्र होता है और फिर तीव्रतर निर्वेद से अप्रत्याख्यान कषायचतुष्क का क्षय होता है। उससे आगे तीव्रतम निर्वेद से प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क का क्षय होता है। वा शब्द से यह विकल्प सूचित किया है कि किसी के परिणाम तीव्र और किसी के तीव्रतर होकर रुक जाते हैं और किसी के तीव्रतम तक पहुँच जाते हैं। उसीके अनुसार कषायचतुष्कों का क्षय होता है। ३. खवइ शब्द के बाद के य शब्द से कषायचतुष्कों का उपशम, और क्षयोपशम भी गृहीत होता है। क्योंकि चरित्र औपशमिक और क्षायोपशमिक भी होता है।

निर्वेद में भोगों के प्रति भाव—

सर्वं भोगं तु जाणित्ता, असारं दुःख-कारणं ।

असाय-अणुबंधं च, आरंभयं हु भावइ ॥२९॥

जानी (इसके बाद) सभी भोग को असार, दुःख के हेतु, असात वेदनीय की बन्ध की परम्परावाले और (दुःख फलवाले) ज्ञपरिज्ञा से जानकर (और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागने की भावनावाले होते हैं) क्योंकि (भोग) आरंभ से ही उत्पन्न होता है, यह भावना करता है।

टिप्पण—१. भोगों में सारतत्त्व अंशमात्र नहीं है। २. भोगों का उत्पादन, संरक्षण और वियोग दुःखमय होता है। अतः भोग दुःख के कारण हैं। ३. भोग में रोगों का भय रहता है। भोग के उत्पादन और भोग में अन्य का वध, बन्धन, पीड़न आदि होता है। अतः उससे असातवेदनीय का बन्ध होता है और उस असाता को वेदते समय द्वेषादि के कारण पुनः असाता का बन्ध होता है। इसप्रकार भोग से असाता की बन्ध परम्परा बनती है। ४. तु शब्द का यहाँ द्वितीय और तृतीय कषायचतुष्क के क्षय के बाद का अर्थ

लिया है अर्थात् आरंभ-त्याग के पूर्व की भाव-भूमिका की सूचक यह गाथा है। अनुबंध के बाद के च शब्द से दुःखफलवाला आशय ग्रहण किया है अर्थात् भोग के पश्चात् शक्ति आदि के ह्रास के कारण रोग, निराशा आदि दुःख रूप फल उत्पन्न होते हैं। ५. चौथे पद में भोग दुःखादि फलवाले क्यों होते हैं—इसका कारण दिया है—आरंभयं=आरंभज=भोग हिंसा, झूठ आदि पापों से उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पादन और भोग में अत्यधिक जीवों का उपमर्दन होता है। हिंसादि आरंभ अशांता के बन्ध के कारण ही हैं। ६ जीव दुःख से डरता है। उसे दुःख उत्पादक कोई वस्तु पसंद नहीं है। अतः जब जीव 'आरंभ से दुःख उत्पन्न होता है और भोग के समय और पहले यह आरंभ होता है'—यह जानता है, तब उसे तत्काल ही आरंभ के त्याग की बुद्धि उत्पन्न होती है। फिर वह पुनः पुनः इस बात का चिन्तन करता है—भावइ शब्द से यह सूचित किया है। ७. इसप्रकार भाव साधुत्व और भाव श्रावकत्व की भूमिका निष्पन्न होती है।

निर्वेद से निष्पन्न त्यागरूप फल—

एवं मुणिय मुच्चंतो, पुण रइं जए चए ।

चिच्चा किंचि वि आरंभं, सत्तीए धारए वयं ॥३०॥

इसप्रकार (भोगों का स्वरूप) जानकर (उनसे) छुटता हुआ, फिर (भोगों में) रति (के त्याग) की यत्ना कर सकता है और (क्रमशः) त्याग सकता है। (अतः) वह किंचित् भी (या समस्त) आरंभ को त्याग कर शक्ति के अनुसार व्रत धारण करता है।

टिप्पण—१. कषायों के अंश छुटते ही ज्ञान विरति रूप फल प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। २. ज्ञान ही भोगों को त्यागने की प्रवृत्ति करवाता है। उनमें रति=आनन्दमयी वृत्ति के शोषण का यत्न प्रारंभ होता है। ज्ञान भोग के समय उपयुक्त होने लगता है। अतः भोग में रस मंद होने लगता है। रस को मंद करने का अभ्यास करना ही—रति में यत्ना है। ३.

भोग-रस की मंदता के पुनः-पुनः अभ्यास से उसमें रति का परित्याग होता है। बोधि जितनी तीव्र होती है, भोगवृत्ति उतनी ही क्षीण होती है। ४. बोधि की तीव्रता से अपने आप पर अनुकम्पा उत्पन्न होती है। उस अनुकम्पा से पर-अनुकम्पा के भाव पैदा होते हैं। 'आरंभ अपने लिये ही घातक है'—इस भाव से आरंभ त्याग की भावना होती है। ५. शक्ति—द्वितीय चतुष्क के क्षय से या द्वितीय और तृतीय चतुष्क के क्षय से उत्पन्न आत्मबल। उसके अनुरूप अंशतः आरंभत्याग से देशविरति-अणुव्रत और पूर्णतः आरंभत्याग से सर्वविरति-महाव्रत का ग्रहण होता है।

निर्वेद से मोक्षमार्ग पर गमन—

सर्व्वेसु चैव भोगेसु, विरज्जइ मणे जओ ।

छिंदित्ता भव-मग्गं च, मोक्खमग्गं पवज्जइ ॥३१॥

(देशविरत जीव) (मनोरथ आदि के) अभ्यास से मन में समस्त भोगों से विरक्त हो जाता है। वह (अंश रूप से भी आरंभ के त्याग से) संसारमार्ग का उच्छेदन कर देता है और (सर्व्वविरति की भावना से देश-विरति को ग्रहण करके) मोक्षमार्ग पर गमन करता है।

टिप्पण—१. कषायों का विषय-प्रवृत्ति से संबन्ध है। अनन्तानु-बन्धी कषाय के उदय में विषयों का राग अच्छा लगता है। इस कषाय के जाने पर विषयों का राग खटकने लगता है। अप्रत्याख्यान चतुष्क के उदय में जीव भोग में आनन्द का अनुभव करता है। भोगों के त्याग की रुचि होते हुए भी भोग-प्रवृत्ति में कटौती नहीं होती है। अप्रत्याख्यानचतुष्क के जाने पर निर्वेद तीव्र होता है। अतः अंशतः भोगों का त्याग करता है और सभी भोगों में विरक्ति हो जाती है। २. प्रवृत्ति में समस्त भोगों का त्याग नहीं हो पाता। भोगों में से ही कषाय की तीव्रता होती है और कभी-कभी भोग ही कषाय की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं। अतः भोग में विरक्ति से कषायों में मन्दता अवश्य होना चाहिये। क्योंकि उनकी मंदता से ही तो भोगरस

क्षीण होता है। ३. प्रत्याख्यानावरणचतुष्क के उदय में मर्यादित भोगों की आसक्ति का परित्याग नहीं कर पाता है और उनके लिये आरंभ करता है। इस कषाय के जाने पर भोगवृत्ति नहीं रहती। मात्र संयमयात्रा के निर्वाह के लिये शरीर को टिकाने हेतु पदार्थों का ग्रहण होता है। परन्तु तत्संबन्धी असावधानी के कारण निरवद्य पदार्थों के सेवन में भी रस पैदा हो जाता है। वह विषयों के लिये आरंभ तो नहीं करता, किन्तु भाव आरंभमय हो जाता है। ४. आरंभ ही संसार का मार्ग है। अतः अंशतः आरंभत्याग से भी संसार मार्ग विच्छिन्न हो जाता है। ५. आरंभ का त्याग ही व्यावहारिक मोक्षमार्ग है अर्थात् आरंभ के त्याग के बिना मोक्षमार्ग पर गमन संभव नहीं है। इसलिये देशविरत आत्मा भी अंशतः आरंभत्याग से मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है और फिर उस पर गमन करता है।

४. धर्मश्रद्धा द्वार

धर्मश्रद्धा बलवर्धिनी—

जह सत्तोइ कीरंतो, सब्बं चायं तु भावइ ।

धम्मस्स तिव्वसद्धाए, वड्ढावेइ नियं बलं ॥३२॥

(देशविरत) यथाशक्ति त्याग करता हुआ (और अविरत समदृष्टि आत्मरुचि करता हुआ) सर्वत्याग=सर्वविरति की भावना करता है और तीव्र धर्मश्रद्धा से आत्मबल की वृद्धि करता है।

टिप्पण—१. संवेग के साथ ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। वस्तुतः संवेग से ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। किन्तु वह संवेग सम्यक्त्व का लक्षण नहीं बन पाता है। परन्तु धर्मश्रद्धा के उत्पन्न होने पर संवेग सम्यक्त्व का लक्षण बन जाता है। २. संवेग से धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उससे संवेग तीव्र बनकर धर्म के अंगरूप में परिणत होता है। ३. धर्मश्रद्धा अर्थात् जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट सर्वविरति में अटल विश्वास। धर्मश्रद्धा से

ही प्रशम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा सम्यक् भाव को प्राप्त होकर यथार्थ-रूप से सम्यक्त्व के लक्षण के रूप में परिणत होते हैं । ४. श्रद्धा ही प्रवृत्ति का हेतु है । जैसी श्रद्धा होती है, वैसी प्रवृत्ति होती है । यदि श्रद्धा शुद्ध होती है तो प्रवृत्ति भी शुद्ध होती है । श्रद्धा से क्रियाबल की वृद्धि होती है । ५. अविरत सम्यक् दृष्टि कुछ त्याग नहीं कर पाता है और देशविरत अंशमात्र ही आरंभ का त्याग कर सकता है । परन्तु सर्वविरति रूप धर्म में उनकी श्रद्धा दृढ़ होती है । वे संपूर्ण रूप से आरंभ के त्याग करने के लिये लालायित रहते हैं । वे धर्म की श्रद्धा को पुष्ट करते हुए बढ़ाते रहते हैं । ६. वे साधक 'तमेव सच्चं . . .' चतुर्विंशतिस्तव आदि और मनोरथों के चिन्तन से धर्मश्रद्धा को और त्यागभावना को बढ़ाते रहते हैं । ७. धर्मश्रद्धा की तीव्रता से और त्यागभावना की दृढ़ता से आत्मबल विकसित होने लगता है ।

धर्मश्रद्धा की आवश्यकता—

तिव्वो जहा य संवेगो, धम्मसद्धा तहा परा ।

ताए सव्वगुणा एंति, सस्सं व वरिसाइ य ॥३३॥

और जैसे-जैसे संवेग तीव्र होता है, वैसे-वैसे धर्मश्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । उस (धर्मश्रद्धा) से (ही) सभी गुण आते हैं । जैसे वर्षा से ही शस्य निष्पन्न होता है ।

टिप्पण—१. मोक्ष की इच्छा होने पर उसके उपायों की खोज होती है । यही संवेग से धर्म की खोज है । मोक्ष के असंदिग्ध उपाय पाकर उनमें दृढ़तम विश्वास उत्पन्न हो जाता है । यही धर्मश्रद्धा है । २. संवेग से धर्मश्रद्धा होती है और उससे संवेग तीव्र होता है । तीव्र संवेग से श्रद्धा को मलिन बनानेवाले कारण समाप्त होते जाते हैं । अतः धर्मश्रद्धा भी तीव्रतम होती जाती है । ३. तीव्र श्रद्धा से मोक्ष-प्राप्ति के योग्य समस्त गुणों का आविर्भाव होने लगता है । इसके लिये वर्षा से अन्न निष्पन्न होने का उदाहरण दिया है ।

धर्म में बाधक कारण और तज्जनित भाव—

पञ्चक्खाण-कसाएण, सायासोक्खं पियं भवे ।

सव्व विरइमिच्छंतो, पुण कट्ठाहि बीहइ ॥३४॥

प्रत्याख्यानानावरण कषाय से शाता-सौख्य प्रिय हो सकता है। फिर सर्वविरति की इच्छा करते हुए (भी) कष्टों से डरता है।

टिप्पण—१. शाता=शारीरिक सुख-अनुकूल वेदन। सौख्य=वैषयिक सुख, इन्द्रियों के लिये अनुकूल विषयों का संयोग और वेदन। २. प्रत्याख्यानानावरण कषाय के उदय से कई प्रकार के भाव होते हैं। उनमें एक स्थिति शाता और सौख्य की प्रियता भी हो सकती है। ३. जिसे शाता-सौख्य प्रिय होते हैं, उसे कष्ट अप्रिय होते हैं। जो अप्रिय हो, उसका संयोग न हो—यह चाह बनी रहती है। ४. चरित्र-आराधना में स्पष्ट रूप से शारीरिक शाता और ऐन्द्रियिक सौख्य के साधनों का स्पष्ट रूप से त्याग होता है। ५. सम्यक्त्वी जीव के हृदय में सर्वविरति=चरित्रधर्म को ग्रहण करने की इच्छा अवश्यमेव होती है। यदि ऐसी इच्छा न हो तो वह सम्यक्त्वी नहीं हो सकता। ६. सम्यक्त्वी जीवों की चरित्र-ग्रहण की अभिरुचि होते हुए भी सभी का सामर्थ्य और साहस सदृश नहीं होता है। कई जन कष्ट-सहिष्णु नहीं हो पाते हैं। अतः 'चरित्रधर्म अवश्यमेव ग्राह्य है'—यह मानते हुए भी उन्हें कष्टों से भय लगता है। ७. उन्हें धर्म प्रिय अवश्य होता है, किन्तु जान-बूझकर कष्ट के मार्ग पर चलना उनके बस की बात उन्हें लगती है।

उनका चिन्तन—

‘पावो सया अकज्जोत्ति, तम्मत्तं साहुजीवियं ।

करेइ मोक्खुवादानं, गेज्झं सिद्धत्तपत्थिणा’ ॥३५॥

‘पाप सदैव नहीं करने योग्य है। उस (पाप) से मुक्त साधु-जीवन है। (वह साधुजीवन) (जीव को) मोक्ष के उपादान (रूप में परिवर्तित) करता है और सिद्धत्व के प्रार्थी के द्वारा ग्राह्य है।

‘परीसहोवसर्गोहि, भरियं तं तु घोरयं ।

अहं सहिउ सबको मि, न वत्ति - बहुसंसयो’ ॥३६॥

‘किन्तु वह (साधु जीवन) अति घोर और परीषहों तथा उपसर्गों से भरा हुआ । मैं (उन कष्टों को) सहने के लिये समर्थ हूँ अथवा नहीं— इसमें बहुत संशय है ।’

टिप्पण—१. सम्यग्दृष्टि आत्मा निष्पाप जीवन को ही अपने लक्ष्य की उपलब्धि में हेतु रूप मानता है। २. निष्पाप जीवन साधु का साधुत्व ही है। ३. जीव की शुद्ध पर्याय सिद्धत्व है। ऐसे सिद्धत्व के आकांक्षी के लिये तो पाप अकरणीय ही है। ४. सया शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि सुखाभिलाषी किसी भी जीव के लिये पाप करने योग्य नहीं है। ५. साधुत्व ही सिद्धत्व की उपलब्धि की योग्यता उत्पन्न करता है। यही उपादान को तैयार करना है। ६. मोक्षमार्ग पर चलते हुए आनेवाले जिन कष्टों को कर्मनिर्जरा के लिये सहना आवश्यक है, उन्हें परीषह कहते हैं। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषह हैं। साधना मार्ग पर चलते हुए जो कष्ट किसी के द्वारा आते हैं, वे उपसर्ग हैं। वे तीन प्रकार के हैं—देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत। ७. परीषह और उपसर्ग तो संसार में भी आते हैं। परन्तु कर्म निर्जरा के लिये उन्हें सहना चाहिये—ऐसी बुद्धि संसारी जीवों में नहीं होती है। वे उचित-अनुचित उपलब्ध सभी उपायों से उनका प्रतिकार करते हैं। संयमीजन संयममार्ग के अनुकूल उपायों से ही, आवश्यक (=संयम-यात्रा के निर्वाह के लिये जरूरत) हो तो निवारण करते हैं। किन्तु कायोत्सर्ग प्रतिमा आदि योगानुष्ठान का सेवन करते हुए किये गये उपसर्गों का निवारण साधक आत्मा प्रायः नहीं करता है और न अनुष्ठानों का ही परित्याग करता

हैं। साधारण समय में किये गये उपसर्गों का, यदि पूरे समूह पर किये जाते हों और वे निवारण के योग्य हों, तो समुचित उपायों से निवारण करते हैं। ८. साधारणतः संसारी जीवों को साधु-जीवन परीषहों और उपसर्गों से भरा हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः कष्ट तो प्रायः प्रत्येक जन के जीवन में आते ही हैं। किन्तु संयमी-जीवन में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहना ही होता है। ९. साधु-जीवन में परीषह-उपसर्गों के सिवाय भी अपने तप-संयम की आराधना के लिये भी अभाव को स्वीकार करना होता है और सुकुमारता तथा सुखशीलता का परित्याग करके प्राप्त सुखों का परित्याग करना होता है—कष्ट सहने पड़ते हैं। अतः साधुजीवन घोरय=भयंकरता से परिपूर्ण लगता है। १०. अविरत समदृष्टि और देशविरत साधक उन कष्टों का चिन्तन करके, अपनी शक्ति को तौलता है। उन्हें कष्ट भारी लगते हैं और अपना सामर्थ्य अल्प। ११. 'मुझे कष्ट असह्य लगते हैं।'—'मैं कष्ट नहीं सह सकता हूँ' आदि संशय उनके हृदय में बने ही रहते हैं। 'संयम ग्रहण करूँ और नहीं पला तो !' ऐसा विराधना का भय भी बना रहता है। १२. सामर्थ्य की कमी, संशय की विपुलता और विराधना के भय के कारण, 'संयम ग्राह्य और प्रिय' होते हुए भी ग्रहण करने के लिये कदम आगे नहीं बढ़ा सकते।

इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

संसय-दोलिओ चित्तो, पच्छा पच्छा हि पेहइ ।

नियमं गहिउं किपि, भंगभया न सक्कइ ॥३७॥

(इसप्रकार) संशय में झूलते हुए चित्तवाला पश्चात् — पश्चात् (—पीछे-पीछे या बाद में करने की बात) ही देखता है या सोचता है और (नियमों के) भंग हो जाने के भय से कुछ भी नियम ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाता है।

टिप्पण—१. आत्मबल में शंकाशील आराधना का प्रारंभ नहीं कर सकता है। २. पच्छा-पच्छा के दो अर्थ—नियमों से दूर-दूर रहना और

‘अभी नहीं, फिर करूँगा—शक्ति बढ़ेगी तब-तब’ यह भाव । ३. ‘करना तो पूरी तरह से निर्दोष रूप से करना, नहीं तो नहीं करना’ ‘नहीं करें तो कुछ नहीं, किन्तु लेकर तोड़ना महापाप है’—आदि आशय भंगभय का है । ४. इस गाथा में प्रत्याख्यानानावरण के तीन कार्य कहे हैं—अपने बल में संशय, फिर कर लेंगे की वृत्ति और भंगभय । ५. भंगभय से कुछ भी नियम ग्रहण नहीं करने में अप्रत्याख्यानकषाय का उदय भी हो सकता है ।

साता-सुख में आसक्ति—

साया - सोक्ख - निमित्तेण, कसाए किर वेयइ ।

तस्साभावे सया भीओ, तम्हा कम्मं पि बंधइ ॥३८॥

शाता-सौख्य के निमित्त से निश्चय ही कषायों का वेदन करता है । उस (शाता-सौख्य) के अभाव में सदा डरा हुआ रहता है और इस कारण कर्म का भी बन्धन करता है ।

टिप्पण—१. साता और सौख्य के प्राप्त न होने पर या उनमें बाधा पड़ने पर क्रोध, उनके प्राप्त हो जाने पर अभिमान, उन्हें प्राप्त करने के लिये छल, वञ्चन आदि और उन्हें प्राप्त करने का अभिलाष रूप में—उनके निमित्त से कषायों का वेदन होता है । २. उनके अभाव भय, शोक आदि होते हैं अर्थात् उनके निमित्त से नोकषायों का भी वेदन होता है । ३. शाता आदि के निमित्त से राग-द्वेष होने के कारण नये कर्मों का बन्ध भी होता है ।

धर्मचिन्ता से होनेवाले भाव—

धम्मचिन्ता तया होइ, धम्मसद्धा परा तया—

‘गईसुं तु भमंतेण, दुहं किं किं न वेइयं ?’ ॥३९॥

‘साया-सोक्खेसु आसत्तो, अज्ज मण्णे सयं निवं ।

निरएंगिदियादीसु, दीणं पुच्छिंस्सु को उ तं ॥४०॥

‘तत्थगयं तुमं कोई, नेच्छिसु जीव मन्निउं ।

विस्सरित्ताण तं सव्वं, ते जीवे अवमन्नसि’ ॥४१॥

‘आउलो साय-सोक्खाण, आउलया उ किं सुहं ?

अन्नेसन्तो तुमं तं हि, नाससि-त्ति न पस्ससि ?’ ॥४२॥

तब (शाता-सौख्य में आत्मालोचन करते हुए) धर्म-चिन्तन की धारा (प्रकट) होती है, तब उत्कृष्ट धर्मश्रद्धा (उत्पन्न) होती है—‘चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए (मैंने) क्या-क्या दुःख नहीं वेदे ?

‘शाता-सौख्य में आसक्त बना हुआ आज अपने को राजा के सदृश मानता हूँ । परन्तु नरक और एकेन्द्रिय आदि के भवों में तुझ दीन को कौन पूछता था ?—(यह देख !)

‘वहाँ (एकेन्द्रिय जाति आदि में) रहे तुझको कोई जीव मानने को (भी) तैयार नहीं था (अतः तेरा निर्दयता से वध होता था) । (अब तेरी भी क्या दशा है ?) तू उन सभी बातों को भूलकर (अपने शाता-सौख्य के लिये) उन्हीं जीवों की अवमानना करता है ।

‘तू शाता-सौख्य के लिये आकुल है तो (हे आत्मन् !) क्या आकुलता सुख है ? तू (उसकी) खोज करता हुआ उसको ही नष्ट करता है—यह नहीं देखता है ।’

टिप्पण—१. इन गाथाओं में धर्मचिन्ता का स्वरूप बताया है । २. जिनेश्वरदेव के वचनों पर परम श्रद्धा के कारण साधक उनके द्वारा प्रतिपादित जीव-स्वरूप के अनुसार आत्मचिन्तन करता है । वह अपने आस-पास के वातावरण का निरीक्षण करते हुए तत्त्वज्ञान का परमविश्वासी बन जाता है और उसे प्रतीत होने लगता है कि सचमुच में मैं चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए यहाँ मनुष्य जन्म पाया हूँ । ३. ‘मैंने चारों गतियों में परिभ्रमण किया है तो मैंने तत्रगत दुःखों का भी वेदन अवश्य किया है’—यह श्रद्धान भी

उसे हो जाता है। फिर वहाँ के दुःखों और साधनागत दुःखों की मृगापुत्रजी के समान तुलना करता है।' ४. अपने दुःख वेदन की आज की स्थिति से साधक तुलना करता है कि आज तू शाता में आसक्त है, परन्तु पहले तेरी क्या स्थिति थी ? जैसे तेरे अतीत काल में अज्ञ जीव जैसा तेरे प्रति व्यवहार करते थे, वैसी ही भूल का शिकार तू भी हो रहा है। ५. सुख की चिन्ता में सुख नष्ट होता है—यह तू देख !' यह आत्मसंबोधन है।

‘पास किं संजमे दुःखं ? किं अईय-दुहाऽहियं ?

दुहं सासय-सोक्खाय, सत्तल - उद्धरणं विव’ ॥४३॥

‘संयम में क्या दुःख है ? —यह देख ! क्या (उसमें) अतीत (में वेदन किये हुए) दुःख से अधिक (दुःख) है ? (संयमगत यह) दुःख शाश्वत् सौख्य (की उपलब्धि) के लिये (अपने चरण में लगे हुए) काँटे के निकालने (के समय होनेवाले दुःख) के समान है।’

टिप्पण—१. कषाय के वशीभूत होकर अतीत काल में अनन्त दुःख सहा है। संयम का दुःख उसके सामने कुछ भी नहीं है। २. वर्तमान में भी कषाय के कारण दुःख सहनेवाले के दुःख से संयमगत दुःखों की तुलना करो तो भी संयमगत दुःख नगण्य ही प्रतीत होगा। ३. जबतक काँटा पैरों में रहता है, तबतक दुःख ही होता है। काँटा निकालते समय भी दुःख होता है। किन्तु काँटे से होनेवाले दुःख के सामने उसे निकालते समय का दुःख नगण्य है। वैसे कषाय से होनेवाले दुःख की अपेक्षा कषायों के क्षय के लिये होने वाला दुःख दुःख नहीं है। ४. कषायों का बन्ध होता है—शाता-सौख्य के लिये। अतः उन्हें छोड़ना हानिप्रद नहीं है। किन्तु शाश्वत् सौख्य को प्राप्त करवाने-वाला है। ५. कषायों के क्षय का मार्ग ही—जिनेश्वरदेवों ने प्रतिपादित किया है। गुणस्थान का क्रम इसी बात को सूचित करता है। ६. संयम-आराधना भी कषायक्षय के मार्ग का एक अंश है। ७. साता-सौख्य की आसक्ति ही संयम में बाधक है। और उसी के क्षय हेतु यह चिन्तन है।

धर्मश्रद्धा को वेग प्राप्त—

चित्तंतो एव मासत्ति, साया सोक्खाण नासइ ।

धम्मसद्धा पवड्ढेइ, वेगो तिव्वयमो तया ॥४४॥

इसप्रकार चिन्तन करते हुए शाता-सौख्य की आसक्ति नष्ट हो जाती है और धर्मश्रद्धा की अभिवृद्धि होती है और तब (उसका) वेग तीव्रतम हो जाता है ।

पच्चक्खाणावरणं तो, खवित्ता संजमं गहे ।

चिच्चा आगारधम्मं च, पक्कमइ सिवाय सो ॥४५॥

वह इस (वेग) के बाद प्रत्याख्यानावरण का क्षय करके, संयम को ग्रहण करे और आगारधर्म = गृहस्थधर्म को छोड़कर मोक्ष के लिये पराक्रम करता है ।

टिप्पण—१. परिणामों से ही भाव की विशुद्धि होती है । अतः शुद्ध चिन्तन करने योग्य है । २. शाता-सौख्य में उलझे रहना भी एक ग्रन्थि है । उसके लिये बाह्य पदार्थों की आसक्ति बाह्यग्रन्थि और आन्तरिक भावों की आसक्ति आभ्यन्तर ग्रन्थि है । ३. तीव्र धर्मश्रद्धा उस ग्रन्थि का उच्छेदन करती है । ४. धर्मचिन्तन से धर्मश्रद्धा का वेग तीव्र होता है । जैसे पानी का तीव्रतम वेग चट्टानों को तोड़ देता है । वैसे ही धर्मश्रद्धा का तीव्रवेग संवेग को तीव्र करता है और तीव्रतम संवेग प्रत्याख्यानावरण कषाय की चट्टान को तोड़ देता है । ५. प्रत्याख्यानावरण कषाय संयम का प्रधान बाधक कारण है । उस कारण के नष्ट होते ही धर्म की ममता नष्ट हो जाती है । ६. जिसका ममत्व दूर होता है, वह सरलता से छूट जाता है । अतः साधक गृहस्थ धर्म को छोड़कर मुनि बन जाता है और शेष मुक्ति-बाधक कारणों को क्षय करने को तत्पर हो जाता है ।

धर्मश्रद्धा से आगे के कार्य—

कसायं सुहुमं सेसं, नोकसायं तहा सुही ।

कारणं अइयारस्स, दुक्ख-हेउं खवे जई ॥४६॥

बुद्धिमान यति—संयममार्ग में यत्नशील आत्मा अतिचार के कारण रूप अवशिष्ट सूक्ष्मकषाय—संज्वलनचतुष्क, नोकषाय और (शारीरिक-मानसिक) दुःखों के हेतु को (धर्मश्रद्धा से) क्षय करने के लिये उद्यम करे ।

टिप्पण—१. महाव्रतों के सम्यक् रूप से परिणत होने पर सर्वविरति के परिणाम का आविर्भाव होता है। तब संज्वलन कषाय चतुष्क और नव नोकषाय शेष रहते हैं। २. सुही—उत्तम बुद्धि का स्वामी। जो बुद्धि अपने सूक्ष्मतम दोष को भी पकड़ सकती है और उनके परिमार्जन—क्षय के उपायों को योजित कर सकती है, वह उत्तम बुद्धि है। ऐसी उत्तम बुद्धि के स्वामी सर्वविरत आत्मा होते हैं। ३. यति—सर्वविरति के परिणामों को उपलब्ध करके, शेष दोषों का क्षय करने के लिये सतत् यत्नशील आत्मा। यति अनगार—गृह का परित्यागी होता है। अतः वे आश्रम, उपाश्रय, स्थानक, मठ आदि की ममता से भी रहित होते हैं। गृह और आश्रयस्थान की ममता आरंभ का कारण बनती है। ४. आरंभ से अशातावेदनीय का बन्ध होता है। अनगार के अशात के बन्ध का अभाव हो जाता है—यदि अप्रमत्त होते हैं तो ! ५. दुःख के दो प्रकार—शारीरिक और मानसिक। इन दुःखों का हेतु है—छेदन-भेदन का संयोग आदि। अनगार को इनका अभाव हो जाता है। क्योंकि यति छेदन आदि हेतु रूप कषाय आदि के क्षय का उद्यम करता रहता है। ६. संज्वलन चतुष्क के उदय के कारण और हास्यादि के कारण आराधना में दोष लगने की संभावना रहती है। संज्वलन के कषायादि के निमित्त से ही अतिचारों का सेवन होता है। ७. चतुर्थ चरण का अर्थ होगा—‘यति दुःख के हेतु का क्षय कर सकता है’ अर्थात् अनगार समस्त दुःखों का नाश करके अव्याबाध सुख को निष्पन्न करता है—ऐसा आगम वचन है।

वस्तुतः अनगर की अप्रमत्तभाव से चर्या ही ऐसी होती है कि जो 'सर्व्व भूय-
खेमंकरी' के रूप में परिणत हो जाती है।

५. प्रलोकना-द्वार

प्रलोकना की परिभाषा—

चरियं गुण-कतव्वं, पगरिसेण पेहणं ।

सन्तिणा खलियाइं च, पलोयणात्ति कित्तिया ॥४७॥

प्रकर्ष=विशेष सूक्ष्म रूप से चर्या, गुण (—आराधना), कर्तव्य और शान्तिपूर्वक (अपनी) स्खलनाओं का निरीक्षण करना यह—प्रलोकना कही गयी है।

टिप्पण—१. जीवन-चर्या अर्थात् अपना समस्त व्यवहार। गुण=रत्नत्रय। इनकी आराधना! कर्तव्य=विषम अवस्थाओं में करने योग्य कार्य, अपवाद मार्ग आदि, स्खलित=आराधना में लगे हुए दोष। २. प्रकर्ष प्रेक्षण=आत्माभिमुख होकर सूक्ष्म दृष्टि से विशेष रूप से देखना। सन्तिणा=शान्ति से, इस पद में कई आशय गर्भित हैं। अनाकुल भाव, निष्पक्षभाव, अपयश के भय से होनेवाले खेद का अभाव आदिभाव शान्ति शब्द में गर्भित हैं। ३. अपनी त्रुटियों को देखना सरल नहीं है। अतः उनके निरीक्षण के लिये ही विशेष रूप से शान्तिभाव अपेक्षित है। ४. कीर्तित अर्थात् आगमों के अनुशीलन से प्रलोकना संज्ञा का आविर्भाव हुआ है।

प्रलोकना के भेद—

आलोयणोवओगेहिं, वुत्ता पलोयणा दुहा ।

उवओगेण हंभिज्जा, कसायम्मि पवट्ठणं ॥४८॥

आलोचना और उपयोग द्वारा प्रलोकना दो प्रकार की (होती है—यह) कही गयी है । (ज्ञान के) उपयोग के द्वारा कषाय में (चेतना) के प्रवर्तन का निरोध करे ।

टिप्पण—१. प्रलोकना के दो भेद—आलोचना-प्रलोकना और उपयोग—प्रलोकना । आलोचना अर्थात् मर्यादापूर्वक आराधना-विराधना का निर्णय करते हुए अपने आपका आलोकन करना । उपयोग—प्रलोकना अर्थात् अपने आप पर निरन्तर दृष्टि लगाये रखना । २. इस गाथा में उत्तरार्ध में उपयोग-प्रलोकना की विशेष परिभाषा दी है । प्रस्तुत प्रसंग में उपयोग-प्रलोकना यह आशय है कि अपने आप पर निरन्तर दृष्टि रखते हुए सूक्ष्मकषाय के उदय में चेतना को नहीं बहने देना—जिससे अति-चारों का सेवन नहीं हो । ३. आत्म-उपयोग आराधना की रीढ़ है ।

उपयोग-प्रलोकना का विशेष स्पष्टीकरण—

अप्पमतो निरिक्खेज्जा, अप्पाणं अप्पदिट्ठिणा ।

चरियाईसु आरोहं, अवट्ठाणं सया बुहो ॥४९॥

बुध = समझदार साधक अप्रमत्त होकर आत्मदृष्टि से चर्या आदि में अपने आरोह और अवस्थान का सदा अवलोकन करे ।

टिप्पण—१. बुध = साधना की समझ से युक्त साधना की बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी । जबतक 'मैं साधक हूँ—कषायजय के लिये ही मैं साधक बना हूँ'—यह बुद्धि नहीं बनती, तबतक अपने उपयोग को स्थिर बनाने की वृत्ति नहीं बनती है और उस वृत्ति के अभाव में उपयोग को स्थिर करने का आभ्यन्तर पुरुषार्थ नहीं होता । २. अप्रमत्त = उपयोग को इधर-उधर न भटकने देने के लिये सावधान रहना । अप्रमत्तता ही पुरुषार्थ को यथार्थ रूप प्रदान करने में सहायिका होती है । ३. चर्यादि अर्थात् चर्या और गृण-आराधना । आरोह = भावों का ऊर्ध्वगमन । अवस्थान = चर्यादि में

भावों का यथावत् रूप में जमे रहना । सया = निरीक्षण निरन्तर चलते रहना । चर्यादि में शुद्धभावों की वृद्धि को और अवस्थिति पर उपयोग लगाये रहना, जिससे भाव निम्नगामी न बनें । ४. यह कार्य होता है—आत्मदृष्टि से । अपने आपको स्वयं देखते रहने से साधना का क्रम बराबर चल सकता है ।

इस भाव-आरोहण के विषय में विशेष स्पष्टीकरण—

भिन्ति व गिरिमारोहं, ठाउठाणाइ अंतरा ।

अवेक्खियाइ ण च्चेअ, समभट्ठोऽवसप्पइ ॥५०॥

एमेव पडिच्चाउक्के, खए निप्फज्जए गुणो ।

जमवलंबिऊणं तु, ठिओ गंतुज्जमं करे ॥५१॥

जैसे (अति ऊँचे) दीवाल के सदृश (सीधी चढ़ाईवाले) पर्वत पर आरोहण करने के लिये बीच-बीच में टिकने के लिये स्थान चाहिये, नहीं तो सम = सीधी चढ़ाई से भ्रष्ट होकर (आरोही) नीचे फिसल जाता है ।

वैसे ही कषाय के प्रत्येक चतुष्क के क्षय होने पर (ठाउठाण = स्थित रहने के स्थान के समान) गुण निष्पन्न होता है जिसका अवलम्बन लेकर (गुण में) स्थित होता हुआ (बुध) (कषायक्षय के मार्ग में) आगे जाने का उद्यम करे ।

सम्मत्तं सावयत्तं च, मोणं ठाउथलं विव ।

कसायाणं खयं होइ, उजुमारोहणं समं ॥५२॥

(प्रत्येक चतुष्क के क्षयादि से निष्पन्न) सम्यक्त्व, श्रावकत्व और मौन = साधुत्व (रूप गुण) स्थातुस्थान = भावों के टिकाने के लिये आधार-स्थान

के सदृश हैं । क्योंकि कषायों का क्षय ऋजु—सीधे स्थान के आरोहण के समान है ।

टिप्पण—१. गिरि-आरोही विश्रामस्थान पर इच्छानुसार कम या कुछ अधिक समय तक ठहरकर आगे बढ़ सकता है । वैसे ही कषाय-क्षय के लिये प्रवृत्त साधक भी विश्रामस्थान सदृश लब्ध गुणों में न्यूनाधिक समय तक स्थित रहकर आगे बढ़ सकता है । २. क्षय में प्रवृत्त परिणाम-धारा अधिक बलवती होती है । किन्तु उसके लिये भी आगे के कषायों का क्षय ऋजु-आरोहण के समान ही होता है । ३. अवस्थान स्फूर्ति की उपलब्धि के लिये है । वैसे ही सम्यक्त्व आदि की आराधना भी भाव की स्फूर्ति के लिये है ।

दुरूहं तं पि अचंचंतं, तम्हा जीवोऽइसम्मइ ।

सिहराओ पडंतं व, तं तु गुणो वि रक्खइ ॥५३॥

वह (कषायों के क्षय में आगे) भाव-आरोहण भी अत्यन्त दुरूह है । इसकारण जीव अति थक जाता है । शिखर से गिरते हुए मनुष्य के समान उस (आराधक) को गुण (में उपयोग) भी सम्हालता है ।

टिप्पण—१. गुणों का आलम्बन उनमें उपयोग लगाये रहने से होता है । २. सम्यक्त्व आदि की आराधना में उपयोग लगाने से वह भाव आराधना होती है और भाव-आराधना कषायों को जीव पर आक्रमण करने से रोकती है । ३. कषाय जीव को नीचे गिराते हैं । जैसे पर्वत के शिखर से व्यक्ति गिरता है । वैसे ही क्षायिक भाव के प्रकट नहीं होने पर क्षायोपशमिक भाव में स्थिति जीव श्रमित होकर गिरता है । ४. कषायों को क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणि पर आरुढ़ जीव गुणों को उपलब्ध करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है । ५. यहाँ कषाय-क्षय प्रकरण में क्षायोपशमिक भाववाले जीव का कथन इसलिये किया है कि उसका लक्ष्य भी कषायों के क्षय का ही होता है और उसका कषायों का क्षयोपशम भी क्षय जितना पुरुषार्थ प्रकट नहीं होने

के कारण होता है । ६. सम्यक्त्व आदि की आराधना को ठाउठाण इसलिये कहा है कि जैसे विश्राम के बाद विश्रामस्थान छूटते हैं, वैसे ही क्षायिक भाव में आगे बढ़ते हुए भी आराधना में प्रयत्नजन्य उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती है ।

संज्वलन के क्षय की कठिनता—

हिमालएव आरोहे, संजलण खए तहा ।

अप्पमायाइ हेऊणि, बहूणि य अवेक्खए ॥५४॥

हिमालय के आरोहण (में मार्गदर्शक, सावधानी, विश्रामस्थान, रस्से आदि कई आवश्यक साधनों) के समान संज्वलन के क्षय में (भी) वैसे अप्रमाद आदि कई हेतुओं की अपेक्षा रहती है ।

टिप्पण—१. संज्वलन का क्षय सरल नहीं है । क्योंकि उनके क्षय के पूर्व नोकषायों का क्षय करना होता है । २. चौथे आदि गुण स्थानों में अधिकांश जीव क्षायोपशमिक भाववाले होते हैं । उनका कषायक्षय का उद्देश्य होते हुए भी परिणाम इतने तीव्र नहीं हो पाते हैं । अतः उन्हें संज्वलन के सिवाय अन्य चतुष्कों के क्षय योग्य परिणामों को भी साधना होता है । ३. क्षायोपशमिक भाववालों पर संज्वलनकषाय अपना प्रभाव जमाता रहता है और उनसे दोष सेवन करवाता रहता है । अतः उन्हें आत्म-उपयोग के सिवाय अप्रमाद, विरति आदि कई साधनों की आवश्यकता रहती है ।

संज्वलनकषाय से होनेवाली जीव की स्थिति—

संजलण - कसाएण, जस - कंखाइणो हवे ।

सेवेइ संजमे दोसे, देहरागो वि होज्जइ ॥५५॥

संज्वलनकषाय से यशः कांक्षा आदि हो सकती है । (जीव) संयम में दोषों का सेवन करता है और देहराग भी हो सकता है । (इन सब में प्रमाद का हाथ रहता ही है ।)

आलोचना का स्वरूप—

पमायाओऽसुहा जोगा, उवओगो वि खंडिओ ।

पस्सणं तेसि दोसाण, आलोयणात्ति वुच्चइ ॥५६॥

प्रमाद से योग अशुभ हो जाते हैं और (आत्म—) उपयोग भी खण्डित हो जाता है। उन दोषों का निरीक्षण करना—जिनेन्द्रदेवों के द्वारा आलोचना कही गयी है।

टिप्पण—१. संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों के उदय से भी यशोवांछा आदि होते हैं। यह तीव्र कषाय की बात हुई। किन्तु संज्वलन जैसे मंदकषाय से भी यशोवाञ्छा होने लग जाती है और इसप्रकार तीन चौकड़ियों को जीत लेनेवाला भी लोकैषणा के चक्कर में पड़ जाता है। २. संज्वलन का नियन्त्रण नहीं कर पाने से महाव्रतों में भी दोषों का सेवन प्रारम्भ हो जाता है। इस मंदकषाय के उभड़ने पर देह में भी राग हो जाता है। जिससे अन्य राग भी आ घुसते हैं। ३. इन कार्यों में प्रमाद का बहुत बड़ा हाथ रहता है। कषायों के प्रति सावधानी नहीं रखने के कारण विषय-प्रमाद और विकथाप्रमाद भी हमला कर देते हैं। देहराग के कारण निद्राप्रमाद खुलकर खेलने लगता है। ४. प्रमाद के कारण योगप्रवृत्ति अशुभ हो जाती है और उपयोग-प्रलोकना की धारा भी खण्डित हो जाती है। ५. साधक यदि सच्चा साधक है तो उसे अपनी स्खलनाओं को देखने की इच्छा होती है। स्खलना-दर्शन की आकांक्षा से ही आलोचना का उद्भव होता है।

आलोचना की विधि—

अईयं मोण-झाणेहि, अप्पे पासइ साहगो ।

दोसं झरइ इक्किं, दोसं सुहुम—दिट्ठिणा ॥५७॥

साधक मौन और ध्यान से आत्मा में अतीत—गये हुए (विराधना के) समय को देखता है और सूक्ष्मदृष्टि से एक-एक दोष को दोष रूप में स्मरण करता है।

टिप्पण—१. इस गाथा में आलोचक, आलोचना के कारण और आलोच्य विषय से संबन्धित नव बातों का संकेत किया गया है। यथा—

१. साधकदृष्टि, २. मौन, ३. ध्यान, ४. यथार्थ बुद्धि, ५. सूक्ष्मदृष्टि, ६. स्मरणशक्ति, ७. अतीतदर्शन, ८. आत्मदर्शन और ९. आत्मदोष-स्मरण। पहली बात आलोचक से, दूसरी से छठी तक आलोचना के कारण से और शेष तीन बातें आलोच्य विषय से संबन्धित हैं। २. साहगो शब्द से साधक दृष्टि का सूचन किया है। साधक में 'आराधक हूँ मैं'—यह भाव अवश्य होना चाहिये। 'आराधना का सुफल और विराधना का दुष्फल मुझे ही भोगना होगा। आराधना में हुई स्खलनाओं का आलोचन, प्रतिक्रमण आदि नहीं करने पर मेरे इहभवं, अगला भव और इसके पश्चात् का भव—यों तीन भव गंहित होते हैं। अतः मुझे आराधक ही रहना है'—'ऐसे भाव दिल में रमते- रहने पर साधक अपनी साधकता को टिकाये रखने के लिये आलोचना करने के लिये प्रवृत्त होता है। ३. आलोचना के पाँच करणों में दो करण सहायक हैं। जिनसे अन्तर्मुख होकर आलोचना की प्रक्रिया करने में सहायता मिलती है। वे हैं—मौन और ध्यान। मौन के दो अर्थ हैं—सावद्ययोग का त्याग और वाणी-प्रयोग को रोकना। यहाँ दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। पहले आशय के अनुसार अपनी चलती हुई स्खलना को रोक देना और भविष्य में वैसी गलती नहीं करने का भाव बनाना। क्योंकि ऐसा किये बिना त्रुटि का परिशोधन नहीं हो सकता है। दूसरे आशय के अनुसार चिन्तन के लिये चुपचाप हो जाना। क्योंकि ऐसा करने से अन्तर्मुख होने में सहायता मिलती है। ध्यान का अर्थ है—इधर-उधर भटकते हुए मन को भटकाव से हटाकर प्रस्तुत विषय में जोड़ना। इससे आलोचना में गहराई आती है। इनका सूचन ज्ञानमोर्णेहि शब्द से किया है। ४. शेष तीन करण आलोचना को यथार्थ रूप प्रदान करते हैं। यथार्थ-बुद्धि—गुण-दोष का निर्णय करनेवाली बुद्धि अर्थात् ज्ञान का जो अंश चिन्तन-पूर्वक गुण को गुण रूप में और दोष को दोष रूप में पहचानता है, उस ज्ञानांश को यथार्थ बुद्धि कहते हैं। इसका संकेत प्रथम-दोसं शब्द से किया है। सूक्ष्म-दृष्टि—अत्यन्त तीक्ष्णदृष्टि। इसमें तीन विशेषताएँ होती हैं—निर्ममता अर्थात् 'ये दोष मेरे हैं, अतः क्षम्य हैं'—इस भाव का अभाव, गहरी पैठ अर्थात् अति गहराई तक पहुँचने की शक्ति और भेदनता—गुण दोष का, दोष

गुणों का और दोष निजत्व का आकार ग्रहण कर रहा हो तो उनके नकलीपन को भेदन की शक्ति । इस करण का सूचन सुहुमदिद्विणा शब्द से होता है । तीसरा करण है—स्मरणशक्ति अर्थात् कहाँ, कब, किस प्रकार, किस कारण से दोष सेवन हुआ आदि को याद रखने और याद करने की शक्ति । इसका सूचन झरइशब्द से हुआ है । इन तीनों करणों के अभाव में आलोचना यथार्थ रूप से नहीं हो सकती । ५. आलोच्य विषय से संबन्धित तीन मुद्दे हैं—
अतीतदर्शन—वर्तमान क्षण से पीछे बीते हुए मूर्त, दिवस, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास और जहाँ से समझ पकड़ी वहाँ तक या आजन्म तक कालावधि का निरीक्षण, अपने कृत दोषों को जानने के लिये करना । इसका सूचन अईयं शब्द से हुआ है । **आत्मदर्शन**—अपनी आराधना को आत्मा के रूप में देखना । क्योंकि परमागम में आया सामाइए, आया सामाइयस्स अठ्ठे अर्थात् 'आत्मा सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है'—यह कहा गया है । आराधना को आत्मरूप और आत्मोपलब्धि के हेतु रूप में समझने से-देखने से उसे निर्दोष बनाने का भाव दृढ़ होता है । आत्मदर्शन का दूसरा आशय है कि अपने भावों का—अपनी चर्या का—गृहीत गुणों का पुनरपि पुनः निरीक्षण करना और अपने लक्ष्य को सदैव दृष्टि-समक्ष रखना । इसका सूचन अप्पे शब्द से किया है । **आत्मदोष-स्मरण**—अपने द्वारा आराधनामें क्या स्वलना हुई—इसे याद करना । क्योंकि हम दोष-सेवन करके प्रायः भूल जाया करते हैं । और यदि याद भी रखते हैं तो उन्हें महान् या बड़प्पन का कार्य समझकर-गौरव का अनुभव करते हैं—दोष रूप में मानते ही नहीं हैं । अतः वे दोष आत्मा में जड़ीभूत हो जाते हैं । किन्तु वे दोष हैं—वे हमारा अधःपतन करते हैं और वे हमारा भला कदापि नहीं करते—उन्हें इस रूप में याद करने पर वे ढीले पड़ते हैं—आत्मा से दूर होते हैं । इसका सूचन—**झरइ इक्किक्कं दोसं**—वाक्य से किया है ।

आलोचना से कृत कार्य—

आलोयणाइ णिस्सल्लो, हवित्ता विहरे पहे ।

ताए य अइयारा जे, अईया ते हणे उज्जू ॥५८॥

आलोचना से निःशल्य होकर मोक्षमार्ग में विचरें और उससे ही ऋजु=सरल होकर जो अतीत के अतिचार हैं उन्हें नष्ट करें।

टिप्पण—१. शल्य=मोक्षमार्ग में विघ्न उत्पन्न करनेवाले और गति का अवरोध करके भव में अटकानेवाले कण्टक के तुल्य भाव। वे तीन हैं—माया=छलकपट, निदान=धर्माचरण के बदले भौतिक फल की माँग और मिथ्यात्व=जिनप्रज्ञप्त तत्त्व पर अश्रद्धा, सरागि-दर्शित भावों पर श्रद्धा और तत्त्वातव में रुचि का अभाव। २. आलोचना के द्वारा आत्मदोष-दर्शन से माया, अनात्मभाव में अरुचि और आत्मभाव में रुचि से निदान और यथार्थबुद्धि से मिथ्यात्व विनष्ट होता है। जैसे काँटे के निकल जाने पर गति सुगमता से और शीघ्र होती है, वैसे ही आत्मा के निःशल्य हो जाने पर मोक्ष मार्ग में अवरोध नहीं रहता है। इसलिये सरलता से उसमें विचरण हो सकता है और भव-बन्धन छेदे जा सकते हैं। ३. आलोचना से आगे प्रतिक्रमण होता है। वह आलोचना पर ही आधारित रहता है। इसलिये अतीत के उन दोषों का प्रतिक्रमण सुगमता से विनाश किया जा सकता है। ४. ऋजु=आलोचक दोषों को दोष रूप में और गुणों को गुण रूप में समझने में अवक्र-सरलभाव का स्वामी बन जाता है। सरलता दोषों को क्षय करने में सहायिका बनती है।

उजुभावं पवन्तो सो, कोडिल्लं अनरं हणे ।

लहिऊण विसोहिं च, होइ सद्धम - भायणं ॥५९॥

ऋजुभाव को पाया हुआ वह (=साधक) कुटिलता और अनर-वेद=स्त्री-नपुंसक वेद को नष्ट कर सकता है और विशोधि को प्राप्त करके सद्धर्म का पात्र बन जाता है।

टिप्पण—१. ऋजुता से कुटिलता=वक्रता और माया नष्ट हो जाती है। २. माया से ही प्रायः स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का बन्ध होता है। अतः=ऋजुता-संपन्न आत्मा को इनका बंध नहीं होता

और पहले के बंधे हुए हों तो क्षय हो जाते हैं। ३. आलोचना से प्रमुख रूप से माया कषाय का क्षय होता है। ४. आलोचना से जीव सद्गुणों को उपलब्ध करता है। जैसे चण्डरुद्राचार्य के नवदीक्षित शिष्य ने आत्मलोचन करते हुए कषायों को क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

इस द्वार का उपसंहार—

वीरियं ताड्य बड्ढिता, सज्जो कसाय-हायणे ।

आराहणो गुणाणं च, दोसाणमवहारणो ॥६०॥

उस (—आलोचना) से कषाय-क्षय में सज्ज=तत्पर बना हुआ गुणों का आराधक और दोषों का अपहारक होता है।

टिप्पण—१. आलोचना से वीर्य=उल्लास शक्ति की वृद्धि होती है। २. वीर्य=उल्लास से शत्रु के सदृश कषायों को क्षय करने की तत्परता होती है। ३. वीर्य से दो कार्य होते हैं—गुणों का पोषण और दोषों का अपहरण।

६. आत्मनिन्दा द्वार

आत्मनिन्दा के पूर्व की भाव भूमिका—

सद्दहंतो जई धम्मं, सब्बभावेण कीरइ ।

असामत्थं पमाओ य, देति सुलं व पीलयं ॥६१॥

यति=साधनों में तत्पर साधु सर्वभाव से धर्म करता है। किन्तु (उसे) अपना असामर्थ्य और प्रमाद (तीक्ष्ण) काँटे के समान पीड़ा देते हैं।

टिप्पण—१. 'यतिधर्म का जिनोपदिष्ट एक भी अंग त्याज्य नहीं है। सभी धर्म-अंग संपूर्ण भाव से करने योग्य है'—ऐसी श्रद्धा-

वाला ही सच्चा साधक है। २. ऐसी श्रद्धावाला ही उल्लासपूर्वक यतिधर्म की आराधना करता है। ३. उसे अपनी असमर्थता—दौर्बल्य-अल्प सत्त्व और प्रमाद सुहाता नहीं है—इतना ही नहीं, किन्तु वे तीक्ष्ण कांटे से भी अधिक उसके हृदय को पीड़ित करते हैं। ४. जिनोपदिष्ट समग्र धर्म में श्रद्धा, उसे संपूर्ण रूप से करने के भाव और अपने दौर्बल्य-प्रमाद का खेद—आत्मनिन्दा की भूमिका तैयार करते हैं।

कसाय - वेय - हासाई, लगंगति धम्म-बाहगा ।

पासइ उदए तेसि, अत्तभाव - विराहणं ॥६२॥

(आलोचना से) कषाय, वेद और हास्यादि षट्क धर्म में बाधक प्रतीत होते हैं और (साधक) उनके उदय में आत्मभाव की विराधना देखता है।

टिप्पण—१. साधक को किञ्चित् भी स्वाध्यायादि से विरत हुआ नहीं कि (और कभी-कभी स्वाध्याय-ध्यानादि में भी) कषायों और नोकषायों का वेदन होता है अर्थात् वे निःशेष नहीं होते हैं। २. यह किञ्चिन्मात्र भी कषाय आदि का उदय साधक को धर्म में बाधा उत्पन्न करनेवाला प्रतीत होता है। वस्तुतः यहीं अपनी असमर्थता पर खीझ पैदा होती है कि धर्म-आराधना करते हुए भी ये नष्ट नहीं हुए और धर्म में विघ्न पैदा करते हैं। ३. वे ईषत् कषाय (संज्वलन), मंद वेदोदय आदि भी अनात्मभाव हैं। उनके उदय-प्रवाह में बहने से आत्मभाव की विराधना होती है। ४. साधक के अल्प वीर्य और प्रमाद के कारण ही वे साधक पर हावी होते हैं। अतः उसे अति खेद होता है।

आत्मनिन्दा का उत्थान—

सो संजलेइ चित्तम्मि, —‘केरिसं मम वीरियं ?

केरिसो उज्जमो हा ! हा ! दोसो नज्जावि मुच्चए’ ॥६३॥

वह (साधक अपने) चित्त में जलता है कि 'हा ! (यह) मेरा कैसा वीर्य (=शौर्य, पराक्रम) है ! और हा ! हा ! (मेरा यह) कैसा उद्यम है कि दोष (मेरा) अभी तक पिंड नहीं छोड़ता है ।

टिप्पण—अपने दोषों के प्रति अनुताप और अपने प्रति धिक्कार का भाव ही आत्मनिन्दा है ।

उज्जुत्तो अप्पनिन्दाए, पच्छातावं करेइ सो ।

तेण कसाय - विरत्तो, करणसेढि लब्भइ ॥६४॥

आत्मनिन्दा में उद्युक्त बना हुआ वह पश्चाताप करता है । जिससे वह कषाय (आदि दोषों) से विरक्त होता हुआ करण और (गुण-) श्रेणि को प्राप्त करता है ।

टिप्पण—१. पश्चाताप या पश्चानुताप अर्थात् आत्मा के प्रति धिक्कार भाव उत्पन्न होने पर चित्त में दोषों के प्रति होनेवाला अनुताप का भाव । २. अनुताप से दोषों के प्रति आत्मसंलग्नता टूटती है और उनसे एकदम विलगता के भाव उत्पन्न होते हैं । ३. उन विलगता के भाव के होने पर करण=विशिष्ट प्रकार के अध्यवसाय अपूर्वकरण आदि और गुणश्रेणि की उपलब्धि होती है । ४. श्रेणि के दो भेद उपशम और क्षपक । यहाँ क्षपक श्रेणि से आशय है ।

साधक का शौर्यमय चिन्तन—

‘दोसा अणाइकालाओ, नच्चाविति ममं सया ।

अप्पमत्तो इदाणिं हं, ते छित्ता होमि णिम्मलो’ ॥६५॥

‘दोष मुझे अनादिकाल से सदा नचाते रहे हैं । मैं अब अप्रमत्त हूँ । अतः इन (दोषों) का क्षय करके (मैं) निर्मल हो जाऊँ ।’

स्पष्टीकरण—वस्तुतः इस भाव से आत्मनिन्दा का उत्थान नहीं होता है । किन्तु सदागम के अभ्यास से अपने में वीर्योल्लास उत्पन्न

होता है। जब यह वीर्योल्लास सफल नहीं हो पाता है, तब आत्म-निन्दा का उत्थान होता है। यहाँ बीच में इस गाथा को रखने का आशय यह है कि यह भाव जितना तीव्र होगा, उतना ही तीव्र आत्म-निन्दा का भाव होगा।

सो कसायं हणित्तेवं, मोहमेव उ नासइ ।

खयंगए महामोहे, अण्णं-कम्माण किं बलं ? ॥६६॥

किन्तु वह (शौर्यभाववाला साधक आत्मनिन्दा से=गुणश्रेणि पर चढ़ा) इसप्रकार कषाय को हनकर मोह को क्षय कर देता और फिर महामोह के क्षय हो जाने पर अन्य कर्मों का क्या बल (रहता) है ?

टिप्पण—१. आगम वचन है—करणगुण सेद्धि-पडिवन्ने यणं अण-गारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ अर्थात् करणगुणश्रेणि—प्रतिपन्न अनगार मोहनीय कर्म के रसादि की घात करके उसे नष्ट करता है। अतः गाथा में वह साधक आत्मनिन्दा से 'मोह का ही क्षय' करता है—यह कहा गया है। २. मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद अन्य घातिकर्म अधिक समय तक नहीं टिक सकते हैं। शेष तीन घातिकर्म अन्तमुहूर्त में ही क्षय हो जाते हैं। ३. मृगावतीजी ने आत्मनिन्दा से मोह का क्षय कर दिया। फिर केवलज्ञान प्राप्त किया।

७. गहाँ द्वार

गहाँ की तैयारी—

कसायं पबलं णच्चा, चित्तेइ—'को य तायइ ?

पहु - गुरुण मुत्तूण, कोऽत्थि सरणं मम ? ॥६७॥

(वह) कषाय को प्रबल जानकर चिन्तन करता है—'और कौन (मेरी) रक्षा करता है, प्रभु और गुरुदेव के सिवाय मेरे लिये कौन शरण हैं ?

**सरणं तेसि गच्छामि, बेमि बुट्टस्स बुट्ठयं ।’
एवं गुरुण पामूले, गरिहाए स गच्छइ ॥६८॥**

‘मैं उनके शरण में जाऊँ और दुष्ट की दुष्टता कहूँ’—इसप्रकार वह गुरु के चरणों में गर्हा के लिये जाता है।

गुरु की साक्षी से आत्मदोषों का कथन करना गर्हा है। इसलिये गुरु के चरण-शरण में जाने की आवश्यकता है।

गर्हा का फल—

**गरिहा गुरु-सक्खीए, माणवत्ति पणासइ ।
जोगाणं अप्पसत्थयं, हिच्चा देइ पसत्थयं ॥६९॥**

गुरु की साक्षी से गर्हा (=अपने दोषों का कथन) मानवृत्ति = सन्मान-सत्कार को पाने की रुचि को नष्ट करती है और (अपुरस्कृत साधक के) योगों की अप्रशस्तता का अपहरण करके प्रशस्तता प्रदान करती है।

**पसत्थ-जोग-आवन्तो, अणगारो विकंतओ ।
खवेइ पुरिसत्थेण, अणन्तघाइ-पज्जवे ॥७०॥**

प्रशस्त योग को प्राप्त विक्रान्तक = भावधारा में शूर अनगार (अपने आभ्यन्तर) पुरुषार्थ से अनन्त घाति-पर्यवों का क्षय करता है।

टिप्पण—१. जब जीव चारों ओर से निराश होता है और अपने बल का अभिमान भी छूटता है, तब अनन्य भाव से शरण ग्रहण होता है। २. अनन्यभाव से गृहीत शरण विशिष्ट भाव-बल पैदा करता है। ३. गुरुदेव के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करने से अपनी निम्नता का तीव्रता से बोध होता है। जिससे योगों की अप्रशस्तता को दूर करना सरल हो जाता है। क्योंकि कोई भी सुज्ञ निम्नतम

बने रहना नहीं चाहता है। ४. प्रशस्तयोगी (गर्हा-प्रपन्न) अनगार में प्रबल भावधारा का आविर्भाव होता है। ५. साधक में लघुता-भावना होती है। और उस भावना से ही भाव-विक्रम पैदा होता है। इसलिये विक्रंत शब्द के क प्रत्यय लगाया है। ६. इस प्रबल भावधारा से घाति कर्मों के अनन्त पर्यव विनष्ट हो जाते हैं।

८. क्षयहेतु-क्रम-विचार

कषायक्षय के दो क्रम—

खवणाए कसायस्स, वणिणओऽभिन्तरो कमो ।

खएण उवलद्धीओऽभिन्तरा-परिणामया ॥७१॥

(यह) कषाय के क्षय का (प्रधान रूप से) आभ्यन्तर क्रम (कहा गया) है। क्योंकि क्षय से आभ्यन्तर परिणाम से जनित उपलब्धियाँ हैं।

टिप्पण—१. प्रशम से गर्हा तक कषाय-क्षय का भीतरी क्रम है। २. मोहकर्म के अंश रूप में क्षय से ही ये प्रशम आदि भाव उपलब्ध होते हैं और फिर वे क्षायिक भाव को प्रबल बनाते हुए कषायों को क्षय करते हैं। ३. कषाय-क्षय के लिये विनय आदि भाव भी हो सकते हैं। परन्तु ये वर्णित भाव प्रधान हैं। ४. आभ्यन्तरक्रम के कथन से यह सिद्ध होता है कि कषाय-क्षय का बाह्य क्रम भी है। ५. इन भीतरी परिणामों से ही सम्यक्त्व, देशविरति आदि की उपलब्धि होती है। अतः उनकी क्रिया की आरोपणा कषाय-क्षय का बाह्य क्रम बन जाता है। जैसे सम्यक्त्व आदि को ग्रहण करवाना।

भाव और क्रिया—

कियाणुसरगो भावो, भावाणुसरगा किया ।

एकमेवकस्स सिद्धीवि, एकमेवकेण होइ ता ॥७२॥

(कभी) क्रिया का अनुसरण करनेवाला भाव होता है तो कभी भाव का अनुसरण करनेवाली क्रिया होती है। इस कारण एक-दूसरे की सिद्धि भी एक-दूसरे से होती है।

टिप्पण—१. कभी भाव नहीं होने पर भी उस भाव से होने-वाली क्रिया करने से वैसे भाव आ जाते हैं। जैसे नट को तथा रूप क्रिया करने से तथा रूप भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति प्राप्त होती है। २. यदि क्रियाकर्ता निश्छल भाव से नकल रूप से क्रिया करता है तो वह असली भाव क्रिया में भी परिणत हो सकती है। जैसे आषाढभूतिजी का भरत-चक्रवर्ती के शीशमहल में अंग-दर्शन का अभिनय। ३. इसलिये 'भाव होगा तो क्रिया होगी ही' और 'क्रिया होगी तभी भाव होंगे' ऐसी एकान्त मान्यता नहीं बनाना चाहिये। ४. भाव का अभ्यास सबके लिये सरल नहीं है। सभी सूक्ष्म भाव को पकड़ भी नहीं सकते हैं। इसलिये जिनेश्वरदेव ने भाव को उपलब्ध करने के लिये क्रिया का उपदेश दिया है। क्योंकि क्रिया को अधिकांश जन पकड़ सकते हैं। ५. तथारूप क्रिया के करते हुए थोड़े-थोड़े करके भाव बनते जाते हैं। जैसे सागरचन्द्रमुनि के द्वारा पुरोहित के पुत्र (मेतायिमुनि का पूर्वभव) और अपने भाई के पुत्र राजकुमार को जबर्दस्ती से दीक्षा दिये जाने पर होनेवाले प्रशस्त-भाव। ६. शासन क्रिया से ही चलता है। किन्तु क्रिया से भाव का सुयोग साधने का यत्न होना चाहिये।

अशुभयोग से निवृत्ति—

पवट्टंति कसाएणं, जोगा बाहिरए तहा ।

मिच्छत्त-अव्वयाईओ, णिव्वट्ठि च करिज्जाए ॥७३॥

कषाय से योग बाहर (अशुभ रूप में) प्रवर्तते हैं। उसी प्रकार (अशुभ क्रिया से कषाय का उदय) भीतर होता है। इसलिये (भीतर की शुद्धि के लिये) मिथ्यात्व, अन्न आदि की निवृत्ति करना चाहिये।

टिप्पण—१. कषाय के उदय से योगों का अशुभ रूप में प्रवर्तन होता है और मिथ्यात्व-प्रवृत्ति, अव्रत-प्रवृत्ति आदि होती हैं। वैसे ही कुदेव आदि की पूजा, हिंसा आदि की प्रवृत्ति से भीतर कषाय पुष्ट होता है। २. आत्मा में कषाय का उदय और उससे प्रेरित बाहर प्रवृत्ति। बाहर अशुभ प्रवृत्ति और भीतर उसके निमित्त से कषाय का जोर। साधारण रूप से प्रायः जीवों में ऐसी ही स्थिति रहती है। क्वचित् ऐसी भी स्थिति होती है कि भीतर कषाय का उदय, किन्तु बाहर उससे प्रेरित प्रवृत्ति नहीं होती है और बाहर अशुभ क्रिया, किन्तु भीतर कषाय का वेदन नहीं होता है। ऐसी स्थितिवाले कोई विरले जीव ही होते हैं। ३. भीतर कषाय किंचित नहीं रहे या आभ्यन्तर करणों से कषाय का क्षय कर दें तो बाहर में योग अपने आप शुभ हो जाते हैं। परन्तु ऐसा करना सबके बस की बात नहीं है। ४. कषाय-जनित बाह्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति करके, भीतर में भीतर करणों से कषाय-क्षय का उद्यम किया जा सकता है और साधना का राजमार्ग यही है। उपदेश भी इसी का दिया जा सकता है। ५. मिथ्यात्व, अव्रत आदि की क्रियाओं के परित्याग में भी कषाय-क्षय परिलक्षित नहीं होता है। किन्तु इससे उन क्रियाओं की निवृत्ति निष्फल सिद्ध नहीं होती। क्योंकि बाहर में अशुभ क्रिया न हो, इसी-लिये उनकी निवृत्ति की जाती है और बाहर में अशुभ प्रवृत्ति बराबर रुकती है। भीतर में कषाय-क्षय के लिये वह बाह्य निवृत्ति सहायक है। ६. यदि कषाय के क्षय के भाव से बाह्य अशुभ प्रवृत्ति का निरोध किया जाता रहता है तो कभी न कभी कषाय-क्षय के योग्य परिणाम अवश्य ही प्रकट होते हैं। जैसे श्रमण भगवान् महावीरदेव के द्वारा तीर्थंकरभव और उससे पूर्व के भवों की आराधना से ठेठ तीर्थंकर भव में कषायक्षय की भूमिका बनी।

क्रिया के लिये कषाय नहीं करना—

तक्खयट्ठा किया अत्थि, ण ताए तं करे कया ।

णत्थि वयाण भंगो जो, किं कोहस्स पयोयणं ॥७४॥

उस (कषाय) के क्षय के लिये क्रिया (की जाती) है। इसलिये उस (=क्रिया) के लिये उस (=कषाय) को कभी न करें। क्योंकि जो (अपने) व्रतों का भंग नहीं है तो क्रोध का क्या प्रयोजन है ?

टिप्पण—१. साधक कभी-कभी सत्क्रियाओं का प्रयोजन भूल जाता है। अतः वह भटक जाता है। वस्तुतः समस्त सत्क्रियाओं का लक्ष्य 'कषायों का क्षय' ही है। २. सत्क्रियाओं के लिए या उनके निमित्त से साधक चारों प्रकार के कषायों का सेवन कर लेता है। अपने साथी सत्क्रियाओं के आराधन में त्रुटि करते हैं या उपासकों की ओर से अज्ञान या भक्तिवश कोई त्रुटि हो जाती है तो कोई साधक उबल पड़ते हैं—कलह करते हैं। उस सत्क्रिया से अपने को बहुत बड़ा समझकर दूसरों को तुच्छ-हीन समझने लगते हैं। आदर-सत्कार पाने के लिये सत्क्रिया का दिखावा करते हैं और अपनी सत्क्रिया के बदले कोई चमत्कार पैदा करने या लब्धियाँ पाने का लोभ करते हैं। ३. स्वयं साधक सत्क्रिया के लिये कषाय-सेवन करे तो उसके व्रतभंग की आशंका रहती है। परन्तु दूसरों की त्रुटि से उसके व्रतों में दूषण पैदा होना संभव नहीं है। अतः अन्य के द्वारा सत्क्रिया से विपरीत प्रसंग उपस्थित होने पर उनपर क्रोध करना वृथा है। इससे वह अपने लक्ष्य से भटक जाता है। ४. सत्क्रिया की परम्परा को विशुद्ध बनाये रखने के लिये भी आक्रोश करना अनुचित है। समझाना अपना कर्त्तव्य है। जो समझाने से भी मार्ग पर नहीं आ सकता है तो वह आवेश से कैसे सन्मार्ग पर लग सकेगा ? ५. सभी जीव अपने-अपने कर्म के उदय से प्रेरित होते हैं। अतः धैर्य से काम लेना उचित है। आवेश साधक की दुर्बलता है। सत्क्रिया के लिये अन्य कषायों के सेवन से उसका प्रयोजन मारा जाता है।

९. अन्य उपाय और उपसंहार

कसायस्स खयाए वा, उदायण्णे वि वणिण्या ।

ते सम्मत्त-परकम्मे, तयट्ठा ह सु-साहणा ॥७५॥

अथवा कषाय के क्षय के लिये अन्य उपाय भी (जिनेश्वरदेव के द्वारा) वर्णित हैं। वे सम्यक्त्व-पराक्रम (उत्तर अ. २९) में हैं। क्योंकि (जो भी) उत्तम साधना है, (वह) उसी (कषाय-क्षय) के लिये हैं।

टिप्पण—१. कषाय-क्षय के ये ही उपाय हैं—इतने ही हैं, ऐसा नहीं है। अन्य उपाय आवश्यक-आराधना आदि भी हैं। २. वे श्रमण भगवान् जिनेश्वर महावीरदेव के द्वारा ही वर्णित उपलब्ध हैं। उन उपायों का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन में हैं और उन्हीं में से कतिपय उपायों का वर्णन यहाँ किया है। ३. आत्मसाधना कषायक्षय के लिये ही है।

जिणम्मि भत्ति च पहेऽणुरत्ति,
आणं वहंतोऽप्पणि चेव देवं ।

छित्तुं कसायं सुगुरुं वरेइ,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥७६॥

(भव्य) कषाय का क्षय करने के लिये जिनदेव में भक्ति, जिन-प्रज्ञप्त मार्ग में अनुरक्ति, अपने आत्मा में देव को (देखता हुआ) और आज्ञा को वहन करता हुआ सद्गुरु (के चरण-शरण) को वरण करता है। इसलिये मुनि जल्दी मोक्ष को प्राप्त करता है।

टिप्पण—१. जिनदेव की भक्ति ही जिनत्व (=कषाय से मुक्त शुद्ध चैतन्य) की उपलब्धि के लिये ही करणीय है। जिनत्व के लक्ष्य से कषाय दुर्बल होने लगते हैं, जिनदेव की भक्ति से वश में और अपने में जिनदेव के दर्शन से क्षीण होने लगती हैं। २. मोक्ष की रुचि होने पर ही जिन प्रज्ञप्त मार्ग पर अनुरक्ति होती है। मोक्ष की रुचि संवेग है और मार्ग-अनुरक्ति अनुत्तर धर्मश्रद्धा। ३. कषायों के क्षय का लक्ष्य भव-अरुचि रूप निर्वेद से ही संभव होता है। ४. जिनाज्ञा का पालन गुरुदेव के चरण-शरण को स्वीकार करने से सुगमता से होता है

और आत्मा में जिनत्व के दर्शन से कषायों के क्षय करने में दृष्टि बराबर जमती है। ५. स्वच्छन्दता का निरोध कषाय-क्षय में प्रधान हेतु है और वह होता है—गुरुदेव के चरणशरण और जिन-आज्ञा के वहन से।

चलिया

जिच्चा सव्वकसाए, णिय-चेयण्णेपइट्ठिया पहुणो !

तुम्हाण समक्खं हं, कसायंविगलो कहेमि कहं ॥७७॥

सभी कषायों को जीतकर निज चैतन्य में प्रतिष्ठित हे प्रभुओ !
कषायों से विकल बना हुआ मैं आपके समक्ष (आत्म-) कथा कहता हूँ ।

टिप्पण—१. अपनी हीनता की कहानी हीन के समक्ष कहने में कोई लाभ नहीं । उच्च समर्थ व्यक्ति के समक्ष कहने से न तो उपहास का भय रहता है और न असहायता का । २. एक भी समर्थ और श्रेष्ठ व्यक्ति के सामने दुखड़ा कहने से उस दुःख के दूर होने में देर नहीं लगती । ३. आप शुद्ध चैतन्य के स्वामी अनन्त प्रभु हैं । अतः मैं सभी प्रभुओं को संबोधन कर रहा हूँ । ४. आप सर्वज्ञ हैं—सर्व-दृष्टा हैं । आपसे मेरे दुःख छिपे हुए नहीं हैं । किन्तु आपके समक्ष मेरे दुःखों का कथन मेरे हित के लिये है । ५. मेरे दुःख को जानकर भी आप द्रवित नहीं होते हैं तो सुनकर भी द्रवित नहीं होंगे—यह मैं जानता हूँ और मैं स्वयं भी आपको द्रवित करना नहीं चाहता हूँ । ६. एक जानकार के सामने भी अपनी कर्मकथा कहने में लज्जा का अनुभव करता है, मानव । परन्तु आप अनन्त प्रभुओं के समक्ष निर्लज्ज बनकर कर्मकथा कहने के लिये तत्पर हुआ हूँ । इसका भी कारण है, क्योंकि उनसे छुटकारा पाने के लिये एक उपाय है—आपके समक्ष उनका निवेदन ।

अव्वत्त-कसाएणं अणाइ-सहय-मल-लित्त-चेयणो ।

सुत्तो भव-जलहीए, णिगोय-मज्जे तुया दिट्ठो ॥७८॥

(हे भगवन् !) आपके द्वारा अव्यक्त कषाय से अनादि सहज-मल से लिप्त चैतन्यवाला (मैं) भवसागर में निगोद के बीच सोया हुआ देखा गया ।

टिप्पण—१. निगोद=अनन्तकायिक जीवों का वास स्थान ॥ अनन्तकायिक=एक शरीर में अनन्त जीव हों, ऐसे जीवों की राशि ॥ निगोद के दो भेद सूक्ष्म और बादर । बादरनिगोद जमीकंद आदि । सूक्ष्मनिगोद सारे लोक में ठसाठस भरी हुई हैं । उनमें एक बहुत बड़ी जीवराशि ऐसी है, जिन्होंने अनादिकाल से अभीतक एक भी बादर=स्थूल शरीरी का भव नहीं पाया है । ऐसे जीव-समूह को अव्यवहार-राशि कहते हैं और जिस जीव समूह ने एक बार भी बादर भव प्राप्त कर लिया है ऐसे जीवों को व्यवहार राशि कहते हैं । यहाँ निगोद से अव्यवहार राशि से प्रयोजन है । २. व्यवहार राशि के सभी जीव अव्यवहार राशि से निकलकर आते हैं । अव्यवहार राशि जीवों का मातृस्थान है । मातृस्थान=अनादि से अभीतक लम्बे समय तक रहने का स्थान । ३. जीवों के छह निकाय में वनस्पतिकाय में ही अनन्त-कायिक जीव हैं । अतः निगोद वनस्पतिकायिक जीवों का ही एक उपभेद है । ४. सभी जीव के सदृश मैं भी अव्यवहार राशि में था और वहीं आपने अपने ज्ञान से मुझे देखा । क्योंकि निगोद के जीव सर्वज्ञ के ही ज्ञान-गम्य हैं । अनन्त जीवों की, एक शरीर में एक शारिररूप में, भिन्न-भिन्न सत्ता सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही जान-देख सकते हैं । ५. खान में धातुओं के साथ लगा हुआ विजातीय द्रव्य सहज होता है, वैसे ही अव्यवहार राशि में जीव के साथ अनादि से सहज=जब से जीव है तब से उसके साथ निष्पन्न कर्ममल है । कर्म का बन्ध बिना कषाय नहीं हो सकता है । अतः अव्यक्त कषाय अनादि से जीव में है । अव्यक्तकषाय से तथारूप कर्मदल से चैतन्य लिप्त होता है और कर्म भोगते हुए पुनः अव्यक्त कषाय उदय में होता है तथा पुनः उसके अनुरूप कर्मदल का बन्ध होता है । ६. उस समय निगोद ही जीवों

के लिये अपार भवसागर रहा और वहीं जीव भव-भ्रमण करता रहा । मैं भी उन्हीं में एक था । ७. जीव वहाँ अत्यन्त अव्यक्त चेतनावाला था । साधारण जन तो उन जीवों का अस्तित्व ही नहीं जान सकता । अतः उनकी अव्यक्त चेतना की कल्पना करना भी शक्य नहीं है । अनन्त गाढ़ निद्रा में जीव जन्म-मरण करता रहता है । ऐसी ही गाढ़ निद्रा में उन प्रभुओं ने मुझे भी अत्यन्त सुप्त अवस्था में उस भवसागर में गोते लगाते हुए देखा । ८. वह आपका मुझे देखना आपके लिये तो कोई प्रयोजन भूत था नहीं, किन्तु मेरे लिये भी कुछ सार्थक नहीं था । आज मेरे लिये वह सार्थक हो रहा है कि जब मैं स्वयं ही जड़वत् बेभान था और किसी की दृष्टि में भी मेरा अस्तित्व नहीं था । किन्तु मात्र आपकी दृष्टि में मैं जीव ही था—दयापात्र था । यह बात आज मेरे अन्तरतम में पुलक भर देती है ।

जन्म-मरण-बोलीणो, जडो व हं दुक्खिओ महन्नाणी ।

तं वेयणं न जाणे, सक्खं तुम्हेहि दिट्ठं पडु ! ॥७९॥

हे प्रभु ! जन्ममरण (के सागर) में डुबा हुआ जड़ सदृश मैं महा अज्ञानी दुःखी था । उस वेदना को मैं नहीं जानता हूँ किन्तु आपने साक्षात् रूप से (उस वेदना) को देखा है अर्थात् जैसे आप मेरे अस्तित्व के साक्षी हैं, वैसे ही मेरी उस अनन्त वेदना और उसके कारण के साक्षी या साक्षात् दृष्टा आप ही हैं ।

वत्त-कसाएणं पुण, चऊगईसुं वहिसु परमदुहं ।

जाणंतो विचइत्तुं, विवेगहीणो ण सक्को मि ॥८०॥

और फिर (व्यवहार राशि में प्रविष्ट होने पर) व्यक्त कषाय से चारों गतियों में परम दुःख का वहन किया । (कषाय से जनित दुःखों) को जानता हुआ भी (उसे) त्यागने में मैं विवेकहीन समर्थ नहीं हूँ ।

टिप्पण—१. कर्मदल के अल्प होने पर जीव व्यवहार राशि में आने में समर्थ होता है। २. दैहिक स्थूलता के साथ ही कषाय भी व्यक्त स्वरूप में आता है। जैसे दबा हुआ रोग देह में चेतना आने पर व्यथित करता हुआ व्यक्त होता है। ३. चारों गति में परिभ्रमण व्यवहार राशि में ही होता है। ४. व्यक्तकषाय में तीव्रता-मंदता परिलक्षित होती है। अतः तीव्र कषाय से दुर्गति का और मंदकषाय से सुगति का बन्ध होता है। ५. देवगति में प्रबल पुण्य उदय होता है। किन्तु वहाँ भी ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारणों से दुःख का भी वेदन करता है और जन्म-मरण के दुःख तो हैं ही। ६. 'कषायों से दुःख ही होता है,—यह निर्णय हृदय में जल्दी व्यक्त नहीं होता है। ज्ञानी के वचनों से जानता है कि कषाय दुःखद है। किन्तु हृदय में दृढ़ निर्णय प्रकट नहीं होता है। अतः जीव जानता हुआ भी विवेक-विकल है। ७. अविवेकी जीव कषायों को नष्ट करने का लक्ष्य ही नहीं बना सकता। यदि कदाचित् लक्ष्य बना भी लेता है तो उसकी निरन्तर स्मृति नहीं रहती। कदाचित् स्मृति बनी रहती है तो मंदवीर्य के कारण कषायों का क्षय नहीं कर पाता है।

णाह ! जइत्ता ते तं, अप्पविहववं जिणेशरो जाओ ।

मं पट्ठ ! तुया विणा को, तेहिंतो मोयए देव ! ॥८१॥

हे नाथ ! उनको जीतकर तू आत्म-वैभववान् जिनेश्वरदेव हो गया।
अतः हे प्रभो ! हे देव ! तेरे बिना उनसे मुझे कौन छुड़ा सकता है।

टिप्पण—१. कषायाधीन मैं 'कोई कषायों को क्षय कर सकता है'—यह मान नहीं पाता हूँ। किन्तु आपकी ओर दृष्टि करता हूँ तो 'कषाय से मुक्ति' पर विश्वास होता है। २. कषायाधीन जीव अनाथ है और अकषायी जीव नाथ है। ३. कषाय से आत्म-ऐश्वर्य दबा रहता है। अकषायी जीव का आत्म-ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है—यह बात आपके

स्वरूप को जान लेने पर ही प्रामाणिक लगती है । ४. आत्म-ऐश्वर्यवाला जीव ही प्रभु और वास्तविक देव है । ५. नाथ, प्रभु और देव ही अन्य जनों के कषायक्षय में सहायक बन सकते हैं ।

एसि न तं-तव शरणं, एव बलं इह भवम्मि इक्कं चिय ।

अप्पेमि णियं-पाए, गहेमि तो होइ सयल सुहं ॥८२॥

(हे प्रभो !) तू नहीं आता है । तेरा शरण ही इस भव में (मेरे लिये) एक मात्र बल है । (आपके चरणों में) अपने को समर्पण करूँ—पैरों को ग्रहण करूँ—तो (मुझे) सकल सुख है ।

टिप्पण—१. वीतराग वीतराग हैं । वे किसी के लिये कुछ नहीं करते हैं और न किसी की प्रार्थना पर द्रवित होते हैं । फिर भी उनके शरण से बढ़कर किसी सरागी का शरण नहीं है । २. अहंकार-विसर्जन और आत्म-समर्पण से ही शरण-ग्रहण होता है । ३. वीतराग-शरण ही परम बल है । ४. शरणागति से परम सुख की प्राप्ति होती है ।

ण कसाय-वसे होहिमि, गय-सव्व-कसाय ! नाह ! समसायर !

तुम्हाण पसाएणं, णिम्मोही णियबलो होमि ॥८३॥

है समस्त कषाय से अतीत ! हे नाथ ! हे समतासागर ! मैं कषाय के वशीभूत नहीं होऊँ । तुम्हारे प्रसाद से मैं आत्मबली निर्मोही हो जाऊँ ।

टिप्पण—१. अन्य का शरण जीव को दास बनाता है । किन्तु वीतराग का शरण जीव को स्वाधीन बनाता है । २. रागी का शरण रागी बनाता है । वीतराग का शरण कषायों के वशीभूत नहीं होने देता है । ३. वीतराग के स्मरण से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है, जिससे आत्मबल का विकास होता है । ४. जीव आत्मबल से कषायों को क्षय करके निर्मोही बनता है । ५.

कहीं प्रभु के लिये एकवचन तो कहीं बहुवचन का प्रयोग समर्पण भाव के प्रवाह में हुआ है।

सोयंतु भो कसाया ! तुह लीलं संहरन्तु धुत्तत्तं ।

गच्छंतु अज्ज जाओ, जिणभत्तोऽहं सुभत्तिभरो ॥८४॥

हे कषायो ! सुनो ! अपनी लीला और धूर्तता संहरण करो । जाओ, आज मैं उत्तम भक्ति से भरपूर जिनभक्त हो गया हूँ ।

टिप्पण—१. जिनदेव के अस्तित्व को मानने का आशय चैतन्य की परमशुद्धि की स्वीकृति है । २. जिनदेव में आस्था होना-कषायजय में आस्था होना है । ३. कषायों की मंदता के बिना जिनदेव के प्रति अभिमुखता ही नहीं हो सकती । ४. जिनदेव के प्रति अभिमुखताके बिना जिनत्व की पहचान नहीं हो सकती । ५. जिनत्व की पहचान होने पर ही वास्तविक परमात्मस्वरूप की पहचान होती है और जिनत्व में आस्था जमती है । ६. जिनत्व में आस्था होने पर कषायों से होनेवाले अनर्थों पर आस्था होती है और कषायों की पूर्णतः हेयता पर भी । ७. जिनत्व में आस्थावान् जिनदेव का परमभक्त बन जाता है । अतः वह जिनदेव के चरण की उपासना से परमशक्ति का उपार्जन कर लेता है । और वह निर्भय होकर कषायों को ललकार सकता है । ८. आत्मा जिस दिन से जिनदेव का परम आस्थावान् होता है, उसी दिन से कषायों को यह सूचना मिल जाती है कि अब यह आत्मा हमारी प्रजा बनकर रहनेवाला नहीं है । किन्तु वे उसे इतने सहज में छोड़ना नहीं चाहते हैं । अतः उनकी लीला और धूर्तता चलती रहती है । ९. जिनभक्त जब पूर्णतः जिनभक्ति में—जिनाज्ञा के पालन में लीन होता है तब कषायों का बल टूट जाता है ।

हमारे प्रकाशन

(१) आवश्यक सूत्र (श्रावक) आ. पु. मा. पुष्प १	मूल्य १) ५०
(२) विनय-आराधना (तृतीय आवृत्ति) आ. पु. मा. पुष्प २	मूल्य ३) ००
(३) उठो ! बढ़ो ! (प्रवचन) आ. पु. मा. पुष्प ३	मूल्य ८) ००
(द्वितीय संस्करण)	
(४) आवश्यक सूत्र (सार्थ) आ. पु. मा. पुष्प ४	मूल्य ३) ००
(५) लग्न की बेला (बोधि-ग्रन्थमाला प्रथम मणि)	(अप्राप्य)
(६) णमोक्कार अणुपेहा आ. पु. मा. पुष्प ५	मूल्य ५) ००
(७) साधु आया (बोधि ग्रन्थमाला द्वितीय मणि)	मूल्य ३) ००
(८) मोक्ख-पुरिसत्थो भाग २ (बोधि ग्रन्थ. तृतीय मणि)	मूल्य ६) ००
(९) मोक्ख-पुरिसत्थो भाग ३ (बोधि ग्रन्थमाला चतुर्थ मणि)	मूल्य ६) ००

अन्य प्रकाशन

(१) श्रीमद् जंगमयुगप्रधान जैनाचार्य पूज्यश्री धर्मदासजी म. सा. और उनकी मालव शिष्य परम्पराएँ— लेखक प्रवर्तक श्री उमेशमुनिजी म. सा.	मूल्य ७) ००
(२) मोक्ख-पुरिसत्थो भाग १ पं. रत्न श्री उमेशमुनिजी म. सा.	२) ००

प्राप्ति स्थान

नगोनलाल झामर मंत्री	आर. एम. रून्वाल अध्यक्ष
पू. श्री नन्दाचार्य साहित्य समिति मेघनगर जिला : झाबुआ (म. प्र.) पिन-४५७७७९	जी/९९, एम. आय. जी. कॉलोनी रविशंकर शुक्ल नगर इन्दौर-४५२००८

जीवन का दिव्य आनन्द (भाग-१) मूल्य १०)

प्रवचनकार—प्रियवक्ता श्री विनयचन्द्रजी म. सा.

प्राप्ति स्थल

शांतिलाल रून्वाल ९, रून्वाल बाजार झाबुआ (म. प्र.) ४५७६६१	जैन ब्रदर्स १८५, चौमुखी पुल, रतलाम (म. प्र.) ४५७००१